युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि का जैन धर्म एवं साहित्य में योगदान

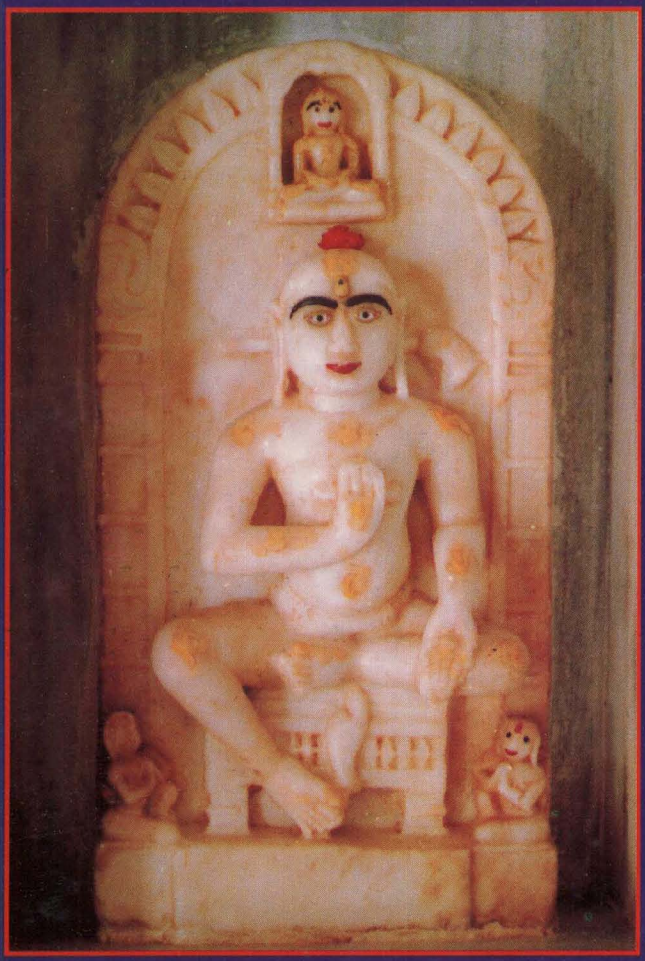

डॉ. स्मितप्रज्ञाश्री
एम.ए., पीएच.डी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि का जैन धर्म एवं साहित्य में योगदान

डॉ. स्मितप्रज्ञाश्री

एम.ए., पीएच.डी.

विचक्षण स्मृति प्रकाशन

अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा पीएच.डी. पदवी के लिए स्वीकृत महानिबंध

प्रेरिका : प. पू. स्व. प्रवर्तिनी जैन-कोकिला श्री विचक्षणश्रीजी म. सा. की सुशिष्या शासनज्योति - शासन-उत्कर्षिणी शतावधानी प. पू. श्री मनोहरश्रीजी म.सा. एवं विदुषीवर्या प.पू.श्री मुक्तिप्रभाश्रीजी म.सा.

अर्थसौजन्य : **"विचक्षण अभय स्मृति ट्रस्ट"** श्रीमान् किरनचंदजी, सुपुत्र जगदीश जी, अनिल जी, पौत्र अजय,अक्षय, अश्विन, अनुप - लुनिया परिवार, जोधपुर (राज.)

प्रथम संस्करण : १९९९

मूल्य : रू. १५०-००

प्राप्तिस्थान : **विचक्षण स्मृति प्रकाशन**, खरतरगच्छ ट्रस्ट, दादासाहेब पगला, नवरंगपुरा, अहमदाबाद-३८० ००९.

मुद्रण व्यवस्था : **मयंक शाह, रमणीय ग्राफीक्स,** ४४/४५१, ग्रीनपार्क एपार्टमेन्ट्स, सोला रोड, नारणपुरा, अहमदाबाद-३८० ०६३. (फोन-७४५१६०३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स.....म.....र्प.....ण

प. पू. प्रातः स्मरणीय, परम श्रद्धेय,

मम जीवन उद्धारिका, मातृहृदया,

शासनज्योति, शासनउत्कर्षिणी, शतावधानी,

गुरुवर्या श्री मनोहरश्रीजी म.सा. को

-जिनकी सतत प्रेरणा से यह ग्रंथ संपूर्ण हुआ -

उनके चरणकमलों में सविनय

सविधि कोटी कोटी वंदन सह

- श्री मनोहरचरणरज
स्मितप्रज्ञाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

''स्वान्तःसुखाय परजनहिताय'' इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर साध्वी श्री स्मितप्रज्ञा श्री जी ने जनमानस को आत्मोन्मुख बनाने के लिए ''युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि का जैन धर्म एवम् साहित्य में योगदान'' इस विषय पर शोध कार्य किया है। दादा श्री जिनदत्तसूरि जी का साहित्य आज दिन तक प्रकाश में नहीं आया इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए साध्वी जी ने जिनदत्तसूरि जी के साहित्य के ऊपर पीएच.डी. करने का विषय चुना।

साहित्य दर्पण का कार्य करता है। जिस प्रकार दर्पण मुखाकृति पर लगे हुए दागों का निरीक्षण करता है ठीक उसी प्रकार साहित्य भी जन-मानस को सही दिग्दर्शन कराने में सक्षम है। भौतिकता की चकाचौंध से भ्रमित पथिकों को आत्म विकास का मार्ग दिखाता है। साध्वी जी ने कठिन परिश्रम करके प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को सम्पूर्ण कर जिनशासन का गौरव बढ़ाया है।

विषय का तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन करने के लिए लक्ष्य निर्धारित आवश्यक है। इसी हेतु साध्वी जी ने पीएच.डी. करने का निर्णय किया। अध्ययनशील रहने में कठिनाइयों का सामना करना पडता है। इसमें भी श्रमण पर्याय तो संघर्षों से परिपूर्ण है। इसके बावजूद भी अथक् प्रयास करके इन्होने साहित्य सेवा का यह बहुत ही सराहनीय कार्य किया है।

अन्तःकरण से यही मंगल आशीर्वाद देते हैं कि भविष्य में इसी प्रकार संयम साधना के साथ-साथ साहित्य साधना चलती रहे।

अहमदाबाद
२२-४-१९९९

विचक्षण पदरेणू
मनोहर श्री
मुक्तिप्रभा श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर अनुमोदना का

साध्वी स्मितप्रज्ञाश्रीजी के पीएच. डी. महानिबंध 'युगप्रधान आ. श्री जिनदत्तसूरि का जैन धर्म एवं साहित्य में योगदान' पुस्तक रूप में प्रकाशन मेरे लिए आनन्द और गौरव की बात है।

साध्वी स्मितप्रज्ञाश्रीजी श्वे. मूर्तिपूजक खरतरगच्छ की परंपरा में पू. आदरणीय विदुषी साध्वी श्री मनोहरश्री जी म.सा.की शिष्या है। आपश्री की प्रेरणा से साध्वी स्मितप्रज्ञाश्रीजी ने पीएच.डी. करने के लिए खरतरगच्छ के महाप्रभावक युगप्रधान आचार्य दादासाहब जिनदत्तसूरिजी के जीवन और साहित्य का विषय चुना। दादा साहब के प्रति भक्तिभाव और अनवरत स्वाध्याय की साध्वीजी की तैयारी देख कर मैंने मार्गदर्शन के लिए स्वीकृति दी। मुझे संतोष है कि साध्वीजी ने अपना कार्य पूरी निष्ठा से संपन्न किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आ. हेमचन्द्रसूरिजी के समकालीन आ. जिनदत्तसूरिजी प्रचण्ड प्रतिभा के धनी आचार्य थे। बारहवीं सदी में समग्र पश्चिम भारत में जैन धर्म में व्याप्त चैत्यवास के दूषण के विरुद्ध आपने प्रचण्ड आन्दोलन सा छेडा था और अपने तपोबल से सुविहित साध्वाचार को पुनः प्रतिष्ठित किया था। आपने हजारों की संख्या में नये श्रावक बनाकर जैन धर्म को नवजीवन बक्षा था। संस्कृत-प्राकृत के महान विद्वान होने पर भी सामान्य जनों के उपदेश के लिए आपने अनेक ग्रंथो की रचना अपभ्रंश में की थी। ऐसे दादासाहब के जीवन और साहित्य के बारे में आज तक कई छोटी मोटी कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी है किन्तु समकालीन परिस्थितियों के आलोक में उनके समग्र जीवनकार्य का वृत्तांत और समस्त कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन बाकी ही था। साध्वी स्मितप्रज्ञाश्रीजी ने यह कार्य सुचारु ढंग से संपन्न किया है।

महानिबंध स्पष्ट रूप से दो भाग में बट जाता है - प्रथम तीन प्रकरणों में समकालीन देशस्थिति, चैत्यवासरूप शिथिलाचार का संक्षिप्त इतिहास, चैत्यवास के विरुद्ध खरतरगच्छ का उद्भव और दादासाहब की गुरुपरंपरा का संक्षिप्त इतिहास तथा उनका जीवनचरित्र दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद में दादासाहब की संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश कृतियों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्यश्री की अनेक लघु कृतियों का पुनः संशोधन और अनुवाद करके साध्वीजी ने परिशिष्ट में बहुमूल्य सामग्री दी है।

इस तरह जैन धर्म के एक प्रभावक आचार्य के जीवन और साहित्य का यहाँ वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन प्रस्तुत है, जो जैन धर्म और साहित्य के अभ्यासियों को उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं साध्वीश्री स्मितप्रज्ञाश्रीजी के इस प्रयास की अनुमोदना करता हूँ और उनका ज्ञानयज्ञ भविष्य में भी अनवरत चलता रहे ऐसी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

१-५-१९९९

-र. म. शाह
निर्देशक
(भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राकृत-पालि विभाग,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व-कथ्य

भारत एक धर्मप्रधान देश है। विश्व के प्राचीन धर्म हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म भारत में पनपे हैं। इतना ही नहीं भारत में विविध धर्मों के होने पर भी वह एक है। यह वही देश है जहाँ संसार के सभी धर्मों को सम्मान सत्कार मिलता है।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी से प्रारम्भ होकर आज तक अक्षुण्ण रूप से हो रहा है। समयांतर से उसमें कुछ उपविभाग हुए। उन उपविभागों में से खरतरगच्छ संप्रदाय का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। इसी खरतगच्छ में बारहवीं शताब्दी में युगप्रधान आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी हुए। आपश्री "दादासाहब" के उपनाम से भी जाने जाते हैं। दादासाहब ने लोककल्याणार्थ एवं जैन धर्म प्रचार-प्रसारार्थ जो साहित्यिक एवं सामाजिक कार्य किया है वह अविस्मरणीय है। श्री जिनदत्तसूरिजी जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों में भीष्म पितामह की तरह महान् प्रभावशाली है।

मैं जैन धर्म में खरतरगच्छ की साध्वी हूँ और दादा जिनदत्तसूरिजी के साहित्य का अध्ययन करने के बाद जब प्राकृत विषय में पीएच.डी. करने का निश्चय किया तो दादासाहब की प्रसिद्ध प्राकृत-अपभ्रंश कृतियाँ सामने आई। वैसे दादासाहब के जीवन पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चलायी है, किन्तु उनकी कृतियों के बारे में किसी ने तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है। अतः मैंने दादासाहब के जीवन एवं उनकी सभी कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन-विषय पर पीएच.डी. करने का निश्चय किया। उनके साहित्य का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि उनके समय के भारतीय समाज एवं खास करके जैनसमाज का अध्ययन भी किया जाय। जैनसमाज में उस समय प्रवर्तमान चैत्यवास आदि धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों का जोर था। दादासाहब ने धर्म का सच्चा स्वरूप सामान्यजनों को समझाने के लिए संस्कृत, प्राकृत एवं अपने समय की सरल अपभ्रंश भाषा में विपुल उपदेशात्मक कृतियों की रचना की। यह दिखाने के लिए उनके जीवन-चरित्र का भी आलेखन यहां मैंने किया। यहाँ दादासाहब के जीवन चरित्र का सूक्ष्म रूप में दिग्दर्शन किया गया है। मुख्य क्षेत्र तो उनके साहित्यिक योगदान का निरूपण ही है।

युगप्रधान आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी द्वारा रचित प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषाओं की अन्तस्तल में पड़ी हुई सामग्री का प्रस्फुटन करना एवं दादाजी के लोकोपकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं जनकल्याण की भावना को समाज एवं सम्प्रदाय के सन्मुख रखना ही मेरा कार्यक्षेत्र है।

विषय-वस्तु :

प्रस्तुत महानिबन्ध को कुल पांच प्रकरणों में विभाजित किया गया है। प्रथम प्रकरण में बारहवीं शताब्दी में प्रचार एवं प्रसार युक्त जैन सम्प्रदाय की संक्षिप्त पूर्व भूमिका है। उस समय की राजनैतिक स्थितियों को भी ध्यान में रखा गया है क्योंकि धर्म का प्रचार एवं प्रसार अर्थाभाव एवं राजाओं की सहायता के अभाव से सम्भव नहीं हो पाता।

धर्म समाज के लोगों के द्वारा ही विकास को प्राप्त होता है। और वह तभी सम्भव है जब देश की सामाजिक स्थिति सुदृढ़ हो। सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति का प्रभाव कला एवं साहित्य पर पड़ता है। जब ये समस्त बातें एकत्र होती है तो ही किसी देश की अथवा किसी धर्म की स्थिति पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। इस लिए इन सभी बातों का निरूपण प्रथम-प्रकरण में किया गया है।

द्वितीय प्रकरण में तत्कालीन जैन धर्म के सम्प्रदायों में चैत्यवास प्रथा के कारण बहुत सी बुराइयों का आगमन हो चुका था-जिसे युगप्रधानों एवं आचार्यों के द्वारा भी प्रश्रय मिलता था। उसके निवारण के लिए दादाजी के अथग प्रयत्नों का वर्णन भी इसमें किया गया है। इसी द्वितीय प्रकरण में वर्धमानसूरिजी से लेकर जिनवल्लभसूरिजी तक की गुरु-परम्परा का भी निरूपण अच्छी तरह किया गया है।

तृतीय प्रकरण में युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी के जीवन चरित्र की सुंदर झांकी का चित्रण किया गया है। जिसमें जन्म, दीक्षा, उनके तीव्र मस्तिष्क एवं बुद्धिमत्ता, आचार्य पद प्राप्ति, विहार क्षेत्र एवं उस काल के चमत्कारों, सामाजिक कार्य, शिष्य परम्परा, निर्वाण प्राप्ति और वर्तमान समय तक की प्रतिष्ठा का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ प्रकरण में आचार्यश्री द्वारा रचित साहित्य का विस्तृत परिचय दिया गया है। (अ) में संस्कृत कृतियों को संकलित किया गया है। इन संस्कृत कृतियों के द्वारा विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की गई है। जिनके नाम अजित-शांति स्तुति, चक्रेश्वरी स्तुति, योगिनी स्तोत्र, सर्व जिन-स्तुति तथा वीर स्तुति है। इन स्तुतियों के द्वारा धर्म के समुन्नयन एवं श्रावकों के कल्याण की बात की गई है। आचार्यश्री की कुछ प्रकीर्णक रचनाएं भी है। जिनके नाम क्रमशः विंशिका, पदव्यवस्था, शान्तिपर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधि और आरात्रिक वृत्तानि है। (ब) में प्राकृत कृतियों का संकलन है। इन कृतियों में गणधर सार्द्धशतक, गणधर सप्ततिका एवं छोटे स्तोत्र आदि कई छोटी-मोटी कृतियाँ है। ''गणधर सार्द्धशतक'' १५० गाथाओं में गुम्फित है। जिसमें इन्होने भगवान महावीर के शिष्य गणधर गौतम से लेकर अपने गच्छाधिपति गुरु जिनवल्लभसूरि तक के आचार्यों की स्तुति की है। गणधर सार्द्धशतक का मुख्य प्रयोजन धर्म, गुरु और तीर्थंकरो के प्रति भावयुक्त श्रद्धाञ्जली अर्पित करना ही प्रतीत होता है। गणधर सार्द्धशतक खरतरगच्छ के इतिहास और इस तरह समग्र जैन धर्म के इतिहास में उपयोगी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ''सुगुरुगुणसंथव सत्तरिया'' (गणधर सप्ततिका)में गणधरों की स्तुति की गई है। महान् पुरुषों के प्रति आचार्य जिनदत्तसूरिजी के हृदय मे अपार आदर और श्रद्धाभाव था इसका यहां प्रदर्शन है।

''सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र''में गणधरों, देवताओं, षोडशविद्यादेवियाँ, चक्रेश्वरी, वैरोट्या आदि २४ शासन देवियाँ, दश दिक्पाल, क्षेत्रपाल, नक्षत्र आदि से प्रार्थना की गयी है। ''सुगुरु स्तोत्र''को ''मयरहियं''स्तोत्र भी कहा जाता है। इसमें सुगुरु पारतन्त्र अर्थात् सद्गुरु की आज्ञा का पालन ही सच्चा धर्म है इस बात का उपदेश दिया गया है।

''विघ्नविनाशी स्तोत्र''में संघ के विघ्नविनाश तथा मंगलप्राप्ति के लिए और सम्प्रदाय की सुरक्षा के लिए प्रार्थना की गयी है। अन्त में श्री वर्धमान सूरि, श्री जिनचन्द्रसूरि, श्री अभयदेवसूरि तथा श्री जिनवल्लभसूरि से तीर्थ की वृद्धि के लिए प्रार्थना की गयी है।

बाद में ''श्रुतस्तव''ग्रंथ में शास्त्रों का निरूपण तथा जैनशास्त्र के मूलभूत आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंग, द्वादश उपांगों, पूर्व तथा पश्चात् लिखित रचनाओं तथा अन्य सूरियों द्वारा लिखे गये ग्रंथों के उल्लेख है।

''पार्श्वनाथ मन्त्र गर्भित स्तोत्र''के विषय में निर्देश दिया गया है कि शायद ही यह रचना आचार्यश्री की होनी चाहिए।

''महाप्रभावक स्तोत्र''में ग्रंथकार के द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्वर और विघ्नों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। अन्त में जिनसिद्धान्तों को मानने वाले विधि संघ के आरोग्य सौभाग्य और अपवर्ग की भी प्रार्थना की गई है।

''चैत्यवंदन कुलक''में सर्वप्रथम तीन प्रकार के वासक्षेपों का विवेचन किया गया है। वासक्षेप पश्चात् इसमें विधि चैत्य, निश्राकृत चैत्य तथा अनायतन चैत्य भेदों का वर्णन किया गया है। तथा श्रावक-श्राविकाओं के दैनिक-कर्तव्य, सम्यक्त्व का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप, खाद्य-अखाद्य बावीस प्रकार के अभक्ष्य आदि विषयों का संवेदात्मक उल्लेख किया गया है।

''संदेह दोलावली'' ग्रंथ में सद्गुरुओं का वर्णन, एवं तत्कालिन गृहस्थों को सुगुरुजनों के प्रति किस प्रकार व्यवहार करना आदि विषयों का निरूपण किया गया है। संदेह दोलावली ग्रंथ के नामकरण से ही ज्ञात होता है कि इस कृति के अन्तर्गत सम्यक्त्वमूलक प्रेषित प्रश्नों के उत्तर में आचार्य जिनदत्त सूरिजी ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। ''उपदेश कुलक'' में जैन सिद्धान्त के मूलभूत अंगों में युगप्रधान के स्वरूप का निरूपण किया गया है। ''उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक'' में यह बताया गया है कि जिनालय में चैत्यवासियों का निवास अनुचित है। चैत्यवास में होती आशातनाओं का वर्णन और पूजाविधि किस प्रकार की जाय आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

चतुर्थ प्रकरण (क)में अपभ्रंश रचनाओं को लिया गया है, उसमें सर्वप्रथम ''चर्चरी ग्रंथ''का विश्लेषण किया गया है। चर्चरी क्या है यह समजाया गया है। चर्चरी में युगप्रधान आचार्य श्री जिनवल्लभसूरिजी की स्तुति की गई है। पुनः अनाचारी चैत्यवासियों के अविधिमार्ग का उच्छेद कर वसतिवसहि की स्थापना का विस्तृत उल्लेख किया गया है। अन्त में यहाँ तक लिखा गया है कि जिस अनायतन चैत्य में लिङ्गी निवास करते है वहाँ श्रावक-श्राविका और वसतिवास करने वाले साधुओं को नहीं जाना चाहिए। दूसरी कृति ''उपदेश रसायन रास'' है, जिसमें रास की परिभाषाओं के साथ उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उपदेश रसायन रास के अन्तर्गत मनुष्य जीवन की सार्थकता पूर्ण करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपदेश दिये गये है। साथ में यह भी बताया गया है कि दुर्लभ मानव जीवन पाकर उसे व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। सुगुरु एवं कुगुरु का वर्णन दृष्टान्त के साथ किया गया है। इसके अलावा धार्मिकों के आचार-विचार, युगप्रधान आचार्यों का वर्णन किया गया है। अन्त में उत्तम श्रावकों के धर्म को लेकर श्रावक के जीवन एवं परलोक सुधारने की चर्चा की गई है।

''कालस्वरूप कुलक''में ग्रह की स्थिति पर प्रकाश डालकर एवं सुगुरु और कुगुरु का वर्णन, उनकी पहचान तथा श्रावकों के लिए हितोपदेश आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

अन्तिम पञ्चम प्रकरण उपसंहार में दादाश्री जिनदत्तसूरिजी के समग्र जीवन और कृतियों में दिखाई दे रही उनकी प्रचण्ड प्रतिभा का उद्घाटन करते हुए समग्र भारतीय और विशेष करके जैन साहित्य में उनके योगदान के प्रति ध्यान आकर्षिक किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उपसंहार में शोधप्रबन्ध से निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट में प्रकाशित व अप्रकाशित संस्कृत व प्राकृत कृतियाँ का अनुवाद दिया गया है। अन्त में संदर्भ ग्रंथ सूचि (तालिका)में उन प्रमुख ग्रंथों की तालिका दी गयी है, जिनका उपयोग शोध प्रबन्ध की तैयारी में विशेष रूप से किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की गुरुवर्या श्री प्रेरिका है, अतः मैं सर्वप्रथम अपनी प्रेरणादात्री, उदारचेता, वात्सल्यमूर्ति, शतावधानी, शासनज्योति, शासनउत्कर्षिणी प. पू. आदरणीया गुरुवर्याश्री मनोहरश्रीजी म.सा. का आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी प्रेरणा तथा आशीर्वाद मुझे इस कार्य में हर पल प्रोत्साहित करता रहा। उनका ऋण मैं जन्मजन्मान्तर तक नहीं भूल सकती।

मैं कृतज्ञ हूँ प. पू. विदुषीवर्याश्री मुक्तिप्रभाश्रीजी म.सा. की जिनका साद्यान्त आशीर्वाद मिलता रहा।

जिनके सहयोग ने मेरे मनोबल को मजबूत किया उन ज्येष्ठ भगिनी प.पू. मधुस्मिताश्रीजी म.सा.-जिसने मेरे पुरुषार्थ को गति प्रदान की जिससे महानिबन्ध का कार्य पूर्ण हुआ, उनका मैं आभार मानती हूँ। साथ ही साथ संघस्थ गुरु भगिनियों का भी प्रेरणादायक उत्साह मिला।

प्रस्तुत शोधग्रंथ के विषय चयन से सम्पूर्ण पूर्णाहुति तक अमूल्य मार्गदर्शन देने के लिए गुजरात युनिवर्सिटी के प्राकृत-पालि विभाग के अध्यक्ष डॉ. रमणीक भाई शाह की मैं आभारी हुँ।

प्रस्तुत शोधग्रंथ में विद्वत् रत्न कलकत्ता के अनुभववृद्ध श्रीमान् भँवरलालजी नाहटा जिन्हों ने दादासाहब की कृतियों के विषय में मार्गदर्शन देने का काफी सहयोग दिया उनको भी धन्यवाद।

संस्कृत और प्राकृत ज्ञाता अमृतभाई पटेल एवं प्राचीन लिपि विशेषज्ञ लक्ष्मणभाई भोजक तथा ग्रंथपाल करसनभाई वणकर का भी सहयोग मिला। एवम् महानिबन्ध के संशोधन में लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर के ग्रंथालय से मुझे सहायता प्राप्त हुई है, इन सभी का आभार व्यक्त करती हूँ।

इस ग्रंथ को प्रकाशित करने में जोधपुर निवासी श्रीमान् किरनचंदजी सुपुत्र जगदीशजी, अनिलजी - लुनिया परिवार साधुवाद के पात्र है जिन्होने अपने "विचक्षण अभय स्मृति ट्रस्ट" द्वारा अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करके ज्ञान की आराधना में अपना द्रव्य लगाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वच्छ और त्वरित मुद्रण कार्य संपन्न करने के लिए रमणीय ग्राफीक्सवाले मयंक शाह को भी धन्यवाद।

अन्त में एकबार पुनः उन सभी महानुभावों के प्रति साधुवाद व्यक्त करती हूँ जो प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सहयोगी रहे है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ में कोई त्रुटि रही हो तो उसके लिए मिच्छामी दुक्कडम्।

-साध्वी स्मितप्रज्ञाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

प्रकरण १. आचार्य जिनदत्तसूरि के समय के पश्चिम भारत का विहंगावलोकन पृ.१ -१८

(तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति २-७, सामाजिक परिस्थिति ७-१०, साहित्यक्षेत्र १०-१३, कलाजगत१३-१६, धार्मिक परिस्थिति१६-१८)

प्रकरण २. जैन धर्म की स्थिति एवं खरतरगच्छ का उद्भव और विकास पृ.१९-४५

(चैत्यवास १९-२६, आचार्य वर्धमानसूरि २६-२७, आचार्य जिनेश्वरसूरि २७-३४, आचार्य अभयदेवसूरि ३५-४०, आचार्य जिनवल्लभसूरि ४०-४५)

प्रकरण ३. आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी का जीवनचरित्र पृ.४६-६५

(जन्म और दीक्षा ४७-४८, मुनिदीक्षा ४८-४९, आचार्यपद ४९, विहार एवं जिनधर्म का प्रचार-प्रसार ४९-५०, चैत्यवास का विरोध और विधिधर्म का प्रचार ५०-५२, जैनधर्मी श्रावकों की वृद्धि, ५३-५४, राजप्रतिबोध ५४-५६, युगप्रधानपदप्राप्ति ५६-५७, शिष्यपरंपरा ५७-५८, स्वर्गवास ५८-५९, आज तक समाज में प्रतिष्ठा ५९, गुरुदेव के चमत्कार-चित्तोड में वज्रस्तंभ-बिजली स्तंभित-पाँच पीर और ब्यावन वीरों को वस में सरना-चौंसठ योगिनियाँ इत्यादि ६०-६३, जिनदत्तसूरि के समकालीन आचार्य ६४-६५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण ४. आचार्य जिनदत्तसूरिजी की साहित्य-साधना पृ.६६-२११

आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी रचित कृतियाँ

(अ) संस्कृत कृतियाँ (पृ.६८-७८)

१) अजितशान्ति स्तोत्र
२) चक्रेश्वरी स्तोत्र
३) सर्वजिनस्तुति
४) वीरस्तुति
५) विंशिका
६) पदव्यवस्था

(ब) प्राकृत कृतियाँ (पृ. ७८-१५५)

१) गणधर सार्द्धशतक
२) सुगुरु-संथव-सत्तरिया
३) सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र
४) सुगुरु पारतन्त्र्य स्तोत्र
५) विघ्नविनाशी स्तोत्र
६) श्रुतस्तव
७) सप्रभाव स्तोत्र
८) पार्श्वनाश मंत्रगर्भित स्तोत्र
९) चैत्यवंदन कुलक
१०) संदेह दोलावली
११) उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक
१२) उपदेश कुलक
१३) शान्तिपर्व विधि
१४) वाडिकुलक
१५) आरात्रिक वृत्तानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) अपभ्रंश कृतियाँ (पृ.१५६-२११)

१) उपदेश रसायन रास
२) चर्चरी
३) कालस्वरूप कुलक

प्रकरण ५. उपसंहार **पृ.२१२-२१९**

परिशिष्ट :-आचार्य जिनदत्तसूरि विरचित अप्रकाशित कृतियाँ - संपादन एवं कतिपय अननुवादित कृतियों का अनुवाद **पृ.२२०-२५४**

संदर्भग्रंथसूचि **पृ.२५५-२६४**

*****

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण - १ आ. जिनदत्तसूरिजी के समय के पश्चिम भारत का विहंगावलोकन

गुजरात के इतिहास को हम सुख-समृद्धि और संस्कार की दृष्टि से महान कह सकें ऐसा युग है ''सोलंकी युग''।[१] इस युग में मूलराज, भीम, कर्ण, सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल जैसे एक के बाद एक साहसी, पराक्रमी और प्रजावत्सल राजाओं ने राज्य किया और गुजरात की कीर्ति में चार चाँद लगा दिए। ई. स. ९४२ से १३०४-१३१४ लगभग साढे तीन सौ वर्ष का यह समय गुजरात के इतिहास में ''स्वर्णयुग'' के नाम से प्रसिद्ध है।[२]

सोलंकी राज्य को पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल राजा थे। इन दोनों के समय विशाल राज्य का विकास हुआ।[३] इन दोनों राजाओं के समकालीन विद्वान् कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य जैसे महान प्रभावक युगसंस्थापक आचार्य हुए, जिन्होंने जैन धर्म और साहित्य की बहुत बड़ी प्रभावना की। आचार्य हेमचन्द्राचार्य के समय में ही उन्हीं के जन्मस्थान के निकट धवलक्कपुर (धोलका) में खरतरगच्छ के महान प्रभावक युगप्रधान दादा श्री जिनदत्तसूरिजी अवतीर्ण हुए। आचार्य श्री उस युग की आवश्यकता के अनुरूप उत्पन्न हुए थे और उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सफल प्रयत्न से वे युगनिर्माता बन गये।

उनके ज्ञान-सूर्य की किरणों के प्रसार से गुजरात, राजस्थान, मालवा आदि प्रांतो की संस्कृति के प्राण पुलक ऊठे थे, धरा का कण कण अध्यात्म आलोक से ज़गमगा ऊठा था। सामाजिक, राजनैतिक जीवन में भी नवचेतना का जागरण हुआ था, साहित्य संस्थान को नया रूप मिला था, कला सजीव हो गई थी। उनके सुप्रयत्नों से उस युग में एक नए प्रभात का उदय हुआ था एवं भारतीय संस्कृति प्राणवान बन गई थी। वे अपने युग की महान विभूति थे। उनके जीवन और कार्य पर दृष्टिपात करने से पूर्व तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, कला और साहित्यिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को भलीभाँति जानना अति आवश्यक है। आ. जिनदत्तसूरि जी के जीवन का कार्यक्षेत्र

---

१. गुजरात नो प्राचीन इतिहास-डॉ. हरिप्रसाद ग. शास्त्री, पृ.३०७

२. वही, पृ.३०७

३. वही, पृ.२३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चिम भारत, खास कर के गुजरात, राजस्थान एवं मालवा रहा है, इस लिए इन प्रदेशों में प्रवर्तमान समकालीन परिस्थितियों का हम विहंगावलोकन करेंगे।

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति :

हमारे युगप्रवर चरित्रनायक पश्चिम भारतवर्ष में अवतीर्ण हुए थे, उस समय के वहाँ के राजनैतिक वातावरण पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक होगा। आचार्यवर श्री जिनदत्तसूरि जी ने अनैक्य के युग में जन्म ग्रहण किया था। श्री जिनदत्तसूरि जी ने ईस्वीसन् १०७५ से ११५४ (विक्रम संवत् ११३२ से १२११) तक के मध्यभाग को आलोकित किया था।[४] पश्चिम भारत में शक्तिशाली राजपूत शासकों के राज्यकाल में जैन धर्म की अप्रत्याशित प्रगति हुई। ये शासक शैव या शाक्त धर्म के अनुयायी थे। परन्तु सहिष्णुता एवं जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण राजपूत शासकों ने जैन धर्म की उन्नति में भी सक्रिय योगदान दिया।

गुजरात के सोलंकी वंशज, मालवा के परमार राजा और चौहानवंशी राजा आदि विशेष उल्लेखनीय है।[५] भारत के मध्यकालीन इतिहास में चालुक्य वंश का अधिक महत्त्व है, गुजरात के अणहिल पट्टन (पाटन)राज्य की स्थापना मूलराज ने की थी।[६] मूलराज का राज्याभिषेक ई. सन् ९४२ (वि.सं.९९८) में हुआ था।[७]

दसवीं सदी में जिस समय चन्देल, कलचूरी आदि राजवंश अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में प्रयत्नशील थे, तभी मूलराज ने अपने राज्य की स्थापना की।[८] यह जैन धर्म का संरक्षक एवं प्रेमी था, उसने ५५ वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया।[९] फिर चामुण्डराजने १३ वर्ष तक राज्य किया। वल्लभराज चामुण्ड का पुत्र था। उसने केवल छः मास तक राज्य किया। फिर उसका छोटाभाई दुर्लभराज ई. सन. १०१० में राजगद्दी पर आया। दुर्लभराजने १२ वर्ष तक राज्य किया।[१०]

---

४. युगप्रधानजिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्यम्।
५. वल्लभ भारती-महोपाध्याय विनयसागरजी, पृ.५
६. गुजरात नो प्राचीन इतिहास-पृ.१७१.
७. वही, पृ.१७३
८. भारत का प्राचीन इतिहास-सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ.६३८
९. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.१७७-१७८
१०. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.१७९-१८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लभराज के दरबार में चैत्यवासियों को परास्त कर जिनेश्वर सूरि ने ''खरतर'' विरुद प्राप्त किया था।[११] फलतः उनका गच्छ खरतरगच्छ कहलाया।

दुर्लभराज के बाद भीमदेव प्रथम ई. सन् १०२२ (वि.सं.१०७८) में गादी पर आया।[१२] भीमदेव के शासन पर आरूढ होने के दो वर्ष बाद गुजरात पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया। महमूद का प्रतिरोध करने में भीमदेव असमर्थ हुए, भीमदेवने कंथकोट किले में जाकर शरण ली।[१३] महमूद के जाने के बाद भीमदेव का शासन पूर्ववत् चला।

भीमदेव का मंत्री विमलशाह था, उसने ई.स. १०३२ में आबू पर आदीश्वर भगवान का मंदिर बनवाया।[१४] उसका खर्चखाते का अमात्य जाहिल था। वह भी जैन था।[१५] भीमदेव प्रथम ने ४२ वर्ष तक शासन करके राज्य की शोभा बढायी थी।

भीमदेव के बाद उसके पुत्र कर्ण ने लगभग ई.सन् १०६४ से १०९४ तक शासन किया। कर्ण अपने पिता की तरह प्रतापी राजा था। कर्णदेव ने आशापल्ली के भील सरदार आशा पर विजय प्राप्त की। उसी आशापल्ली के पास अपने नाम की कर्णावती नगरी बसाई थी। आगे जा कर उसी कर्णावती नगरी को अहमदशाह ने अहमदाबाद नाम दिया।[१६]

कर्ण के शासन काल में सोलंकी और धारा के परमारों में निरन्तर संघर्ष होता रहा।

सन् १०६४ में आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी की अवस्था १९ वर्ष की थी। इस समय इन्हे ''सोमचन्द्र'' नाम से विभूषित हुए १० वर्ष हो चुके थे।

अणहिल्पुर पाटन को सोलंकियों ने धीरे धीरे विकसित किया। उसका अभ्युदय सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के समय में दिखाई दिया। इन दोनों की राजनीति पर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा।

---

११. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.१८१
१२. वही
१३. वही, पृ.१८२
१४. वही, पृ.१८४
१५. वही, पृ.१८६
१६. वही, पृ.१८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ण का पुत्र सिद्धराज जयसिंह ई.स. १०९४ (वि.सं.११५०) में शासक बना। उस के नाम के साथ परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि महाबिरुद देने में आते हैं।[१७]

ई.स. १११४ (वि.सं.११७०) में जयसिंह ने सोरठ जीता इसी कारण सिद्धराज जयसिंह नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१८]

सिद्धराज जयसिंह ने ४७ वर्ष तक राज्य किया। वह महान् रणदक्ष शासक था, जिसने कच्छ, काठियावाड़, गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान में कोटा, बांसवाड़ा, ग्वालियर, जोधपुर, जयपुर आदि प्रान्तो पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था।

जिसके लिए मूलराज, भीम आदि संघर्ष करते हुए असफल रहे थे, वही जयसिंह को सुलभ हुआ। उसने एक सशक्त और संगठित साम्राज्य की स्थापना की।[१९]

जयसिंह ने १२ वर्ष तक मालवा के राजा के साथ युद्ध किया, अन्त में यशोवर्मन को बन्दी बनाया और अवन्ती देश पर अधिकार किया। जयसिंह की "अवन्तीनाथ" उपाधी भी यही सिद्ध करती है।[२०]

जयसिंह सिद्धराज के बाद ई.सन्. ११४३ में कुमारपाल राज्य सिंहासन पर बैठा, उस समय उसकी अवस्था ५० वर्ष की थी।[२१] उसकी प्रौढ अवस्था से यह लाभ हुआ कि कुमारपाल ने अपने अनुभव और पुरुषार्थ द्वारा राज्य की सुदृढ व्यवस्था की। सन् ११४३ से ११७२ तक शासनभार उसने संभाला। कुमारपालने शाकंभरी (सांभर) के चाहमान (चौहान) अर्णोराज पर विजय प्राप्त की। इससे उनकी यशःगाथा फैली।[२२] कुमारपाल के उदयन, आम्रभट्ट, कुमरसिंह, पृथ्वीपाल आदि अनेक मंत्री थे।[२३] इन में उदयन विशिष्ट प्रतिभावान जैन मंत्री था।

---

१७. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.१९१-१९२
१८. वहाँ, पृ.१९३
१९. राजपूत राजवंश-डॉ. अवधबिहारीलाल अवस्थी, पृ.३२५-३२६
२०. वही, पृ.३२६
२१. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.१९९
२२. वही, पृ.२००
२३. वही, पृ.२०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों राजा आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी के उत्कर्ष काल में शासन करते थे।

इस समय में जैनों का राजनैतिक जीवन अत्यन्त उच्च कोटि का था।

गुजरात के सोलंकी शासनकाल में जाम्ब, दण्ड नायक विमल, महामात्य मुंजाल, सांतू, उदयन, सज्जन, पृथ्वीपाल, तेजपाल, पेथड़ आदि अनेक जैन मंत्रियों ने राजतन्त्र को सुप्रतिष्ठित करने में अद्भुत बुद्धिकौशल और रणशौर्य प्रदर्शित किया है।[२४]

आबू, किराडू, जालौर, मालवा व बागड़ में परमार वंश के शासक राज्य करते थे। परमार अपनी उत्पत्ति आबू पहाड़ पर मानते हैं।[२५] बागड़ में परमारों की राजधानी अर्थूणा (उच्छूणक)थी।[२६] ई. स. लगभग चामुण्डराज और विजयराज परमार शासक बने।[२७] ये शासक आचार्य श्री के समकालीन थे।

परमारों की मुख्य शाखा मालवा पर शासन करती थी। चित्तौड़ भी उस समय मालवे के अधिकार में था। इस वंश में भोज सबसे प्रतापी राजा हुआ।[२८] भोज बड़ा दानी था। भोज के राज्यकाल में तीन संवत मिलते है।[२९]

भोज के उत्तराधिकारी के रूप में जयसिंह, उदयादित्य, लक्ष्मदेव, नरवर्मदेव, यशोवर्मदेव आदि राजाओ नें राज्य किया। नरवर्मा तथा यशोवर्मा का राज्यकाल ई.स. १०९४ से ११३८ तक था । नरवर्मा राजा आचार्य जिनदत्तसूरि जी के गुरु श्री जिनवल्लभसूरि जी के कारण जैन धर्म के प्रति श्रद्धालु था।[३०] नरवर्मा ने जिनवल्लभसूरि के उपदेश से चितौड़ में खरतरगच्छ के दो मंदिरो को दो द्रम दैनिक दिये जाने का आदेश दिया था।[३१]

आबू के परमार सिन्धुराज, उत्पलराज, प्रतापसिंह आदि राजा हुए। धन्धुक भीमदेव सोलंकी के समकालीन था। विमलशाह मंत्री ने भीमदेव से उसका मेल करवाया था।[३२] धन्धुक के उत्तराधिकारी पूर्णपाल, कृष्णराज किराडू के स्वामी बने।

२४. गुजरात का जैन धर्म-मुनि श्री जिन विजयजी-पृ.७
२५. भारत के प्राचीन राजवंश-विश्वेश्वर नाथ रेउ-पृ.६८२६. वही, पृ.१७५
२७. वही, पृ.१७५
२८. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ.१११
२९. वही, पृ.१२३
३०. वही, पृ.१४५
३१. खरतरगच्छ बृहदगुर्वावली, पृ.१३.
३२. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ.७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमार शासकों ने भी जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया था।

सांभर (वर्तमान में अजमेर) में चौहान वंश का राज्य था। चौहानों का राज्य पहले अहिच्छत्रपुर में था, ये ही चौहानों की राजधानी थी। [३३] इसके बाद इन्हों ने अजमेर में अपनी राजधानी की। इन्ही की एक शाखा ने नाडोल (मारवाड़) पर अपना अधिकार जमाया, इन्हीं के वंशज बुंदी कोटा के अधिपति थे। [३४]

अजमेर के राजा अर्णोराज और गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह समकालीन थे।

जयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह अर्णोराज से करके वैर को मैत्री में बदल दिया। [३५]

चौहानों के समय में जैन धर्म का प्रचार प्रसार अधिक हुआ। प्रसिद्ध जैनाचार्य धर्मघोषसूरि को जयपत्र अर्णोराजने दिया था। [३६] अर्णोराज (आन्नलदेव)की आचार्य जिनदत्तसूरि जी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। अर्णोराज ई. स. ११३३ के पूर्व सिंहासनारूढ हो चुका था। जब उसनें आचार्य श्री के दर्शन किये तब उनके अनुयायियों को एक विशाल जैन मंदिर निर्माण करने हेतु भूमि दान दी थी। यही स्थान दादा जिनदत्तसूरि के पश्चात् दादावाड़ी (दादा का उद्यान) के नाम से विख्यात हो गया। [३७]

अर्णोराज के बाद जगदेव और उसके बाद विग्रहराज चतुर्थ (विसलदेव)ई.सन् ११५३ में आये। विग्रहराज के बाद महत्त्वपूर्ण राजाओं में अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर, उसके बाद सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज तृतीय चौहान वंश के राजा हुए। पृथ्वीराज बड़ा वीर और पराक्रमी था। [३८]

इसके बाद कुछ समय तक चौहान राजाओं ने अफगानों के अधीनस्थ राजाओं के रूप में राज्य किया। अन्त में शासक हरिराज हुआ। [३९]

---

३३. वही, पृ.२२७
३४ भारत के प्राचीन राजवंश, पृ.२२८
३५. राजपूत राजवंश, पृ.२४०
३६. वही, ३४०-३४१
३७. जैन संस्कृति और राजस्थान-डॉ. नरेन्द्र मानावत, पृ.१३०
३८. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ.२५९
३९. भारत का प्राचीन इतिहास- सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ.६३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों से प्रगट होता है कि उस समय पश्चिम भारत में भीमदेव, कर्ण, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, भोज, नरवर्मा, अर्णोराज, पृथ्वीराज चौहाण आदि प्रतापी, शूरवीर राजा हुए। इन शासकों के मंत्री भी बुद्धिशाली और राजनीतिज्ञ थे। उन में कई जैन मंत्री भी थे।

इस तरह राजनैतिक जीवन में शान्ति का वातावरण स्थिर रहने के कारण इस समय में धर्म एवं संस्कृति को पनपने का अवसर मिला।

हमारे चरित्रनायक का उसी समय में अवतरण हुआ। विक्रम की बारहवीं शताब्दी का समय जैन धर्म की प्रतिष्ठा का स्वर्णिम समय था। सम्पूर्ण पश्चिम भारतवर्ष में उन्नति की लहर दौड़ रही थी।

सामाजिक परिस्थिति :

आचार्य जिनदत्तसूरि जी की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि गुजरात, मालवा, राजस्थान थी।

मध्ययुग में चारों वर्ण की व्यवस्था थी, प्रत्येक वर्ण अनेक शाखाओं में विभक्त था।[४०]

राजकुलों में सोलंकी (चौलुक्य), परमार, चौहान (चाहमान), गुहिल, मेहर वगेरे कुलभेद थे। वणिकों में प्राग्वाट (पोरवाड़) श्रीमाली जातियाँ थीं।[४१]

आचार्य श्री के समय क्षत्रियों का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। क्षत्रियों को देश के लिए रणभूमि में हँसते हुए प्राण दे देना बाएँ हाथ का खेल था। वे लोग जैसे वीर थे, वैसे ही स्वामिभक्त और अपनी बात के धनी भी होते थे।[४२]

प्रतिहार, परमार, चन्देल, चौहान, चालुक्य और गहड़वाल ऐसे ही क्षत्रिय थे, जिन्हों ने यथाशक्ति राष्ट्ररक्षा की।[४३] क्षत्राणी- वीरांगनाएं भी राष्ट्ररक्षण को अपना कर्म मान कर रणभूमि में मृत्यु का आलिंगन करती रहीं। क्षत्राणी माँ भी अपने पराजित

---

४०. मध्ययुगीन भारत, खण्ड-१, डा. छोटुभाई र. नायक, पृ.२५१
४१. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.२९६
४२. भारतीय संस्कृति का इतिहास, श्री स्कन्दकुमार एम.ए., पृ.१२७
४३. राजपूत राजवंश, पृ.३७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र को युद्ध में जा कर शत्रुओं को नष्ट करने या अपने प्राणों को वहीं उत्सर्ग करने का आदेश देती रही। उस समय कर्तव्य के लिए प्राणत्याग भी एक धर्म माना जाता था।[४४] समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा यथावत् थी। उस समय अनुलोम-प्रतिलोम विवाह का प्रचलन था।

अधिकतर विवाह माता-पिता की सम्मति से होते थे। राजपूतों में स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। समाज में वर्ण-ज्ञाति अनुसार विवाह होते थे। समाज में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था, वैधव्य जीवन जीना पाप माना जाता था। अपवाद रूप कभी-कभी पुनर्विवाह होता था। जैसे कि- वस्तुपाल, तेजपालकी माता कुमारदेवीने अश्वराज के साथ पुनर्विवाह किया था।[४५]

उस समय में बहुपत्नीत्व की प्रथा थी। राजाओं को तो अनेक पत्नियाँ होती थीं। चेदी राजा गांगेयदेव के १०० रानियाँ थीं, तथा गोविन्दचन्द्र के पाँच रानियाँ थीं।[४६]

समाज में उच्च वर्णो में स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। बारहवी सदी में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का ज्ञान देने के लिए पुस्तक लिखी थी।[४७]

चेदी राजाओं के एक लेख में गांगेय की दो पत्नियाँ सती बनी थीं, ऐसा वर्णन आता है।[४८]

लोग खेती, उद्योग, व्यापार से आजीविका चलाते थे।

बारहवीं सदी में जैन संतों का प्रभाव जनजीवन में अधिक था, संतो ने जनता के उत्थान के लिए आचार-विचार पर बहुत जोर दिया था।

---

४४. राजपूत राजवंश, पृ.३७९-३८३
४५. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.२९३-२९८
४६. भारत नो सांस्कृतिक इतिहास,डॉ. प्रवीण सी. परीख, पृ.३२
४७. मध्ययुगीन भारत खण्ड-१, पृ.२५२
४८. वही, पृ.२५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हेमचन्द्राचार्य से कुमारपाल राजा प्रभावित हुए। कुमारपालने ई.सन् ११६० (वि.सं.१२१६) में जैन धर्म अंगीकार किया। तथा सप्त व्यसन (मद्य, मांस, चोरी, शिकार, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन और जुआ) का त्याग किया। उसने सम्पूर्ण राज्य में अमारी घोषणा करवा दी (अर्थात् अहिंसा का प्रचार-प्रसार किया), पशु-बलि, हिंसात्मक यज्ञ, शिकार खेलना आदि बंद करवाये।[४९]

अतः कुमारपाल राजा के राज्य में सामाजिक जीवन में शांति का वातावरण था। उसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में सक्रिय योगदान दिया। कुमारपाल जैन धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धावान बना। सन् १२६४ (वि.सं. १२२०) कुमारपाल राजा को हेमचन्द्राचार्य ने परम आर्हत, परम श्रावक, जिनशासन प्रभावक पदवियों से अलंकृत किया था।[५०]

कुमारपाल के समय से राज्य में जीवहिंसा बहुत कम हो गई। आज भी गुजरात में सम्पूर्ण भारत की अपेक्षा प्राणिहिंसा कम होती है। मद्य का उपयोग भी बहुत कम होता है। इस लिए गुजरात की प्रजा शांतिप्रिय, सौम्य स्वभाववाली, विशिष्टतावाली है। ये सब गुण पूर्वजों के संस्कारों से सतत् चले आ रहे हैं।[५१]

राजपूत राजा अधिकांश उच्छृंखल होते थे।

सामान्यतः राजपूत राजा शिकार करते थे, मांस भी खाते थे, वे बड़ी शान शौकत से रहते थे। मदिरा का सेवन होता था, अफीम खाने का व्यसन बढ गया था। धूम्रपान का प्रचलन नहीं हुआ था।[५२]

प्रजा मन्त्र, तन्त्र, भूत, प्रेत आदि में विश्वास रखती थी।

आचार्य जिनदत्तसूरि जी ने ऐसे समाज के अनिष्टों को दूर करने के लिए भगीरथ प्रयास किया। उन्हों ने विराट समुदाय को न केवल शान्तिमार्ग का उपासक ही बनाया अपितु उनके लिए समुचित सामाजिक व्यवस्था का भी निर्देश किया। चैत्यवंदनकुलक में लिखा है कि :

---

४९. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.२०४-२०५

५०. वही, पृ.२०५

५१. जैन इतिहास नी झलक-मुनि जिन विजयजी, पृ.४२-४३.

५२. गुजरात नो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, रसीकलाल छोटालाल परीख, पृ.२३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेहिं समं न विरोहं करोमि, न च धरणगादिकलहं पि।
सीयंतेसु न तेसिं सइ-विरिए भोयणं काहं ॥ २५॥

अर्थात्-'उन समानधर्मी बन्धुओं के साथ विरोध न करूँगा एवं धरणा-डिग्री जब्ती आदि कलह से भी अपने को मुक्त रखूंगा। दुःखी समानधर्मी का कष्ट शक्ति रहते हुए मिटाकर ही भोजन करूँगा।'

यही कारण है कि भारत के इतिहास में सामाजिक जागरण व नैतिक उत्थान में जैनसंतों का योगदान स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में :

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के काल में साहित्य सर्जन भी विपुल मात्रा में हुआ था। उस समय में संस्कृत, प्राकृत, भाषाओं में अनेक नये ग्रंथो का निर्माण हुआ। तथा विद्वानों ने साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया।

आचार्य श्री के समय गुजरात में सोलंकी राजा शासन करते थे, उस समय में वैदिक और जैन साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। विद्या काव्य और शिक्षण की दृष्टि से इस काल में बहुत कृतियाँ लिखी गयी थीं।[५३]

सोलंकी शासक साहित्यरसिक और विद्वानों के आश्रयदाता थे। अतः सोलंकी युग संस्कृत साहित्य का भी स्वर्णयुग था। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल राजा के समय विद्वान् तथा साहित्यकार उच्च स्थान ग्रहण करते थे।[५४]

प्रारम्भ से ले कर आज तक जैनों ने गुजरात में रह कर जिस साहित्य की रचना की उसकी तुलना के लिए दूसरा कोई देश नही है।[५५]

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती ऐसी विविध भाषाओं के हजारों ग्रंथो से गुजरात के ज्ञान भंडार परिपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा हमारे देश की समस्त आर्य भाषाओं में भी मध्यवर्ती भाषा है। उसका विपुल भण्डार एक मात्र गुजरात की संपत्ति है।[५६]

---

५३. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.२५२
५४. मध्ययुगीन भारत खण्ड-१, पृ.७८
५५. गुजरात नो जैन धर्म-मुनि जिन विजय जी, पृ.१७
५६. वही, पृ.१७.

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

सोलंकी युग में सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल ने विविध भाषाओं में साहित्यसर्जन करवाया, साहित्य की विपुल समृद्धि हुई। कुमारपाल ने २१ बड़े ज्ञान भण्डार निर्मित कराये,[५७] लाखों रूपये खर्च कर के जैन शास्त्रों का उद्धार करवाया।

आचार्य हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा हेम सी निर्मल थी, वे ज्ञान के विशाल कोष थे। उन्हों नें प्रभूत प्रमाण में मूल्यवान् ग्रंथो की रचना की यही कारण है कि उनकी प्रसिद्धि कलिकालसर्वज्ञ के नाम से हुई। उनके ग्रंथरत्नों को पढकर पाश्चात्य विद्वानों ने उनको ज्ञान का समुद्र (Ocean of Knowledge) कह कर संबोधित किया।[५८] हेमचन्द्र जी यथार्थ में अपने युग के विलक्षण विद्वान थे।

जैन संस्कृति को जनजन में व्याप्त करने की दृष्टि से उन्हों ने विविध भाषाओं में साहित्य की रचना की थी। व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, न्याय, नीति, ज्योतिष, इतिहास आदि उस समय के प्रचलित विषयों में शायद ही कोई विषय रहा हो जिस पर हेमचन्द्राचार्य की लेखनी न चली हो। उनका सर्जनकार्य साहित्यिक इतिहास की अनुपम देन है। अतः उस युग में हेमचन्द्राचार्य अग्रणी रहे थे।

सिद्धराज जयसिंह के समय में आचार्य जिनवल्लभसूरि जी की ग्रंथकर्ता के रूप में प्रतिष्ठा हुई थी। गुजरात के पास अपनी संतानो के लिए ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों की कृतियाँ विद्यमान हैं। इस लिए गुजरात साहित्य की दृष्टि से स्वतंत्र राष्ट्र बना है।[५९]

आचार्य श्री के समय राजस्थान, मालवा आदि स्थानों में साहित्य की उन्नति हुई है। उस युग के मालवा का परमार राजा भोज, काश्मीर का राजा क्षेमेन्द्र, राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम ये साहित्यप्रेमी थे। कितने तो स्वयं कवि और साहित्यकार भी थे।[६०]

परमार शासक विद्याप्रेमी तथा सरस्वती के महान् उपासक थे, इस लिए साहित्य की विशेष प्रगति हुई।[६१]

---

५७. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास-मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृ.२६७
५८. हेमचन्द्राचार्य-ईश्वरलाल जैन, पृ.३९
५९. जैन इतिहास नी झलक-मुनि जिन विजयजी, पृ.३८
६०. मध्ययुगीन भारतखण्ड-१-डॉ. छोटुभाई र. नायक, पृ.२५३
६१. राजपूत राजवंश, पृ.२८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालवा के वाक्पति मुंज को उच्च कवित्व, ओजस्वी भाषण, तर्क, कला, शास्त्रों तथा आगमों का अध्येता बताया गया है ।[६२]

कल्हण के अनुसार काश्मीर के शासक कलश और भोज दोनों ही विद्वान और कवि थे, दोनों मित्र थे। भोज ज्ञान का आदर करता था, विद्वानों का सन्मान करता था, और ज्ञान पिपासुओं को सहायता कर प्रोत्साहन देता था। उसकी राजसभा में ज्ञान में देदीप्यमान पांचसो प्रखर विद्वान विद्यमान थे।[६३]

वाक्पतिराज ने "मुंज प्रतिदेश व्यवस्था" (भारत का भौगोलिक वर्णन) लिखा था।

धारानगरी का राजा भोज विद्यानुरागी था। उसने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की थी। उनके आश्रय में बड़े बड़े विद्यालय और शिक्षण संस्थाए चलती थीं।[६४]

अन्तिम परमार राजा अर्जुनवर्मन काव्य प्रतिभा का धनी था, वह काव्य और संगीत का निधि था । उसके लिए कहा गया है कि उसने सरस्वती को पुस्तक और वीणा के भार से मुक्त किया।[६५]

अमितगति यह एक यशस्वी कवि था जिसने कई ग्रंथ लिखे थे।[६६]

अतः परमारयुग में अनेक कवियों और चिन्तकों ने इस युग को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया। इससे सिद्ध होता है कि इस युग में परमार शासकों ने विद्या और कला के क्षेत्र को उन्नत कर भारती भंडार भरा था।

राजपूत युग में कथा साहित्य का अच्छा विकास हुआ था।

जैन आचार्यो ने बहुत से कथाग्रंथ और इतिहास भी लिखे।[६७]

श्री हर्ष कन्नोज-नरेश जयचंद (बारहवीं सदी) की सभा में थे, इन्होने नैषधीय महाकाव्य लिखा है।[६८]

---

६२. वही, पृ.२८२
६३. राजपूत राजवंश, पृ.२८३
६४. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ.१२२
६५. राजपूत राजवंश, पृ.२८४
६६. वही, पृ.२८४
६७. भारतीय संस्कृति का इतिहास, श्री स्कन्द कुमार एम.ए., पृ.१३३
६८. वही, पृ.१३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजपूत युग की मुख्य विशेषता यह थी कि उसी समय अपभ्रंश से प्रभावित लोकभाषा का उदय हो रहा था।[६९]

हिन्दी, मराठी, बंगाली और गुजराती भाषाओं की साक्षात् जननी मध्यकालीन अपभ्रंश भाषा मानी जाती है।[७०]

अपभ्रंश प्राकृत भाषा का अंतिम स्तर है। बारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रवाह उत्तम रीति से चलता रहा। इस काल के विद्वान आचार्यो में श्री अभयदेवसूरि, श्री वर्धमानसूरि, श्री देवचन्द्रसूरि, श्री जिनदत्तसूरि, श्री हेमचन्द्रसूरि आदि प्रमुख थे। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में सैंकड़ो काव्य लिखे गए। इन विद्वानों ने अपने ग्रंथो में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए उस समय के मानव समाज की स्थिति का भी परिचय कराया है। वह काल प्राचीन होते हुए भी वर्तमान में उस साहित्य से हमें बड़ी प्रेरणा और आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव होता है।

आचार्य जिनदत्तसूरि जी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में अनेक ग्रंथो की रचनाए की है। वे ग्रंथ अधिकतर धर्म से सम्बंधित है, तत्कालीन साहित्य और भाषाविज्ञान के इतिहास की दृष्टि से बहुत मूल्यवान है।

आचार्य श्री के संरक्षण में तथा योग्य शासकों के उदार शासन में, साहित्य की उन्नति प्रभूत मात्रा में हुई थी।

कला जगत :

पश्चिम भारत कला कौशल में भी प्राचीन समय से अग्रसर रहा है।

आचार्य श्री के समय कला की सर्वांगीण उन्नति हुई है। उस समय के शासकों की कलाप्रियता ने नयनाभिराम स्थापत्यों का निर्माण करवाया था। अतः यह युग स्थापत्य का भी स्वर्णयुग था।[७१]

राजा अपने कलाकारों और शिल्पियों को विशेष आश्रय देते थे। कला का स्तर काफी ऊंचा रहा।

---

६९. भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ.१३३

७०. गुजरात का जैन धर्म, पृ.१७

७१. मध्ययुगीन भारत-खण्ड-१, डॉ. छोटूभाई र. नायक, पृ.२६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्यारहवीं सदी में जैन मंदिरों में भित्तिचित्रों की कला का विकास विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताड़पत्र बना। सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्र मैसूर तथा उत्तर में पाटन के जैन भंडारों मे मिले है।[७२]

जैसलमैर जैन भण्डार में एक काष्ठ पर चित्र मिला है जिसमें जिनदत्तसूरि जी विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। मुनि जिनविजय जी का अनुमान है कि यह चित्र जिनदत्तसूरि जी के जीवनकाल का ही हो तो आश्चर्य नहीं।[७३]

और एक काष्ठफलक जिन वल्लभसूरिजी का, तथा एक त्रिभुवन गिरि के राजा कुमारपाल को जिनदत्तसूरि जी प्रतिबोध दे रहे है ऐसे चित्र वाला मिलता है।[७४]

काष्ठफलक के चित्र सबसे ज्यादा टिकाउ होते हैं और उसमें रंग की चटक विशेष आकर्षक रहती है।

वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। ग्यारहवीं सदी में जैनियोने अपने मंदिरों में चित्र निर्माण द्वारा चित्रकला को खूब पुष्ट किया।[७५]

आचार्य श्री के काल में गुजरात में सोलंकी युग था। इस प्रदेश के राजवंश के संस्थापक वनराज का जैन धर्म के साथ सम्बन्ध था उसके प्रमाण मिलते है। इस वंश के प्रतापी राजा मूलराज ने अपनी राजधानी अणहिलवाड़ में "मूल वसतिका" नामक जैन मंदिर बनाया था। तथा मंडली गाँव में अपने नाम का मूलनाथ महादेव का मंदिर बनाया था।[७६]

चालुक्य नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री विमलशाह ने आबू पर आदिनाथ का जैन मंदिर बनाया जिसमें भारतीय स्थापत्य कला का अति उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ, जिसकी सूक्ष्म नक्काशी की चतुराई तथा सुंदरता जगद्विख्यात है।[७७] इस मंदिर में संगमरमर की

---

७२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान-डॉ. हीरालाल जैन, पृ.३६५
७३. वही, पृ.३७२
७४. मणिधारी अष्टम शताब्दी ग्रंथ-अगरचंदजी नाहटा-पृ.४९
७५. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ.२९४
७६. गुजरात नो प्राचीन इतिहास, पृ.१७८
७७. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.१८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनी जालियाँ, प्रतिमायें और बेलबूटे दर्शकों को आश्चर्य में डालते हैं। यहाँ भारतीय शिल्पियों ने जो कला कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र में भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा ऊठा रहेगा।

सिद्धराज जयसिंह ने अनेक मंदिर, किले, १००८ शिवमंदिर, १०८ देवीमंदिर और सिद्धपुर में जैन विहार बनवाये थे।[७८]

गिरनार का पत्थर का मंदिर सिद्धराज के मंत्री सज्जन ने बनवाया था।

कुमारपाल राजा ने तारंगा पर अजीतनाथ भगवान का विशाल गगनचुम्बी मंदिर, गिरनार, शत्रुञ्जय, जालोर, पाटन आदि में मेरुतुंग के अनुसार १४४४ नुतन मंदिर तथा अनेको प्राचीन मंदिरो का जीर्णोद्धार करवाया था।[७९] तथा केदारनाथ और सोमनाथ के शिव मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया था।[८०] ये सब कार्य कुमारपाल की उदारता के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

सोलंकी राजाओं ने शिल्पकला और स्थापत्य के संरक्षण का बहुत ध्यान दिया। इन मंदिरों के अलंकरण और कटाव का काम संसार मे बेजोड़ था।

परमारों के राजा भोज विक्रमादित्य की भांति कला और साहित्य के इतिहास में अति प्रसिद्ध हो गया। उसने धारा नगरी का निर्माण कराया था। प्रसिद्ध शिल्प शास्त्र के ग्रंथ समरांगणसूत्रधार का निर्माण भोज ने ही किया था।[८१] प्रायः सभी परमार मन्दिर निर्माता थे। उन्हों ने बहुत मंदिरों का निर्माण कराया, कई मंदिर आज मालवा के जंगलो में छिपे पड़े हैं। भोज ने एक नयी शैली चलायी, इसमें मंदिरों की भित्तियों (दिवालों)पर उत्कीर्ण देव मूर्तियाँ और अलंकरण प्रमुख है।[८२]

परमार राजा उदयादित्य का बनाया उदयपुर का नीलकंठेश्वर मंदिर अति प्रसिद्ध है।[८३] परमारों के काल में वास्तु शिल्प एवं मूर्तिकला का यथेष्ट विकास हुआ है।

---

७८. वही, पृ.११७
७९. जैन संस्कृति और राजस्थान-डॉ. नरेन्द्र भानावत, पृ.१३३
८०. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.२०६
८१. राजपूत राजवंश, पृ.२८०
८२. वही, पृ.२८०-२८१
८३. राजपूत राजवंश, पृ.२८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुर्जरों और प्रतिहारों के मंदिर भवन नष्ट हो गये, लेकिन मूर्तियाँ बहुत संख्या में मिलती हैं। सुंदर अलंकरण और सुडोल रचना इन मूर्तियों की विशेषता है।[८४]

आचार्य श्री के समय समग्र भारत में योग्य शासकों के दृढ शासन में कला को अभूतपूर्व संरक्षण मिला। पश्चिम भारत उस समय शिल्प, स्थापत्य, मूर्ति और मन्दिरनिर्माण से और अपनी हस्तप्रतों के लघुचित्रों की विशिष्ट शैली से भारतीय कला में अपना विशेष स्थान रखता है।

धार्मिक परिस्थिति :-

आचार्य श्री अवतीर्ण हुए उस समय समाज की प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्निकरण की थी। जाति भेद इसी प्रवृत्ति की देन है। धार्मिक क्षेत्र में इसका व्यापक प्रभाव पड़ा था।

गुजरात जैन धर्म के लिये सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय आश्रय स्थान बना है। इतिहास युग में जैन धर्म ने अपना जो कुछ उत्कर्ष सिद्ध किया है, वह गुजरात में ही सिद्ध किया है। गुजरात की भूमि एक तरह से जैन धर्म की दृष्टि से दत्तक पुत्र की माता के समान है।[८५] और मालवा में भी आचार्य श्री के समय जैन धर्म का प्राबल्य था।

जैन धर्म के निष्परिग्रही, निर्लोभ, निर्भय और तपस्वी उपदेशकों के दान, शील, तप और भावना पोषक सतत् प्रवचनों ने गुजरात के उन हजारों प्रजाजनों में जैन धर्म के प्रति विशिष्ट श्रद्धा उत्पन्न की थी। गुजरात आज भी जैन धर्म का केन्द्रभूत स्थान है। इसका कारण मध्ययुग के इन प्रभावक आचार्यो का उत्कृष्ट प्रभाव था। परमार, चौहान, चावड़ा आदि शासक जैनाचार्यो के सम्पर्क मे आये, उनके ज्ञान और चारित्र के प्रभाव से आकृष्ट हुए, और उनके उपदेशानुसार जैन बनने लगे।[८६]

जैन मतावलम्बी अनेक गृहस्थ भी शासन के उच्च पदों पर कार्य कर रहे थे, उनके कारण भी जैनाचार्यो का प्रभाव बढा। बारहवीं सदी में सम्पूर्ण भारत में अहिंसा के सिद्धांतों का प्रचार प्रसार करने में सोलंकी राजाओं का सक्रिय सहयोग रहा। गुजरात के

---

८४. भारतीय संस्कृति का इतिहास-श्रीस्कन्द कुमार एम.ए., पृ.१३४

८५. गुजरात का जैन धर्म, पृ.३०

८६. वही, पृ.३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोलंकी शासक शैव धर्म के अनुयायी होने पर भी जैन धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा, सद्भाव रखते थे। सिद्धराज जयसिंह ने सभी धर्मो की समान आराधना की। उसके राज्य में वैदिक, सनातन धर्म के साथ जैन संप्रदाय की भी बहुत अभिवृद्धि हुई। जयसिंह जैन धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था, वह जैनसंघो का सन्मान करता था। [८७]

राज्यप्राप्ति से पहले ही हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल को संकटो से बचाया। इन्हीं कारण से हेमचन्द्राचार्य उसके उपकारी गुरु थे। [८८] उसने उनसे विधि पूर्वक जैन धर्म ग्रहण किया था। [८९] कुमारपाल ने अपने राज्य में धर्म के नाम पर यज्ञ में की जाने वाली हिंसा को बन्द कराया, सत्य धर्म का प्रचार किया, राज्य में मदिरापान, द्युत आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिये। [९०]

कुमारपाल को अजितनाथ भगवान पर विशेष श्रद्धा थी, वह अपनी विजय का कारण उनकी उपासना मानता था। [९१]

उसने जैन धर्म की उन्नति के लिए भारी प्रयत्न किये, जिसके कारण गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना और मालवा में जैन धर्म का बहुत प्रसार हुआ। कुमारपाल ने १२ या १४ वर्ष तक अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार किया। [९२]

इस लिए कुमारपाल को परमार्हत, परमश्रावक, जिनशासन प्रभावक आदि पदवियों से विभूषित किया गया है। [९३]

चौलुक्यों के काल में जैन धर्म को उत्तम संरक्षण मात्र ही मिला हो यह बात नहीं, किन्तु उत्तम पोषण मिला था।

मालवा में परमार शासकों ने भी जैन धर्म की उन्नति में योगदान अर्पित किया था। धारा के परमार शासक नरवर्मन शैव था, परन्तु जैन धर्म के प्रति आचार्य जिनवल्लभसूरि जी के कारण श्रद्धालु था। [९४]

---

८७. जैन इतिहास की झलक, पृ.११२
८८. गुजरातनो प्राचीन इतिहास, पृ.२४९
८९. वही, पृ.२०४.
९०. आचार्य हेमचन्द्राचार्य-ईश्वरलाल जैन, पृ.२२-२३
९१. वही, पृ.२५
९२. गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास, भाग १-२, पृ.३६३
९३. गुजरातनो प्राचिन इतिहास, पृ.२०५
९४. जैन संस्कृति और राजस्थान, पृ.१३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बयाना का अन्तिम शूरसेन शासक कुमारपाल था, शूरसेन राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म की प्रतिष्ठा एवं प्रसार का ज्ञान होता है।[१५]

राजस्थान के करीब सभी शासकों ने जैन सन्तों को आदर की दृष्टि से देखते हुए, जैन धर्म के प्रति उदारता और सहिष्णुता का परिचय दिया, जिसके कारण राजस्थान में जैन धर्म एवं अहिंसा का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

आचार्य जिनदत्तसूरि जी, आचार्य हेमचन्द्राचार्य आदि सन्तों को पा कर गुजरात, राजस्थान, मालवा आदि प्रान्त अज्ञान, रूढिवादिता एवं अन्ध विश्वासों से मुक्त हो धर्म के महान् केन्द्र बन गये।

इस प्रकार उस समय का पश्चिम भारत जैन धर्म के लिए एक विशिष्ट धर्मक्षेत्र बन गया था।

*****

---

१५. जैन संस्कृति और राजस्थान, पृ.१३६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण-२ : जैन धर्म की स्थिति एवं खरतरगच्छ का उद्भव और विकास

चैत्यवास :

जैन संस्कृति में त्याग का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। भगवान महावीर के समय श्रमण-संघ तो समग्ररूपेण आचार एवं विचारनिष्ठ था। श्रमण का जीवन पूर्ण स्वावलंबन का प्रतीक है। वह स्वजीवन के लिये भी परपीड़न में पाप मानता है, सीमित आवश्यकताओं से ही जीवन यापन करना जानता है। श्रमण अपने ज्ञानबल-योगबल, चारित्रबल से आत्मोत्थान करते हैं। जैन मुनियों का आचार-विचार संसार के लिए एक महान आदर्श रहा है , जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य पर निर्भर रहता है।

परन्तु संसार परिवर्तनशील है, परिवर्तनशीलता ही विश्व का चिरस्थायी सिद्धांत है।

काल के दुष्प्रभाव से मध्यकाल में शिथिलता की महामारी से अनेक श्रमण ग्रसित हो गये। श्रमण धर्म का परिपालन न करने के कारण जैन मुनियों में शिथिलता बढने लगी। उस समय में जैन यतियों की चैत्यवास प्रथा प्रचलित हो चुकी थी, अर्थात् उस समय श्वेताम्बर समुदाय के यति-लोग जिन-मंदिरों में रहना प्रारम्भ कर चुके थे। उस परिस्थिति में जीनेवाले मुनिजन को चैत्यवासी कहा जाता है । इस चैत्यवासी परम्परा का अस्तित्व कई सदियों तक रहा। इसका प्रभाव आकस्मिक न हो कर अनुक्रमिक है।

चैत्यवास के कारण श्वेताम्बर परंपरा में अनेक प्रकार के शिथिलाचार का प्रारम्भ हो गया और कई सदियों तक चैत्यवास का प्रभाव बना रहा। जैन धर्म को चैत्यवास के कारण बहुत सहन करना पड़ा। चैत्यवास का प्रारम्भ कब हुआ यह निश्चित रूप से कह नहीं सकते किन्तु विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही चैत्यवास का आभास मिलने लगता है। आचार्य पादलिप्तसूरि के समय में चैत्यवास का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] विक्रम की पांचवीं शताब्दी में चैत्यवास का प्रबल आधिपत्य हो चुका था।

---

१. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास-महो. चन्द्रप्रभसागरजी म.सा. पृ.५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण (वि.सं. ५१०)से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी तक यह परम्परा क्रमशः व्यापक रूप से फैली।[२]

उपाध्याय धर्मसागर जी अपनी पट्टावली में लिखते हैं कि "वीरात् ८८२ (वी.निर्वाण संवत् ८८२)में चैत्यवास शुरू हुआ।[३] आचार्य श्री जिनवल्लभ सूरि जी कृत "संघपट्टक"की भूमिका में वीर निर्वाण ८५० का उल्लेख है। इस तरह विद्वानों के मतों का निष्कर्ष निकालें तो मालूम होता है कि चैत्यवास विक्रमीय पांचवीं शताब्दी के आसपास पनप चुका था। आचार्य हरिभद्रसूरि जी (आठवीं शताब्दी)के समय में चैत्यवास का प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि उन्होंने चैत्यवास एवं चैत्यवासिओं की कटु आलोचना की है।

चैत्यवासी संप्रदाय का मुनिलिंग से सम्बन्ध था। किन्तु मुनि जीवन की निर्मलताएं उन्हों ने नष्ट कर दी थी। चैत्यवासियों का प्रभाव इतना फैल गया था कि कठोर चर्या का पालन करने वाले श्रमण इसके सामने कुछ बोल भी नहीं सकते थे क्योंकि राज्य के अधिकारियों पर इनका प्रभुत्व था। अतः शुद्ध आचारशील श्रमण नगरों में प्रवेश नहीं कर पाते थे और न ही श्रमण चैत्यवासियों के विरुद्ध बोल पाते थे।

जैन मुनि-जीवन में महाव्रतों का निरतिचार रूप से पालन करना होता है, किन्तु चैत्यवासी यति लोग साध्वाचार के विरुद्ध आचरण करते थे। मुनि का धर्म है कि देश में भ्रमण कर के, घर-घर में सद्विचारों का उपदेश पहुँचाये। सदुपदेश देना ही मुनि का कर्तव्य है। पर चैत्यवासी ऐसा नहीं करते। वे विहार चर्या न कर के स्थानपति और मठाधीश हो गये थे। चैत्यवासी एक ही स्थान पर रहते थे। श्रमण जीवन की आदर्श भूमिका से वे च्यूत हो गये थे। इनकी आचार-संहिता में इतना शैथिल्य आ गया था कि इसका अपना मूल व्यक्तित्व ही समाप्त हो गया था। उनकी दिनचर्या विलास-प्रधान हो गई थी। वे छत्र, चामर, अंगरक्षक आदि राजकीय सन्मानजनक अलंकरण भी धारण करते थे। आचार्य हरिभद्रसूरि जी (आठवीं शताब्दी) के समय में चैत्यवासियों का प्रभाव मध्याह्न के सूर्य की तरह तेज था। उन्हों नें "सम्बोधप्रकरण" में चैत्यवासियों का आंखो देखा हाल प्रस्तुत किया हैः-

---

२. खरतगगच्छ का आदिकालीन इतिहास,महो. चन्द्रप्रभसागरजी म.सा, पृ.५३

३. जैन साहित्य और इतिहास, नाथुराम प्रेमी, पृ.४८०

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजाकरने का आरम्भ-समारम्भ करते हैं, देव-द्रव्य का उपयोग करते हैं, जिन मंदिरों और शालाओं का निर्माण करवाते हैं। रंग-बिरंगे सुगंधित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, स्वच्छन्दी वृषभ के समान स्त्रियों के सम्मुख गाते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल इत्यादि सचित्त (जीवनयुक्त)वस्तुओं का उपभोग करते हैं, दो-दो, तीन-तीन बार भोजन करते हैं, निमित्त बतलाते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते। .....स्वयं परिभ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना और प्रतिक्रमण करवाते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृंगार करते और इत्र-फूल का उपयोग करते हैं।

अपने हीनचारी मृतक गुरुओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं। सारी रात शयन, क्रय-विक्रय और प्रवचन के बहाने विकथायें किया करते हैं। जिनप्रतिमाओं का क्रय-विक्रय उच्चाटन करते हैं और वैद्यक, मंत्र-तंत्र, ताबीज और जादूटोना आदि में कुशल होते हैं।

ये सुविहित साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को रोकते हैं, अभिशाप आदि का भय दिखाते है, परस्पर विरोध रखते हैं और शिष्यों के लिए एक दूसरे से लड़ पड़ते हैं।"[४]

आचार्य हरिभद्रसूरि जी के उक्त अभिवचनों से ज्ञात होता है कि उस समय (८ वीं शताब्दी में) चैत्यवास एवं शिथिलाचार विस्तृत प्रमाण में था। स्वयं हरिभद्रसूरि जी जो लोग उन चरित्रवालों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य कर कहते हैं कि 'कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि, "यह भी तीर्थंकरो का वेष है, इसे नमस्कार करना चाहिए" अहो! धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने सिर के शूल की पुकार किसके आगे जा कर करूँ?"[५]

तत्कालीन श्वेताम्बर समुदाय के यति लोग जिन-मंदिरों में रहते थे, जिनको प्रायः चैत्यगृह कहते थे। जो लोग जैन धर्म से परिचित नहीं हैं उनकी समझ में यह नहीं आ सकता कि जिनमंदिर में रहने वाले मुनियों को घृणा की दृष्टि से क्यों देखा गया है।

---

४. सम्बोध प्रकरण-हरिभद्रसूरिजी

५. "बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
नमणिज्जो धिद्धो अहो, सिरशूल कस्स पुक्करिमो॥
(सम्बोध प्रकरण पद्य-७६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ये लोग मुनि के शास्त्र-सम्मत आचार-विचार पर दृष्टिपात करेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायेगा।

अपने कथाकोषप्रकरण में आ. श्री. जिनेश्वरसूरि ने जैन यतियों के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए लिखा है-''जैन शास्त्रों के विधान के अनुसार जैन यतियों का मुख्य कर्तव्य केवल आत्म-कल्याण करना है। उसकी आराधना निमित्त शम, दम, आदि दश-विध यतिधर्म का सतत पालन करना है। जीवन यापन के निमित्त जहां कहीं जैसा भी लूखा-सूखा शास्त्रोक्त विधि के अनुकूल प्राप्त भिक्षान्न का उपभोग कर, अहर्निश ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहना और जो कोई मुमुक्षु-जन अपने पास चला आवे उसे एक मात्र मोक्ष का उपदेश देना है। इसके सिवा यति को गृहस्थजनों का किसी प्रकार का संसर्ग नहीं करना चाहिए और न धर्म से अन्य प्रकार का किसी को उपदेश ही देना चाहिए। किसी स्थान में बहुत समय तक नियतवासी न बन कर सदैव परिभ्रमण करते रहना चाहिए और वसति में न रह कर गांव के बाहर जीर्ण-शीर्ण देवकुलों के प्रांगणों में एकांत निवासी हो कर किसी न किसी तरह का सदैव तप करते रहना ही जैन यति का शास्त्र-विहित एक मात्र जीवन क्रम है।''[६]

सुविहित मुनियों को उक्त नियमों का पालन करना आवश्यक है।

चैत्यवासी इन नियमों का पालन नहीं करते थे। चैत्यवासियों के आचार-विचार की कड़ी आलोचना सर्वप्रथम हमें आचार्य हरिभद्रसूरि कृत ''संबोधप्रकरण'' में मिलती है।[७] तथा जिनवल्लभसूरि जी कृत ''संघपट्टक'' में उल्लेख मिलता है।[८] आचार्य जिनवल्लभसूरि जी के समय चैत्यवासियों की जो स्थिति थी, उसके विषय में मुनि जिनविजय जी लिखते हैं :-

''इनके समय में श्वेताम्बर जैन संप्रदाय में उन यतिजनों के समूह का प्राबल्य था, जो अधिकतर चैत्यों अर्थात् जिनमंदिरों में निवास करते थे। ये यतिजन जैन देव मंदिर, जो उस समय चैत्य के नाम से विशेष प्रसिद्ध थे, उन्हीं में अहर्निश रहते, भोजनादि करते, धर्मोपदेश देते, पठन-पाठनादि में प्रवृत्त होते और सोते-बेठते थे। अर्थात् चैत्य

---

६. कथा-कोष प्रस्तावना-जिनविजयजी, पृ.३-४
७. संबोध प्रकरण-आ. हरिभद्रसूरि
८. संघपट्टक, प्रस्तावना, पृ.१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही उनका मठ या वासस्थान था और इसलिए वे चैत्यवासी के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे। इनके साथ उनके आचार-विचार भी बहुत से ऐसे शिथिल अथवा भिन्न प्रकार के थे जो जैनशास्त्रों मे वर्णित निर्ग्रन्थ जैन मुनि के आचारों से असंगत दिखाई देते थे। वे एक तरह से मठपति थे।''[९]

चैत्यवासियों का प्रभाव राज्याधिकारियों पर भी अत्यधिक था। 'प्रभावक-चरित' के अनुसार-अणहिलपुर पत्तन के संस्थापक चापोत्कट वनराज (वि.सं.८०२)आचार्य शीलगुणसूरि के शिष्य थे। वे आचार्य चैत्यवासी थे। अतः वनराज ने आज्ञा घोषित कर रखी थी कि मेरे राज्य में चैत्यवासी मुनियों को छोड़ कर अन्य सुविहित मुनि ठहर नहीं सकते।[१०]

राजदरबार में इन चैत्यवासी यतिजनों का बहुत बड़ा प्रभाव था। राजवर्ग और जनसमाज में इन चैत्यवासी यतिजनों की प्रतिष्ठा जमी हुई थी।

अतः ये यतिजन समाज और संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हो गये थे।

महोपाध्याय विनयसागरजी कहते है कि:- चैत्यवासियों का आचार उत्तरोत्तर शिथिल होता ही गया और कालान्तर में चैत्यालय भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये, तथा वे शासन के लिए अभिशाप रूप हो गये।[११]

चैत्यवासी आचार्य आचार से शिथिल थे। किन्तु उन में से कई शिक्षा और साहित्य की दृष्टि से प्रभावक थे। शीलगुणसूरि, देवचन्द्रसूरि, द्रोणाचार्य, गोविन्दाचार्य, सूराचार्य आदि प्रभावशाली, प्रतिष्ठासम्पन्न और विद्वदग्रणी चैत्यवासी थे। चैत्यवासी यतिजन उस समय जैन समाज के धर्माध्यक्षत्व का गौरव प्राप्त कर रहे थे। ऐसा होने पर भी उनके आचार की शिथिलता ने जैन धर्म को पतन की ओर धकेला था। चैत्यवास का इस प्रकार लगभग एक हजार वर्ष तक प्रभुत्व रहा था।[१२]

---

९. कथा-कोष प्रस्तावना, जिनविजयजी-पृ.३.

१०. चैत्यगच्छ यतिव्रात, सम्मतो वसतान् मुनिः।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्यं तदसम्मतैः॥ (७६)
(प्रभावक-चरित्र, पृ. १६३)

११. वल्लभ-भारती-महो. विनयसागर, पृ.१७.

१२. जैन धर्मनी प्राचीन अने अर्वाचीन स्थिति-श्रीमद् बुद्धिसागरजी-पृ.७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्यारहवीं शताब्दी चैत्यवासी यतिजनों के लिए उत्कर्ष की वेला थी।[१३] उस समय चैत्यवास परम्परा विस्तृत रूप में थी। गुजरात, राजस्थान, मारवाड़ सभी क्षेत्रों में उनका प्रभुत्व था।

गुजरात तो चैत्यवासियों का केन्द्र था।[१४] गुजरात की राजधानी अणहिलपुर पाटन थी, जो उस समय सारें भारतवर्ष में एक प्रधान नगरी समझी जाती थी और जो समृद्धि और संस्कृति की दृष्टि से ख्याति रखती थी। वहाँ जैन धर्म के सैंकडों देवमंदिर बने हुए थे। हजारों की संख्या में जैन श्रावक रहते थे। व्यापार-वाणिज्य में जैनों का स्थान ऊंचा था। विमल मंत्री जैसे अनेक श्रावक उस नगर में निवास करते थे।[१५] चैत्यवासी आचार्य अधिक संख्या में एक साथ वहाँ रहते थे। चैत्यवासी यतिजनों का व्यावहारिक विषयों में बहुत कुछ योगदान रहा है। फिर भी चैत्यवासी परम्पराने जैन संस्कृति की उज्जवलता को निर्विवाद रूप से क्षति पहुँचायी है। ऐसे शिथिलाचारी यतियों का समाज पर आधिपत्य होने पर भी सच्चे श्रमण धर्म का पालन करने वाले मुनियों का भी अभाव न था। ऐसे अनेक श्रमणों ने चैत्यवासियों के विरुद्ध क्रांति मचाई। इसमें आमूल-चूल परिवर्तन करने का श्रेय "आचार्य जिनेश्वरसूरि" को है जो ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध वि.सं.१०८० में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ कर के प्रथम वार विजयी बने।[१६] चैत्यवासी आचार्य पराजित हुए, तभी से सर्वप्रथम गुजरात में "वसति मार्ग" की स्थापना हुई।[१७]

खरतरगच्छ के प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वरसूरि जी ने चैत्यवासियों के विरुद्ध क्रान्तिकारी कदम उठाए। उसमें उन्हें सफलता मिली। आचार्य जिनेश्वरसूरि जी के पश्चात् आ. श्री अभयदेव सूरि जी, और आ. जिनवल्लभसूरि ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन चालू रखा।

---

१३. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास-पृ.५९.
१४. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, पृ.१५१.
१५. कथाकोष-प्रकरण-जिनविजयजी, पृ.३.
१६. खर. वृद्धाचार्यप्रबन्धावली, जिनविजयजी, पृ.९०
१७. खरतरगच्छ युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-आचार्य जिनविजयजी-४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मारवाड़ में भी चैत्यवासियों का प्रभुत्व था। चैत्यवासियों के विरुद्ध में श्री अभयदेव सूरि जी के शिष्य जिनवल्लभ सूरि जी ने भी कदम उठाये। उन्हों ने आगमों का आधार ले कर कवित्व शक्ति के बल पर चैत्यवास का खंडन किया।

अपनी कृति ''संघपट्टक''में उन्हों ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार और सूत्र विरुद्ध प्रवृत्ति का कडा विरोध किया। आपने विधि-चैत्यों की प्रतिष्ठा करवायी, श्रावकों को आयतन विधि (विधि पक्ष) का उपासक बनाया। जिनमंदिर में रात्रि के समय नैवेद्य, रास, नृत्य आदि के निषेध के लिए शिलालेखों के रूप में विधि अंकित करवा दी। [१८]

बारहवीं शताब्दी में शिथिलाचार का प्रभुत्व था। वि.सं.११४७ में नाडोल चौहान नृपति जोजलदेव ने आज्ञा घोषित करवायी कि वेश्याएँ परिवार सहित मंदिर में यात्रा करें। जिनवल्लभसूरि जी ने उसका विरोध किया, [१९] तथा चैत्यवास के उन्मूलन में अथक प्रयास किया।

आ. श्री. जिनवल्लभसूरि के बाद आ. श्री जिनदत्तसूरि जी और श्री जिनपति सूरि जी ने सुविहित मार्ग का प्रचार जारी रखा। जिन्हों नें अपने प्रखर-पाण्डित्य, प्रकृष्ठ चारित्र और प्रचण्ड व्यक्तित्व के प्रभाव से गुजरात, राजस्थान, मेवाड़, वागड़, सिन्ध और दिल्ली तक के प्रदेशो में अपने नये-नये भक्त बनाये। इन्हों ने स्थान-स्थान पर अपने पक्ष के नये जिनमंदिर और जैन-उपाश्रय तैयार करवाये। परिणाम स्वरूप वसतिवासी मुनियों में तथा जैन समाज में सुसंस्कारो का बीजारोपण हुआ।

इस तरह जिनेश्वरसूरि और उनके शिष्य समुदाय जिनका मुख्य ध्येय चैत्यवासी जैसी विकृत परम्परा का उन्मूलन करना और सुविहित मार्ग का प्रचार करना ही मानों हो गया।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में जैन यति वर्ग में नूतन युग की उषा का आभास होने लगा था जिसका प्रकट प्रादुर्भाव जिनेश्वरसूरि के गुरु वर्धमान सूरि के क्षितिज पर उदित होने पर दृष्टिगोचर हुआ।

---

१८. देखें-चर्चरी, उपदेशरसायनरास।

१९. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास-१६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेश्वर सूरि की महान् सेवाओं के साथ-साथ उनके गुरु वर्धमान सूरि तथा उनकी शिष्य-परम्परा में आनेवाले विद्वान प्रभावक आचार्यों के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालना जरूरी है, कारण कि-इन आचार्यो ने भी चैत्यवासी विकृतियों को दूर कर के श्रमण संस्था को संयमशील बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। इस आचार्य परम्परा के श्रमणों द्वारा प्रदत्त योगदान का वर्णन विस्तृत रूप से आगे है।

आचार्य वर्धमानसूरि

चैत्यवास ने जैनधर्म की जो विडंबना की थी उसे देख कर कई चैत्यवासी यतिजनों के मन में भी क्षोभ उत्पन्न होता था। परन्तु उसका प्रतिकार करने का साहस विरले ही कर सकते थे। ऐसे साहसी और सच्चे यतियों में श्री वर्धमानसूरि जी का नाम अग्रगण्य है।

''गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्ति'' तथा ''युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि'' और ''प्रभावक चरित'' के अनुसार आ. श्री वर्धमान सूरि जी के जन्म एवं गृहस्थ जीवन सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

आचार्य वर्धमानसूरि के गुरु आचार्य जिनचंद्र थे, जो अभोहर देश के चौरासी चैत्यों के अधिपति थे।[२०] अर्थात् वे चैत्यवास परंपरा के आचार्य थे।

श्री वर्धमानसूरि जी को सम्यक् शास्त्रज्ञान प्राप्त होने से, चैत्यवास के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई। विशुद्ध संयम-जीवन बिताने के लिए उन्होंने गुरु से आज्ञा मांगी। गुरुजी ने सोचा कि इसके विचारों में परिवर्तन लाने के लिए उसे ही जिम्मेदारी सौंप दूँ। अतः गुरु ने उन्हें आचार्यपद पर स्थापित किया।[२१] फिर भी वर्धमानाचार्य का मन प्रलोभन में न आया। अन्त में उन्हों ने गुरुआज्ञा ले कर दिल्ली, वादली प्रदेशों की ओर प्रस्थान किया। दिल्ली में वे चारित्रनिष्ठ आचार्य ''उद्योतनाचार्य जी'' से मिले, उन्हीं के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की। उद्योतनाचार्य जी ने आ. वर्धमान की योग्यता-पात्रता देख कर उन्हें आचार्यपद पर विभूषित किया।[२२] अब ''आचार्य वर्धमानसूरि जी'' पर संघ संचालन की जिम्मेदारी बढ गई।

---

२०. (क) खरतरगच्छपट्टावली-२ श्री जिनविजयजी, पृ. २०
(ख) देखें-प्रभावक चरित-(अभयदेवसूरि चरितपद्य ३३-३४, पृ. १६२)

२१. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-आचार्य जिनविजयजी-१.

२२. वही-१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपने आबू तीर्थ पर मंत्रीश्वर विमलशाह के द्वारा निर्मित भव्य मंदिरों की प्रतिष्ठा करायी।[२३]

''आचार्य वर्धमानसूरि जी''की ज्ञान-प्रखरता तथा चारित्रनिष्ठा से संघ अत्यंत प्रभावित था। आचार्य वर्धमानसूरि जी शास्त्रार्थ में भी निपुण थे। आपकी साहित्य सेवा भी अति प्रशंसनीय है। कथा-साहित्य में आपका विशेष प्रदान है। आप के द्वारा रचित ''उपदेशपद टीका'' एवं ''उपदेश माला बृहद्वृत्ति'' उपलब्ध है।

आचार्य वर्धमानसूरि का स्वर्गवास कब हुआ उसका निश्चित संवत् तो नहीं मिलता है। फिर भी आबू तीर्थ की प्रतिष्ठा पश्चात् आपने अनशन कर के देवगति प्राप्त की ऐसे उल्लेख मिलते हैं।[२४] आपके नामोल्लेख वाला प्रतिमालेख कटिग्राम में सं.१०४९ का मिला हैं।[२५] आपने सं.१०२६ में संचेती और १०७२ में लोढा और पीपाडा गोत्रो की स्थापना की।[२६]

आचार्य वर्धमानसूरि जी ने स्वयं चैत्यवास का त्याग कर के विशुद्ध संयमित जीवन-व्यतीत किया। लेकिन चैत्यवास के विरोध में कोई ठोस कदम नहीं उठाये। परन्तु अपने शिष्य ''जिनेश्वरसूरि'' को इस कार्य में प्रेरित किया। ''जिनेश्वरसूरि'' ने एक महान और अद्भुत कार्य किया। आप चैत्यवास का उन्मूलन करने में सक्षम रहे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि-यद्यपि उपरोक्त कार्य में आपने स्वतंत्र रूप से अधिक अधिभार न ग्रहण करके, श्री जिनेश्वर सूरि जी के कार्यो में भरसक और महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। आपके द्वारा प्राप्त सहयोग और प्रेरणा की विशेष चर्चा श्री जिनेश्वरसूरि के जीवन संबंधी निम्न लेखन में की गई है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि

आचार्य जिनेश्वरसूरि के जन्म संवत् की निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। 'प्रभावकचरित'के अनुसार जिनेश्वर का नाम श्रीधर था।[२७] आप मध्यदेश अर्थात् वर्तमान उत्तरप्रदेश के निवासी थे। आपके पिता का नाम कृष्ण था, जो जाति से ब्राह्मण थे। आपके अनुज का नाम श्रीपति था। दोनों भाई बड़े प्रभावशाली और मेधावी थे। देशाटन के लिए दोनों धारानगरी पहुँचे।

---

२३. खरतरगच्छ पट्टावली-२-जिनविजयजी-२१. २४. वही।
२५. ओसवाल जाति का इतिहास-सुखसम्पतराजजी भण्डारी, पृ.२९ २६. वही।
२७. जिनेश्वरसूरि का जीवन देखने के लिये प्रभावक चरितान्तर्गत अभयदेवसूरि चरित पद्य ३१ से ९० तक देखें पृष्ठ-१६२-१६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी नगर में धर्मिष्ठ लक्ष्मीपति श्रेष्ठी रहते थे। दोनों भाईयों से सेठ प्रभावित हुए। सेठ के अधिक आग्रह पर दोनों उनके घर रहने लगे। दोनों भाईयों की स्मरणशक्ति प्रखर थी।

एक दिन उन दोनों भ्राताओं को सेठ लक्ष्मीपति वर्धमानसूरि जी के पास ले गये, आचार्य भी दोनों भाईयों से प्रभावित हो गये। सत्संग का प्रभाव बढा, दोनों दीक्षित हुए। थोड़े ही समय में दोनों शास्त्रों में पारंगत हो गये। वर्धमानाचार्य ने योग्यता देख कर दोनों को आचार्यपद प्रदान किया। अब वे जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। वर्धमानसूरि ने दोनों की योग्यता देख कर, चैत्यवासियों के मिथ्याचार का प्रतिकार करने के लिए उन्हें प्रेरित किया और आदेश दिया कि वे अणहिलपुर पत्तन जाएँ और सुविहित साधुओं के लिए जो विघ्न बाधाएँ है, उनको अपनी शक्ति और बुद्धि से दूर करें। अतः दोनों विहार कर अणहिलपुरपत्तन पहुँचे। [२८]

उस समय पाटन में चैत्यवासियों का विशेष प्राबल्य था। सुविहित साधुओं को वहाँ ठहरने के लिए स्थान तक नहीं मिलता था। घूमते-घूमते अंत में दोनों राजपुरोहित के घर पहुँचे। पुरोहित साधुओं की विद्वत्ता पर मुग्ध हो गया। महात्माओं ने अपनी सारी कठिनाई पुरोहित के सामने रखी। पुरोहित ने उन्हें अपनी चन्द्रशाला में रहने का स्थान दिया। वहाँ पर रह कर वे दोषों से रहित निस्पृह भिक्षाग्रहण करते थे।

''गणधरसार्द्धशतक'' तथा ''युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि'' में इस प्रसंग को कुछ अलग बताया है :- वर्धमानसूरि अपने सत्तरह शिष्यों को साथ ले कर भामह नामके व्यापारी के संघ के साथ चले। क्रम से विहार करते हुए अणहिलपुर पत्तन पहुँचे। वहां कहीं रुकने का स्थान न मिला। गुरु आज्ञा ले कर, राजपुरोहित के घर पहुँचे। पुरोहित को आशीर्वाद दिया। उसे सुन कर पुरोहित खुश हुआ। उसने सोचा कोई विचक्षण व्रती मालूम होते हैं। पुरोहित ने पूछा-'कहां से पधारे, कहां रुके हैं ?'

'हम दिल्ली से आये हैं, इस देश में हमारे विरोधी यतिगण होने के कारण कोई स्थान नहीं दे रहा है।'

---

२८. प्रभावक चरित-अभयदेवचरित के पद्य ४३, ४४, ४५, पृष्ठ-१६२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरोहित ने चतुःशाला में रहने का स्थान दिया। पुरोहित के यहाँ ''वसति-निवासी कोई नवीन साधु आये हैं।'' यह जान कर चैत्यवासियों ने वसतिवासी मुनियों का प्रतिकार किया। सम्पूर्ण शहर में चर्चा फैला दी कि ''मुनिरूप में गुप्तचर आये हैं।'' यह बात राजा दुर्लभराज तक पहुँची। राजा ने राज पुरोहित को बुलाया-'इन धूर्तलोगों को तुमने क्यों स्थान दिया है ?'

पुरोहित ने कहा-'यह बात गलत है। मेरे मकान में जो महात्मा ठहरे हैं, वे साक्षात् धर्म की मूर्ति हैं। इन साधुओं पर जो भी दोष लगाया गया है, उसे जो भी सिद्ध करेगा उसे मैं एक लाख पारुत्थ (एक प्रकार की मुद्रा) ईनाम में दूंगा।' [२९]

''प्रभावकचरित'' के अनुसार कहा जाता है कि पुरोहित ने राजसभा में कहा कि 'मैंने केवल गुण-ग्राहकता की दृष्टि से इन साधुओं को आश्रय दिया। चैत्यवासियों ने इनका बहुत अपमान किया है। इसमें यदि मेरा अपराध हो तो मुझे शिक्षा दें।'

मत्पुरे गुणिनः कस्माद् देशान्तरत आगताः।
वसन्तः केन वार्येत को दोषस्तत्र दृश्यते॥'

चैत्यवासियों ने श्रमणों का विरोध करते हुए राजा को याद दिलाया कि महाराजा वनराज के समय ''वनराज-विहार'' नामक मंदिर की स्थापना कर के यह व्यवस्था की गई थी कि- ''यहां केवल चैत्यवासी यतिजन ही ठहर सकते हैं।''

राजा ने कहा-'गुणीजनों का सन्मान तो अवश्य होना चाहिए।' उसने एक उपाश्रय बनाने के लिए एक ब्राह्मण को नियुक्त किया। संभवतः उसी समय से वसतियों अर्थात् उपाश्रयों की व्यवस्था शुरू हुई। [३०]

''गणधरसार्द्धशतक वृत्ति'' तथा ''युगप्रधान गुर्वावलि'' के अनुसार-चैत्यवासी लोगों ने नूतन मुनियों को नीचा दिखाने के कई प्रयत्न किये। अन्त में चैत्यवासी और वर्धमानाचार्य मुनियों का दुर्लभराजा के समक्ष शास्त्रार्थ करना निश्चित हुआ। ८४ चैत्यवासी तथा वर्धमानसूरि शिष्य सहित राजसभा में पधारे। राजा दुर्लभराज ने दोनों पक्षों का सन्मान ताम्बूल से किया तो चैत्यवासियों ने सहर्ष तांबूल स्वीकार कर लिया। [३१]

---

२९. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृ.२.

३०. ततः प्रभृति सञ्जज्ञे वसतीनां परंपरा।
महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः॥ (प्रभावकचरित-अभयदेवसूरिचरित-८९)

३१. चैत्यवासी यति तांबूलभक्षण भी करते थे, जो कि जैन श्रमणों के लिए निषद्ध है। देखें-खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम खण्ड, विनयसागर-पृ.७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब वर्धमानसूरि को ताम्बूल भेंट किया तो वर्धमानसूरि बोले- "राजन् ! साधुओं को तांबूल खाना उचित नहीं है क्यों कि-

"ब्रह्मचारी यतीनां च विधवानां च योषिताम् ।
ताम्बूल-भक्षणं विप्रा गो-मांसान्न विशिष्यते ॥"

(अर्थात् ब्रह्मचारी, यति और विधवा स्त्रियों को ताम्बूल भक्षण करना गो मांस के समान है ।)[३२]

यह सुन कर उपस्थित सभाजन आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो गये । वर्धमानसूरि जी ने कहा कि-जिनेश्वरसूरि शास्त्रार्थ करेंगे । शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों की ओर से सुराचार्य प्रमुख वादी थे । उन्होंने कहा-"जिनगृह वास ही मुनियों के लिए समुचित है और वहीं पर निरपवाद ब्रह्मव्रत का पालन संभव हो सकता है" अर्थात्-वसतिवास अपवाद से रहित नहीं है, इस लिए त्याज्य है । सूराचार्य ने अनेक युक्तियों द्वारा चैत्यवास का समर्थन किया ।

तदन्तर जिनेश्वरसूरि ने कहा कि 'गणधर रचित ग्रंथ ही प्रमाणभूत हैं । परन्तु हमारे पास ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं ।' अंत में चैत्यवासियों के मठों से सिद्धांतग्रंथ मंगाये गये । प्राप्त ग्रंथों में प्रथम जिनेश्वरसूरि जी के हाथ दशवैकालिक ग्रन्थ आया । उसमें सर्वप्रथम गाथा निकली-

अन्नट्ठं पगडं लेणं, भएज्ज सयणासणं ।
उच्चार-भूमि-संपन्नं, इत्थी-पसु-विवज्जियं ॥

(दशवै. सू. ४३९)

(अर्थात्- साधु को ऐसे स्थान पर रहना चाहिये, जो स्थान साधु के निमित्त नहीं, किंतु अन्य किसी के लिए बनाया गया हो, जिसमें खाने-पीने और सोने की सुविधा हो, जिसमें मल-मूत्र त्याग के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित हो, जो स्त्री, पशु आदि से वर्जित हो ।)

इस प्रकार की वसति में साधुओं को रहना चाहिए, न कि देवमंदिर में ।

इस तरह जिनेश्वर सूरिने युक्तिपूर्वक चैत्यवास का खंडन करते हुए वसतिमार्ग का प्रतिपादन किया ।

---

३२. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृ. ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होनें अत्यंत स्पष्ट और कटु शब्दों मे कहा- 'चैत्यवास का कलुषित वातावरण मुनि जीवन के लिए सर्वथा असंगत है।'

जिनेश्वरसूरि की वाक्-पटुता, तर्कशैली और प्रकाण्ड-पाण्डित्य से प्रतिपक्ष हतप्रभ-सा हो गया। तथा सभा मे बैठे पंडित और विद्वान् सभी प्रभावित हुए।

जिनेश्वरसूरि ने अपनी औजस्वी वाणी के द्वारा चैत्यवास पक्ष का खंडन किया तथा वसतिमार्ग का प्रतिपादन किया।

पट्टावलियों के अनुसार-

वि.सं. १०८० में चैत्यवासियों के साथ जिनेश्वर सूरिने दुर्लभराजा की राजसभा में वाद-विवाद किया। फलतः चैत्यवासी पराजित हुए और जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ करके विजयश्री प्राप्त की।[३३]

क्योंकि चैत्यवासी शास्त्रोक्त विधि का पालन करने में असमर्थ थे, उनका चरित्र जैनागमों से विरुद्ध और दूषित था और उनके पक्ष में सत्य न था यह बात समझते हुए महाराजा दुर्लभराजा ने कहा- कि "जिनेश्वर सूरि का पक्ष खरा" अर्थात् सत्य प्रमाणित है। तभी से उनका समुदाय खरतरगच्छ नाम से प्रसिद्ध हुआ।[३४]

इस प्रकार गुजरात में "वसतिमार्ग" का सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ।[३५]

---

३३. खर. वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि-जिनविजयजी-पृ. ९०.
"दस सय चउवीसे ? वच्छरे ते आयरिया
मच्छरिणो हारिया" (जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध, पृष्ठ-९०)

३४. (क) अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृष्ठ-११६.
(ख) वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि-जिनविजयजी-९०.
"रन्ना तुट्ठेण "खरतर" इह विरुदं दिन्नं। तओ परं खरतरगच्छो जाओ॥"
(उद्धघृत वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि-जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध)
(ग) गणधरसार्द्धशतक, पद्य ६५, ६६.
(घ) सुगुरु-पारतन्त्र्य स्तोत्र पद्य-१०.

३५. (क) कथाकोष प्रकरण-जिनविजयजी-पृ.३०
(ख) खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृ.४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावकचरित के अनुसार शैवाचार्यने "त्रिपुरुषप्रासाद" नामक शिवमंदिर के पास ही "ब्रीहि हट्टी" में उपाश्रय निर्माण हेतु स्वीकृति प्रदान की और एक उपाश्रय का निर्माण करवाया।[३६] महो. विनयसागरजी के मतानुसार- सम्भवतः इसी समय से वसतियों अर्थात् उपाश्रयों की परम्परा शरू हो गई।[३७]

जिनेश्वरसूरि खरतरगच्छ के प्रथम आचार्य हुए। इस तरह तत्कालीन विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से जिनेश्वर सूरि के जीवन कार्य ने इस युग परिवर्तन को सुनिश्चित मूर्त स्वरूप दिया। उनके अनुगामी समुदाय को "खरतरगच्छ" ऐसा नूतन नाम प्राप्त हुआ। तदन्तर यह समुदाय इसी नाम से अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ। जो आज तक अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है।

आचार्य जिनविजयजी के अभिमत से :-

"इस खरतर गच्छ में अनेक बड़े-बड़े प्रभावशाली आचार्य, बड़े-बड़े विद्यानिधि उपाध्याय, प्रतिभाशाली पण्डित मुनि, कर्मठ यतिजन हुए। इन विद्वानों की छोटी-बड़ी हज़ारों ग्रंथ-कृतियाँ जैन-भण्डारों में उपलब्ध हो रही हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों की की हुई यह साहित्योपासना न केवल जैनधर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु समुचे भारतीय साहित्य और संस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है।"[३८]

"खरतरगच्छ" के गौरव को प्रदर्शित करने वाली पट्टावलियाँ, युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, खरतरगच्छ का इतिहास, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, खरतर गच्छ का आदिकालीन इतिहास, औसवाल-वंश आदि के अध्ययन से विस्तृत गच्छ गौरव की यशोगाथा का परिचय प्राप्त हो सकता है।

सचमुच में जिनेश्वरसूरि की महान् सेवाओं के साथ-साथ उनकी शिष्य सन्तति ने भी जैन धर्म के लिए अद्भुत महान् कार्य किये हैं।

आचार्य जिनेश्वरसूरिजी की वाक्-पटुता के साथ-साथ साहित्य सर्जन में भी उनका काफी योगदान रहा है। साहित्यसर्जन के क्षेत्र में आप अप्रतिम प्रभाव वाले रहे हैं। जिसका अवलोकन अग्रिम वर्णन के आधार पर किया जा सकता है।

---

३६. प्रभावक चरित-अभयदेव-चरित-पद्य ८६ पृ.१६३.

३७. वल्लभ-भारती-महो. विनयसागरजी-पृ.२४.

३८. कथा-कोष प्रकरण-जिनविजयजी-पृ. ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेश्वरसूरि ने कथात्मक, विवरणात्मक एवं प्रमाण विषयक अनेक ग्रंथों की रचना की है। आपके द्वारा रचित निम्न साहित्य उपलब्ध है :-

(१) आपने हरिभद्रसूरिकृत अष्टक प्रकरण की ३३७४ श्लोक परिमाण विस्तृत टीका रची। हरिभद्रसूरिजी का यह "अष्टक प्रकरण" ८-८ श्लोकों का एक छोटा स्वतंत्र प्रकरण ऐसे ३२ प्रकरणों का संग्रहात्मक संस्कृत ग्रंथ है। इस अष्टकों में तात्त्विक, सैद्धान्तिक और आचार - विचार विषयक विचारणा है। जिनेश्वरसूरिजी को इन अष्टकों का अध्ययन मनन अच्छा लगा। इसलिये आपने अष्टकों पर संस्कृत में विस्तृत टीका सं. १०९६ में की है।

(२) अष्टक प्रकरण वृत्ति के १६ वर्ष बाद "चैत्यवंदन विवरण" पर १००० श्लोक परिमाण टीका रची। जिनेश्वरसूरिने चैत्य अर्थात् प्रतिबिम्ब (मूर्ति)को वंदन करके शक्रस्तवादि विशेष सूत्र की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। शक्रस्तवादि का पाठ कैसे, किस तरह करना इस विषय का यहां विवरण किया गया है।

(३) "षट्स्थानक प्रकरण"- जिनेश्वरसूरि ने गृहस्थ के आचार-विचार को लक्ष्य में रखकर यह ग्रंथ बनाया है। इसमें श्रावक के गुणों का वर्णन किया गया है। इसकी मूल दो गाथा उपलब्ध है। लेकिन आपश्रीके शिष्यों ने इस पर विस्तृत संस्कृत टीका रची है।

(४) पंचलिंगी प्रकरण में सम्यक्त्व के ५ लिंग अर्थात् चिह्न (लक्षण) का स्वरूप वर्णन किया गया है। जीवन में उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य इन पांच आन्तरिक भावों का विकास होता है। इसमें सम्यकत्व की चर्चा की गई है। इस कृति से ज्ञात होता है कि आचार्य जिनेश्वरसूरिने अपने अनुयायी श्रावकगण को ये उपदेश देकर कहा कि-इन पाँच मार्गो पर चलकर मुक्ति को प्राप्त करें।

(५) प्रमालक्ष्म अथवा प्रमालक्षण - यह शास्त्रार्थ संग्रह स्वरूप ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जैनदर्शन सम्मत तत्त्व की विस्तार से चर्चा की गई है, और प्रमाण ज्ञान के लक्षण का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। यह अद्वितीय ग्रंथ है। इस में आपश्री की दार्शनिक एवं न्याय परक प्रतिभा का सुचारु दर्शन होता है।

(६) जिनेश्वरसूरि की कृतियों में सबसे बड़ी कृति "निर्वाणलीलावती कथा" थी। १८००० श्लोक परिमाण की यह प्राकृत महाकथा आज उपलब्ध नहीं है। उसका केवल संक्षित संस्कृत रूपान्तर प्राप्त है।[३१] इसे साहित्य संसार की एक बड़ी उपलब्धि

३१. लीलावती सार-संपा.डॉ. ह.यू.भायाणी, ला. द. ग्रंथमाला, अहमदाबाद.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानी जाती है। यह कृति विशद रूप में एक उपन्यास के रूप में अथवा कथा-कोष प्रकरण रूप में थी। इसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर अलग-अलग कहानियों का संग्रह था।

जिनेश्वरसूरि और भाई बुद्धिसागर जी के उपदेशों ने गुजरात तथा अन्य प्रान्तों में जन-जन को प्रभावित किया है।

आचार्य बुद्धिसागरसूरि व्याकरण-क्षेत्र के अनन्य विद्वान थे। श्वेताम्बर आचार्यो में सर्व प्रथम व्याकरणग्रंथ की रचना करने वाले यही आचार्य है। आपका ''पंचग्रंथी'' संस्कृत व्याकरण का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अन्य नाम ''बुद्धिसागर-व्याकरण'' और ''शब्दलक्ष्म'' है। इसकी रचना जाबालिपुर में वि.सं. १०८० में हुई।

दोनों आचार्यो ने जैन दर्शन और व्याकरण साहित्य की जो अभूतपूर्व वृद्धि की है, वह साहित्य संसार के लिए संस्मरणीय है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का शिष्य-समुदाय भी अति-विशाल था। जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, धनेश्वरसूरि, हरिभद्रसूरि, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव गणि, सहदेवगणि, सुमतिगणि, आदि उनके अनेक विद्वान शिष्य थे।[४०]

जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास कब और कहाँ हुआ यह निश्चित नहीं है। वि.सं. ११०८ में आप द्वारा रचित कथाकोष-प्रकरण की वृत्ति प्राप्त है। अतः इसके बाद ही आप नश्वर देह छोड चुके हो ऐसा अनुमान है। तदनन्तर आप देवलोक में पधार गये।[४१]

आ. जिनचन्द्रसूरि आचार्य जिनेश्वरसूरिजी के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरिजी के बृहद गुरू भ्राता, बिराजमान हुए। आप सब शास्त्रों में पारंगत थे। आपने ८००० श्लोक प्रमाणवाले ''संवेगरंगशाला'' नामक महान् ग्रंथ की वि.सं.११२५ में रचना की थी। यह ग्रंथ भव्यजीवों के लिए मोक्षरूपी महल का सोपान है। आपका मन संवेग में रंगा हुआ था, जैसा कि संवेगरंगशाला नामक ग्रंथ से विदित होता है। शांतरस का बड़ा ही सुंदर प्रभावोत्पादक वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। जिनचन्द्रसूरिजी भी जैनधर्म का यथार्थ प्रकाश फैलाकर देवगति को प्राप्त हुए।[४२]

---

४०. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-५.

४१. (क) वल्लभ-भारती-२९
(ख) कथाकोष-प्रकरण-जिनविजयजी-४३.

४२. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृ.६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अभयदेवसूरि

आ. जिनचन्द्रसूरि के पट्टपर गच्छाधिपति के रूप में नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि आये।

प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य अभयदेव का जन्म वि.सं. १०७२ में धारानगर में हुआ। इनके पिता का नाम महीधर श्रेष्ठी और माता का नाम धनदेवी था। उनका अपना नाम अभयकुमार था। बचपन से आप बुद्धिसम्पन्न और मेधावी थे। धारा नगरी में उस समय राजा भोज राज्य करते थे।[४३]

आचार्य जिनेश्वरसूरि वि.सं. १०८० के पश्चात् जाबालिपुर (जालोर) से विहार करते हुए मालव प्रदेश की राजधानी धारानगरी में पधारे। वहाँ आपका प्रवचन प्रतिदिन होता था। प्रवचन सुनने के लिए अभयकुमार अपने पिता के साथ आता था। जिनेश्वर सूरि की वैराग्यमय वाणी सुनकर बालक वैराग्यवान हुआ। संसार की नश्वरता, क्षणिकता समझकर अपने विचारों को दृढ़ किया। वैराग्य का रंग बालक के मन पर चढ़ गया। माता- पिता की आज्ञा लेकर अभयकुमार ने जिनेश्वरसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।[४४] आपका नाम अभयदेव मुनि रखा गया।

आपने आगमों का गहन अध्ययन किया। क्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेव मुनि शासन कमल को विकसित करने के लिए सूर्य समान तेजस्वी प्रतीत होने लगे। आपकी योग्यता और प्रतिभा देखकर आपको गुरु ने आचार्यपद से विभूषित किया।[४५] प्रभावक चरित के अनुसार अभयदेवसूरि ने शास्त्रों एवं सिद्धांतो का गहन अध्ययन किया। वे क्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेवसूरि शासन कमल तो विकसित करने के लिए भास्कर वत् तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[४६]

प्रभावक चरित और युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि आदि ग्रंथों के अनुसार- पत्यपद्रपुर में रात्रि के समय अभयदेवसूरि ध्यानस्थ थे। टीका रचने की प्रेरणा शासन देवी ने दी।[४७] शासनदेवी बोली- 'मुने! आचारांग और सूत्रकृतांङ्ग आगम पर आचार्य शीलांक

---

४३. प्रभावक चरित-अभयदेवसूरि चरित-पद्य ४, ५, ६ पृष्ठ-१६१.
४४. वही ,, पद्य-९५ से ९८ पृष्ठ १६४.
४५. वही ,, पद्य-९९ पृष्ठ १६४.
४६. प्रभावक चरित-अभयदेवसूरि चरित-पद्य ९६ पृष्ठ-१६४.
४७. (क) प्रभावक चरित-अभयदेवचरित-पद्य-१०३ पृष्ठ-१६४.
(ख) खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-जिनविजयजी-६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं कोट्याचार्य टीकाएँ सुरक्षित हैं। अवशिष्ट टीकाएँ काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई हैं। अतः इस क्षतिपूर्ति के लिए संघ हितार्थ टीकाएँ रचने का कार्य प्रारंभ करो।' इस कार्य की पूर्णता के लिए आपने आयम्बिल की तपस्या करने का निश्चय किया।

शासनदेवी ने कहा-'यदि कहीं आपको शंका हो, तो मेरा स्मरण करना, मैं सीमन्धर स्वामी से पूछकर प्रश्नोत्तर दूँगी।'

आचार्यश्रीने टीका-लेखन कार्य प्रारंभ किया। त्योंहि विचार आया कि टीका संशोधन का कार्य सुविहित विद्वानों से कराना उचित नहीं होगा। सुविहित समुदाय की अपेक्षा चैत्यवासी से कराना श्रेयस्कर होगा क्योंकि पू. जिनेश्वरसूरिजीने चैत्यवास का उन्मूलन का कार्य प्रारंभ किया है, उससे चैत्यवासी क्षुब्ध हो रहे है, अतः वे इसे अमान्य कर देगें तथा दूषण ढूढते रहेंगे तो टीकाएँ एकपक्षीय हो जायेगी। इसलिए चैत्यवासी का आश्रय लेकर प्रमाणिकता की मोहर लगवा दूँ। चैत्यवासी द्रोणाचार्य उदारमना थे। वे उस समय प्रधान मुकुट स्वरूप थे। टीका संशोधन का कार्य द्रोणाचार्य को दिया। उन्होनें महान् सहयोग दिया।

आचार्य अभयदेवसूरि और द्रोणाचार्य दोनों परस्पर विरुद्ध परम्परा के होते हुए भी दोनों का एक-दूसरे से धर्मस्नेह था। टीका लेखन में द्रोणाचार्य का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। स्वयं अभयदेवसूरिजीने अपनी टीका ग्रंथों के अन्त में द्रोणाचार्य का साभार सादर उल्लेख किया है।[४८]

पाटण में जिनेश्वरसूरि द्वारा पवित्रित करडिहट्टी में निवास किया। प्रायः सं. ११२० से ११२८ तक में नव अंग की टीका लिखी थी।[४९]

आपने ६०,००० श्लोक प्रमाण साहित्य-रचना की। इन टीकाओं के अतिरिक्त आपने हरिभद्र के "पंचासक" पर सं. ११२४ में धोलका (गुजरात) में टीका लिखी थी।

आपने नव अंग सूत्रों की सुविशद संस्कृत टीकाएँ बनाई। आपकी नवअंगकी टीकाएँ आगम-संरक्षण के लिए अमृततुल्य सिद्ध हुई है।

---

४८. तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद, बोध्यं मध्यस्थयाधिया।
द्रोणाचार्या दिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः॥ (स्थानागवृत्ति, प्रशस्ति ६, पृष्ठ ६००)

४९. (क) खर. युगप्रधानाचार्यगुर्वावलि-जिनविजयजी-७.
(ख)वल्लभ-भारती-महो. विनयसागरजी-३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभयदेवसूरि के जीवन की दूसरी घटना "स्तंभन पार्श्वनाथ प्रतिमा" को प्रकट करने की है। कहा गया है कि-टीकाएँ रचने के समय अधिक परिश्रम और चिरकाल आंयबिल तप के कारण आपका शरीर व्याधिग्रस्त और जर्जरित हो गया। [५०] अनशन करने का विचार करने पर शासनदेवी ने कहा-कि सेढी नदी के किनारे खोखरा पलाश के नीचे भगवान पार्श्वनाथ की स्वयम्भू प्रतिमा है। उस प्रतिमा के आगे भक्ति-भाव से स्तवना करो, आपकी स्तवना से वह प्रतिमा प्रकट होगी। उस प्रतिमा के स्नानजल से आपकी सारी व्याधि मिट जाएगी। सेढी नदी के पार्श्ववर्ती स्थान खोखरा पलाश में पहुँचकर "जयतिहुअणवर" इत्यादि नूतन ३२ पद्यों से पार्श्वनाथ की स्तुति की। [५१] इसी स्तोत्र के प्रभाव से पार्श्वनाथ प्रतिमा प्रगट हुई, और आचार्यश्री का रोग शान्त हुआ। वही मूर्ति आज खंभात मंदिर में मौजूद है।

सुमतिगणि रचित गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्ति, जिनपालोपाध्याय कृत युग. गुर्वावलि, जिनप्रभसूरि कृत "विविध तीर्थकल्प" एवं सोमधर्मरचित "उपदेश-सप्तति" के अनुसार पार्श्वनाथ प्रतिमा का प्रकटीकरण होने के पश्चात् नवाङ्गी टीका रची गई थी। और प्रभावक-चरित्र, प्रबन्ध-चिन्तामणि व पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार-नवाङ्गी टीका पूरी होने के बाद प्रतिमा का प्रकटन हुआ।

इन दोनों कार्यों में से प्रथम कौन सा कार्य हुआ ? इस पर विचार करना आवश्यक है। वल्लभभारती अनुसार -"वह समय चमत्कार का था। प्रतिमा का प्रकटीकरण नवाङ्गी वृत्ति रचना की अपेक्षा साधारण जनता की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व रखता है।

साधारण व्यक्ति भी चमत्कार की जानकारी रखने में अपनी शान का अनुभव करता है, और साहित्यसृजन केवल विद्वान ही जान पाते हैं। इस दृष्टि से पार्श्वनाथ की घटना चमत्कारपूर्ण होने से पूर्व में स्थान प्राप्त कर चुकी है। वस्तुतः नवाङ्ग टीका का कार्य आचार्य ने पूर्व में किया था और आरि उल्लिखित अहर्निश जागणादि कार्यों से आचार्य व्याधि-पीड़ित होने पर स्तम्भनक पधारे और उसी समय वहीं पर पार्श्वनाथ प्रतिमा का प्रगटीकरण किया।

---

५०. आचार्य को क्या रोग था इस सम्बन्ध में सब प्रधन्धकार रोग का नाम पृथक-पृथक लिखते है। प्रभावक चरित के अनुसार रक्तविकार, उपदेश सप्ततिका के अनुसार कुष्ठरोग कुछ भी हो, चाहे रक्तविकार हो चाहे कुष्ठरोग हो यह तो निश्चित है कि आचार्य व्याधि से पिड़ित अवश्य थे।

५१. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृष्ठ-६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक प्रश्न यहाँ अवश्य ही विचारणीय हो सकता है कि आचार्य ने अपने टीका-ग्रंथों के प्रारम्भ और अन्त में महावीर के साथ पार्श्वनाथ का स्मरण किया है, वह भी अधिकता से। इसलिए पार्श्वनाथ स्थापना के पश्चात् ही टीकाओं की रचना की होगी।

यह दलील मानी जा सकती है और नहीं भी, क्योंकि पार्श्वनाथ स्थापना पूर्व भी वे भगवान् पार्श्वनाथ को अपना आराध्य देव समझते हो तो उनका नाम दे सकते हैं। केवल नाम से हम निश्चित करने में असमर्थ है क्योंकि स्थापना के पश्चात् टीका का प्रणयन हुआ हो।''[५२]

आप जैनागमों के ही विद्वान नहीं थे, अपितु तर्क-शास्त्र और न्यायशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे।

आपने अनेक विद्वान् तैयार किये। प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि, देवभद्रसूरि, जिनवल्लभसूरि आदि ने आपही के पास विद्याध्यनन किया था और आपको ही वे अपना गुरु मानते थे।

आचार्य अभयदेवसूरि ''सर्व गच्छ मान्य'' थे। उनका चरित्र खरतरगच्छ की गुर्वावलि-पट्टावलियों के अतिरिक्त आ. प्रभाचन्द्रसूरिने प्रभावक चरित में एक स्वतंत्र प्रबन्ध के रूप में ग्रथित किया है। तपागच्छीय सौधर्म की ''उपदेशसप्तति''में, ''पुरातन प्रबन्ध संग्रह''में, मेरुतुंगसूरि रचित स्तम्भन पार्श्वनाथ चरित्र के अन्त में भी अभयदेवसूरि की कथा दी गई है।

पट्टावलियों के अनुसार अभयदेवसूरिजी का स्वर्गवास सं. ११३५ या ११३९ में कपड़वंज में हुआ।

अभयदेवसूरि की प्रसिद्धि नवांगी टीकाकार के रूप में है पर उन्होनें अङ्गागमों के अतिरिक्त ग्रंथो पर टीकाएँ रची थी। एक टीका उनकी ''उपाङ्ग'' आगम पर है। उन्होनें स्वतंत्र ग्रंथों की रचनाएं भी की थी। साहित्य क्षेत्र में उनका विशिष्ट प्रदान टीका साहित्य है। आपके ''जयतिहुअण स्तोत्र'' का खरतरगच्छ में सान्ध्य प्रतिक्रमण में नियमित पाठ होता है।

---

५२. वल्लभ-भारती पृष्ठ-३४-३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार साहित्यजगत में खरतरगच्छ नभोमणि श्री अभयदेवसूरिजी का योगदान अनुपम और अनूठा रहा है और इतिहास में भी इनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

उनका देह-विलय हो जाने पर भी शासन में उन्होंने सदा के लिए अमरत्व संप्राप्त कर लिया।

आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी की निम्नोक्त रचनाए प्राप्त है :-

	ग्रंथनाम	रचना समय व स्थल	श्लोकपरिमाण
१.	स्थानांग वृत्ति	सं.११२० पाटण	१४२५०
२.	समवायांङ्गवृत्ति	सं. ११२० ''	३५७५
३.	भगवती वृत्ति	सं.११२८ ''	१८६१६
४.	ज्ञानासूत्र-वृत्ति	सं.११२० ''	३८००
५.	उपाशक दशासूत्र-वृत्ति		८१२
६.	अंतकृद्दशासूत्र वृत्ति		८९९
७.	अनुत्तरोपपातिक सूत्र-वृत्ति		१९२
८.	प्रश्न-व्याकरण सूत्र-वृत्ति		४६००
९.	विपाक सूत्र वृत्ति		९००
१०.	उववाइसूत्र-वृत्ति		३१२५
११.	प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी		१३३
१२.	पञ्चाशक सूत्र वृत्ति	सं. ११२४ धोलका	७४८०
१३.	सप्ततिका भाष्य		१९२
१४.	बृहद् वन्दनक भाष्य		३३
१५.	नवपद प्रकरण भाष्य		१५१

उपर्युक्त ग्रंथों पर आपनें टीकाएँ बनाई हैं, इसके अतिरिक्त कतिपय स्तोत्र आदि साहित्य भी उपलब्ध है :-

१६. पंच निर्ग्रन्थी
१७. आगम अष्टोत्तरी
१८. निगोद षट्त्रिंशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९.	पुद्गल षट्त्रिंशिका	
२०.	आराधना प्रकरण	८५
२१.	आलोयणा विधि प्रकरण	२५
२२.	स्वधर्मी वात्सल्य प्रकरण	
२३.	जयतिहुअण स्तोत्र	३०
२४.	पार्श्व-वस्तु स्तव (देवदुस्थिय)	१६
२५.	स्तंभन पार्श्व स्तव	८
२६.	पार्श्व-विज्ञप्तिका (सुरत्नर-किन्नर)	
२७.	विज्ञप्तिका (जैसलमेर भण्डार)	(पत्र २६)
२८.	षट् स्थान भाष्य	१७३
२९.	वीर स्तोत्र	२२
३०.	षोडशक टीका	(पत्र-३७)
३१.	महादण्डक	
३२.	तिथि-पयन्ना	
३३.	महावीर चरित (अपभ्रंश)	१०८
३४.	उपधान-विधि पंचाशक प्रकरण	५०

आचार्य अभयदेव के महत्त्व को व्यक्त करते हुए द्रोणाचार्य कहते हैं :-

आचार्याः प्रतिसद्म सन्ति महिमा येषामपि प्राकृतै-
र्मांतु नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत्।
एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्रज्ञाधनाः साम्प्रतं,
यो धत्तेऽभयदेवसूरिसमतां सो ऽस्माकमावेद्यताम्॥

(युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृ.७)

अभयदेवसूरिजी के गुरु जिनेश्वरसूरिजीने चैत्यवासियों के प्रति क्रान्ति मचाई थी। उसी क्रान्ति की चिनगारियों को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय जिनवल्लभसूरिजी को है। जिनवल्लभ सूरिजी अभयदेवसूरिजी के पट्ट पर आसीन हुए।

आचार्य जिनवल्लभसूरि

श्री अभयदेवसूरिजी के पट्टधर श्री जिनवल्लभसूरिजी थे।

जिनवल्लभसूरिजी के व्यक्तित्व एवं जीवन के बारे में प्रभावकचरितकार एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय जिनपाल के उल्लेखानुसार उस समय आसिका नामक नगरी में कूर्चपुर गच्छीय ः न्यवासी जिनेश्वर आचार्य के पास बालक वल्लभ पढने आता था।[५३] बालक मेधावी औ प्रतिभासम्पन्न था। जिनेश्वर बालक के प्रति आकृष्ट हुए। जिनेश्वर ने बालक को आकृत करके, दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया।

आचार्य ने शिष्य को तर्क, न्याय, व्याकरण सभी विषयों में पारंगत किया। गुरु ने योग्यता देखकर वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किया।

आचार्य जिनेश्वर ने सोचा-कि जिनवल्लभ को सिद्धांत ग्रंथों की शिक्षा दिलाना आवश्यक है। उस समय सिद्धांत ग्रंथों के ज्ञान में अभयदेवसूरि प्रख्यात थे।

गुरुने ज्ञानार्जन करने के लिए पाटण में अभयदेव सूरिजी के पास भेजा। यहां से ''जिनवल्लभ गणि''के नाम से प्रसिद्धि हुई ।

बालमुनि जिनवल्लभगणि को श्रमण जिनशेखर के साथ नवाङ्गी टीकाकार अभयदेवसूरि के पास भेजा गया। वे दोनों गुरु का आशिर्वाद पाकर पाटन पहुँचे। अभयदेवसूरि भी स्फूर्त मनीषा के धनी जिनवल्लभ जैसे योग्य शिष्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने थोड़े ही समय में जिनवल्लभ को सिद्धान्त का पारगामी विद्वान बना दिया। सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनों ने ही यही लिखा है कि उन्होने ''सर्व ज्योतिष शास्त्र'' पढ़े थे।

अभयदेवसूरि के पास अध्ययन समाप्त कर जब ये अपने गुरु के पास जाने लगे तो उन्होने कहा कि सिद्धान्तों के अध्ययन का यही सार है कि ''तदनुसार आचार का पालन किया जाय।''[५४] जिनवल्लभगणि ने अभयदेवाचार्य के चरणों में गिरकर कहा कि ''गुरुदेव ! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूगाँ।'' विद्यागुरु की इस हित शिक्षा की उन्होने गांठ बाँध ली और अपने गुरु जिनेश्वर से मिलकर चैत्यवास का त्याग किया। आज्ञा प्राप्त कर वे पुनः अणहिलपुर पतन गयें और अभयदेवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया। उन्हीं के पास उपसम्पदा ग्रहण की।[५५]

---

५३. ''खरतगगच्छे ''जयतिहुअण'' विणा पडिक्कमणं न लब्भई-उद्धृत वृद्धाचार्य प्रबन्धावली, पृष्ठ ३.

५४. (क) खर. युगप्रधानचार्य गुर्वावलि-८.

(ख) जिनवल्लभ सूरिजी के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये महो. विनयसागर के द्वारा लिखित ''वल्लभ-भारती'' ग्रंथ देखें।

५५. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनवल्लभ मुनि को योग्य समझते हुए भी किसी विशेष परिस्थिति वश अभयदेवसूरि ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त न कर वाचनाचार्य के रूप में स्वतंत्र विचरण करने का आदेश दे दिया। जिनवल्लभमुनि बहुत लम्बे समय तक पाटण के आसपास घूमते रहे। इसके बाद चितौड़ आये और चैत्यवासियों को निरस्त कर कई चमत्कारपूर्ण कार्य किए। चितौड़ में पार्श्वनाथ और महावीर चैत्यों की स्थापना की। तदनन्तर नागपुर और नरवर में भी विधिचैत्य स्थापित किये। मेवाड़, मालवा, मारवाड़ और बागड़ आदि प्रदेशों में इन्होने सुविहित मार्ग का खूब प्रचार किया। इनके ज्योतिष-ज्ञान और प्रवचन शक्ति की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई। धारा नरेश नरवर्म ने एक विद्वान की दी हुई समस्यापूर्ति अपने सभी पण्डितों से न होते देख, दूरवर्ती जिनवल्लभ को भेजी, जिसकी पूर्ति से नृपति बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त बन गए। जिनवल्लभगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्री देवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिम वाक्य स्मरण हो आया। देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थ साधु और विद्वान थे। आचार्य देवभद्रसूरि ने वि.सं. ११६७ आषाढ शुक्ला छठ्ठ को चितौड़ के वीर विधि चैत्य में विधिवत् जिनवल्लभगणि को श्री अभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया।[५६] और इस समय से वे जिनवल्लभसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपके उपदेशामृत सुनकर अनेक भव्यजन मोक्षमार्ग के पथिक बने।

जिनवल्लभसूरि इस पद पर अधिक समय तक न रह सके। अपना अन्तिम समय निकट जानकर तीन दिन का अनशन करके, पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए, वि.सं. ११६७ कार्तिक कृष्ण १२ (बारस)रात्रि के चतुर्थ प्रहर में असार संसार को त्याग कर श्री जिनवल्लभसूरि ने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।[५७]

गणिरूप में जिनवल्लभसूरि ने दीर्घकाल तक जैनशासन की प्रभावना की। आचार्य पद को वे केवल चार मास ही विभूषित कर सके थे।

चैत्यवास के प्रभाव से जैन मन्दिरों मे जो अविधि का प्रवर्त्तन हो गया था उसका निषेध करते हुए, विधि चैत्यों के नियमों को जिनवल्लभसूरि ने शिलोत्कीर्ण करवाया। आपके रामदेव, जिनशेखर, आचार्य जिनदत्तसूरि आदि शिष्य थे। जिनवल्लभसूरिजी अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान थे। न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों के ज्ञाता और साहित्यकार थे।

---

५६. खरतरगच्छ युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, पृ.१४ ५७. वही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनवल्लभसूरि को परवर्ती विद्वानों ने कालिदास के सदृश कवि बतलाया हैं।

उन्होने प्राकृत, संस्कृत आदि विविध भाषामें विविध विषयों पर सैंकड़ों ग्रंथों की रचना की थी।

आपके उपलब्ध ग्रंथों की सूचि निम्न है :-

क्रम	ग्रंथ	भाषा	श्लोकपरिमाण
१.	सूक्ष्मार्थ विचार सारोद्धार प्रकरण	प्राकृत	१५२
२.	आगमिक वस्तु विचार सार प्रकरण	,,	८६
३.	पिण्ड विशुद्धि प्रकरण	,,	१०३
४.	सर्वजीव शरीरावगाहना स्तव	,,	८
५.	श्रावक व्रत-कुलक	,,	२८
६.	पौषधविधि प्रकरण	,,	
७.	प्रतिक्रमण समाचारी	,,	४०
८.	द्वादश-कुलक	,,	२३३
९.	धर्म-शिक्षा प्रकरण	संस्कृत	४०
१०.	सङ्घ-पट्टक	,,	४०
११.	स्वप्न-सप्ततिका	प्राकृत	७१
१२.	अष्टसप्तति अपरनाम चित्रकुटिय-वीर चैत्य प्रशस्ति	संस्कृत	७८
१३.	प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत	,,	६१
१४.	श्रृंङ्गार-शतक	,,	१२१
१५.	आदिनाथ चरित्र	प्राकृत	२५
१६.	शान्तिनाथ चरित्र	,,	३३
१७.	नेमिनाथ चरित्र	,,	१५
१८.	पार्श्वनाथ-चरित्र	,,	१५
१९.	महावीर-चरित्र	,,	४४
२०.	वीर-चरित्र (जय-भववण)	,,	१५
२१.	चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि (भीम भव.)	,,	१४[८]
२२.	चतुर्विंशति जिन स्तुति (मरुदेवी नाभितणय)	,,	९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३.	पञ्च कल्याणक स्तव (सम्मनमिऊण)	प्राकृत	२६
२४.	सर्व जिन पञ्चकल्याणकस्तव (पणय-सुर)	,,	८
२५.	प्रथम जिन स्तव (सयल-भुवणिक्क)	अपभ्रंश	१३
२६.	लघु-अजितशान्ति स्तव (उल्लासिकम)	प्राकृत	१७
२७.	स्तम्भन पार्श्व जिन स्तोत्र (सिरि-भवण)	,,	११
२८.	शुद्रोपद्रवहरपार्श्व जिनस्तोत्र (नमिरसुरासुर)	,,	२२
२९.	महावीर विज्ञप्तिका (सुरनरवर)	,,	१२
३०.	महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका (लोयालोय)	,,	३७
३१.	नंदीश्वर चैत्यस्तव (वंदिय नंदिय)	,,	२५
३२.	भावारिवारण स्तोत्र	समसंस्कृत प्राकृत	३०
३३.	पञ्च कल्याणक स्तोत्र (प्रीत द्वांत्रिश)	संस्कृत	१३
३४.	कल्याणक स्तव (पुरन्दरपुर.)	,,	८
३५.	सर्व जिन स्तोत्र (प्रीति प्रसन्न.)	,,	२३
३६.	पार्श्वजिन स्तोत्र (नमस्यद्वीर्वाणि.)	,,	३३
३७.	,, ,, (पायात्पार्श्व)	,,	९
३८.	पार्श्वजिन स्तोत्र (देवाधीश.)	,,	१०
३९.	,, ,, (समुद्यन्तो.)	,,	२४
४०.	,, ,, (विनयविनमद्.)	,,	१७
४१.	पार्श्व चित्रकाव्यात्मक (शक्तिशूलेषु.)	,,	१०
४२.	सरस्वती स्तोत्र (सरमसलसद्.)	,,	२५
४३.	पार्श्व जिनचकाष्टक (चक्रे यस्यनतिः)	,,	८
४४.	नवकार स्तव (किं किं कप्पतरु.)	अपभ्रंश	१३

यह अनुपलब्ध ग्रंथ है :- (१) आगमोद्धार [५८] (२) प्रचुर प्रशस्ति [५९] चर्चरी टीका में नामोल्लेख मिलता हैं।

---

५८. खरतरगच्छ युगप्रधान गुर्वावलि-१४.

५९. चर्चरी टीका, पृ.१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनवल्लभसूरिजी ने शिथिलाचार का खुलकर विरोध किया। १२ वीं शताब्दी में शिथिलाचार का प्रभुत्व दिखाई देता है। उसे आमूल नष्ट करने में आ. जिनवल्लभसूरि ने आशातीत सफलता प्राप्त की।

आपने बागड़ देश में विहार करके लोगों को प्रतिबोध देकर दस हजार नूतन जैन बनायें। आम जनता पर तो आपका प्रभुत्व था ही, राजाओं पर भी कम नहीं था। राजा नरवर्म, और सिद्धराज जयसिंह जिनवल्लभसूरिजी के अनुरागी थे।[६०]

आचार्य जिनवल्लभ सूरिजी के पट्ट पर आचार्य जिनदत्तसूरि जी पदारूढ़ हुए।[६१]

*****

६०. चर्चरी टीका अनुसार, पृ.१९. अगरचंदजी नाहटा अनुसार एक ही ग्रंथ है।

६१. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास-१६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण - ३ : आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी का जीवन चरित्र

खरतरगच्छ के इतिहास में आचार्य जिनदत्तसूरिजी का स्थान अनुपम एवं अद्वितीय है। उनका 'दादागुरु' उपनाम स्वयं ही इस बात का द्योतक है। उनके जीवनचरित्र विषयक कई छोटे-मोटे ग्रंथ अद्यावधि लिखे गए हैं। यहाँ पर संशोधनात्मक दृष्टि से उनके जीवन और कार्य का संक्षिप्त किन्तु सारभूत विहंगावलोकन किया जाएगा।

खरतरगच्छ पट्टावली, खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, खरतरगच्छ का इतिहास, गणधर सार्धशतक बृहद् वृत्ति, युगप्रधान जिनदत्तसूरि आदि ग्रंथ आचार्य जिनदत्तसूरि के जीवन से सम्बंधित हैं। इनमें आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी के जीवन का विशद रूप से वर्णन किया गया हैं। इन विश्वनीय ग्रंथों के आधार से यहाँ आचार्यश्री का प्रामाणिक जीवन चरित्र दिया गया है।

हमारा ध्येय चरित्रांकन करना ही नहीं है, बल्कि आचार्यश्री के द्वारा, समय समय पर दिया गया उपदेश जो मानव जीवन को ऊँचा उठाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है उसका मूल्यांकन करना भी है।

आप अपने अलौकिक व्यक्तित्व तथा अद्वितीय गुणों व चमत्कारों के कारण जैन जगत में "बड़े दादाजी" के नाम से सुप्रसिद्ध हुए हैं। जैसे भीष्म पितामह अपने अद्वितीय गुणों व अपूर्व व्यक्तित्व के द्वारा कौरवों व पाण्डवों के पितामह थे, उसी तरह आप श्री भी जैन समाज के वस्तुतः दादा ही हैं।

आचार्य श्री अपने समय के अप्रतिम प्रतिभाशाली राष्ट्रसन्त थे। ज्ञान और क्रिया के साथ ही उनमें अद्भुत संगठनशक्ति और निर्माण शक्ति थी। उन्होने अपने प्रखर-पाण्डित्य एवं तेजस्वी उपदेश के प्रभाव से हजारों की संख्या में नये जैन धर्मानुयायी श्रावकों का निर्माण किया। राजस्थान में आज जो लाखों ओसवाल जातीय जैन-जन हैं, उनके पूर्वजों का अधिकांश भाग इन्हीं जिनदत्तसूरिजी द्वारा प्रतिबोधित है। बाद में आचार्य श्री के जो शिष्य प्रशिष्य होते गए, वे भी संघ निर्माण के उद्देश्य से भारत वर्ष के सभी देवस्थान के साथ-साथ सूरिजी के चरणचिह्न अथवा मूर्ति स्थापित करते रहे। ये सब स्थान आज दादावाड़ी के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हैं। आज सैंकडों दादावाड़ी भारत में हैं।[१]

---

१. देखें- दादावाड़ी की विशेष जानकारी के लिये पुस्तक "दादावाड़ी-दिग्दर्शन" - श्री जिनदत्तसूरि सेवासंघ-बम्बई-कलकत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनत्व विस्तार के लिए आचार्य जिनदत्तसूरि युग-युग तक धर्म संघ के आदर्श बने रहेंगे। जिनदत्तसूरिजी का युग खरतरगच्छ के लिए स्वर्ण-युग सिद्ध हुआ था।[२] आपने खरतरगच्छ की सर्वाधिक संवृद्धि की।

जन्म और दीक्षा :-

जगत में जब-जब धर्म की कोई विशेष हानि होने लगती है, तब-तब उसकी रक्षा करने के लिए अवश्य ही किसी महाज्योति-युगप्रधान का अवतार होता है। इस प्राकृतिक नियमानुसार जब जैन धर्म में विशेष क्षीणता पहुँचने लगी, परस्पर साम्प्रदायिक झगड़ों की जड़ जमने लगी, विपक्षियों की ओर से अनेक प्रकार के प्रहार होने लगे और जैनों का आत्म संयम शिथिल होने लगा तब समाज कोई ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा कर रहा था जो कि अपने सामर्थ्य द्वारा जैन धर्म पर घिरे हुए इस विपत्तिरूप बादल का संहार करें।

तब जन्म जन्मान्तरों के संचित पुण्य बल से किसी उर्ध्वतम देवलोक में सुरेन्द्र सा जीवन व्यतीत करती हुई, एक दिव्यात्मा परोपकारार्थ धरती पर आने के लिए प्रस्तुत हुई।

आचार्य जिनदत्तसूरिजी का जन्म गुजरात में अहमदाबाद जिले के अहमदाबाद से ३८ कलोमीटर दूर दक्षिण पश्चिम में स्थित प्राचीन सुप्रसिद्ध एवं समृद्धिशाली नगर धवलक्कपुर (धोलका)[३] में वि.सं.११३२ में हुआ।

इनके पिता हुंबड़ वंशीय जैन थे। पिता का नाम वाछिगशाह और माता का नाम बाहड़देवी था।[४]

इस महान् विभूति द्वारा धोलका नगर ही नहीं सारा गुजरात एवं भारत कृतकृत्य हो गया। पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में मनाये जा रहे जन्मोत्सव से सारा नगर प्रमुदित हो ऊठा।

---

२. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास-महो. चन्द्रप्रभसागर-१७१

३. खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह-२, जिनविजयजी पृ.२४. पट्टावली में "धंधुका" लिखा है एवं प्रामाणिक ग्रंथ गणधर सार्द्धशतक बृहदवृत्ति के अनुसार धोलका ठीक है।

४. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली-जिनविजयमुनि पैरे. २७ पृष्ठ १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्रभक्ति मे लीन माता अपने पुत्र को लेकर, उपाश्रय में वंदन और प्रवचन श्रवणार्थ आया करती थी। बालक के शुभ लक्षणयुक्त पदचिह्नों को देखकर साध्वीजी ने माता से कहा-

''यह बालक धर्म की महान उन्नति करने वाला है। आप इसे शासन को समर्पित कर दें तो बड़ा लाभ होगा। यह एक कुल का दीपक न बनकर विश्व का दीपक बनने वाला है।''

धर्मिष्ठ माता ने सहर्ष स्वीकृति दी और अपने आपको भाग्यशाली समझने लगी।

मुनिदीक्षा :-

वि.सं. ११४१ में नौ वर्ष की अल्पायुमें उपाध्याय धर्मदेव के पास इस होनहार बालकने दीक्षा ग्रहण की।[६]

नवदीक्षित का नाम ''सोमचन्द्रमुनि'' रखा गया।[७]

उपाध्याय जी ने नवदीक्षित मुनि को साध्वाचार आदि की शिक्षा प्रदान करने के लिए ''सर्वदेवगणि'' को आदेश दिया । सोमचंद्र मुनि विधिवत् चारित्र का पालन करते हुए, शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

एक दिन बालमुनि शौच क्रिया के लिए बाहर गये। बालस्वभाव के अनुसार एक पौधा तोड़ दिया । वस्तुतः मुनि को यह ज्ञान नहीं था कि वनस्पति को तोड़ना एक हिंसा है और मुनिजीवन में तो वनस्पति को स्पर्शना भी सर्वथा निषेध है।

सर्वदेवगणि ने यह देखकर कहा ''ये रजोहरण और मुखवस्त्रिका मुझे दो तथा अपने घर जाओ''[८] बालमुनि ने क्षमायाचना करते हुए विचक्षण उत्तर दिया- ''मैं घर तो जाऊँगा किन्तु आप मेरी चोटी जो मेरे मस्तक पर थी वह कृपया वापस दीजिये !''[९] गणिजी निरुत्तर हो गये। उन्हों ने सोचा- अहो यह बालमुनि प्रतिभा सम्पन्न लगता है।

---

६. गणधर सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति- चारित्र गणि, पृष्ठ २४

६. गणधर सार्द्धशतक पद्य-७८, १४८ में उपाध्याय धर्मदेव को धर्मगुरु सम्बोधित किया है।

७. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि-पैरे-२७, पृष्ठ १४

८. गणधर सार्द्धशतक- चारित्रगणि टीकाकार, पृष्ठ २४

९. खर. बृहद् गुर्वावलि- जिनविजयमुनि पैरे.-२७, पृष्ठ १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोमचंद्र मुनि ने पाटण में रहकर न्याय, व्याकरण, आगमिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन किया। बाद में ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। सोम मुनि की प्रतिभा आगमों के अध्ययन से और अधिक निखर रही थी। ब्रह्मचर्य की साधना अद्भुत थी। साधना और विद्वत्ता का उनमें अनन्य संगम था और साथ ही दिल में समन्वय की भावना थी। जहां जाते वहां जनता स्वतः उनके दर्शन के लिए दौड़ी आती थी।

आचार्यपद :-

नवांगी टीकाकार आचार्यश्री अभयदेवसूरिजी के पट्टधर श्री जिनवल्लभसूरिजी ने देवभद्रसूरिजी को पूर्वनिर्देश दे दिया था कि मेरे बाद सोममुनि इस पद के योग्य है। देवभद्रसूरि ने पूर्व संकेतानुसार सर्वसम्मति से सोममुनि को एक पत्र भेजा[१०] "आप चितौड़ शीघ्र पहुँचे क्योंकि आप श्री जिनवल्लभ सूरिजी के पट्ट पर नवीन आचार्य स्थापित किये जायेंगे।" पत्र मिलते ही आप शीघ्र चितौड़ आ पहुँचे।

वि.सं. ११६९[११] वैशाख कृष्णा षष्ठी शनिवार के दिन सन्ध्या के समय आपको शुभ मुहूर्त में चतुर्विध संघ के समक्ष देवभद्रसूरिजी ने चित्तौड़ में महावीर स्वामी विधि-चैत्य में आचार्य पद से विभूषित किया।[१२] आपका नाम "श्री जिनदत्तसूरिजी" रक्खा गया।[१३]

विहार एवं जिनधर्म का प्रचार-प्रसार :-

आचार्य पदवी के पश्चात् आपने सोचा- किधर विहार करूँ। अतः अपने उपकारी हरिसिंह सूरि का "अखंड तेले" की साधना के साथ स्मरण किया। साधना की शक्ति से आकृष्ट हरिसिंहाचार्य जो स्वर्गवासी होकर देव बने थे, उन्होंने प्रगट होकर कहा- "मरुस्थल, मारवाड़, सिन्ध की तरफ विहार करो।[१४] देश-देश में विचरण करके भ्रमित जनता का उद्धार करो।"

---

१०. खर. बृहद् गुर्वावलि-जिनविजयमुनि पैरे.-३०, पृष्ठ १५

११. खरतरगच्छ पट्टावली -२, जिनविजयमुनि पैरे. ४४ पृष्ठ २४. शेरसिंहजी गोडवंशी ने श्री जिनदत्तसूरि चरित्र में जेठ वदी लिखा है। पर वह ठिक नहीं है।

१२. गणधर सार्द्धशतक गाथा-८४ में स्वयं जिनदत्तसूरि ने देवभद्रसूरि को गुरु बताया है।

१३. खर. बृहद् गुर्वावलि-पैरे.३०, पृष्ठ १५

१४. वही, पैरे. ३२, पृष्ठ १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकेत पाकर तत्काल ही उन्होंने उसी क्षेत्र में जाने का निर्णय किया। गुरु आज्ञानुसार मरुस्थल में धर्मदेशना देते हुए नागोर पधारे। जैनसमाज में उस समय आयतन और अनायतन के प्रश्न पर बड़ा मतभेद और झगड़ा खड़ा हुआ था। गुरुदेव ने मात्र इस विषय का समाधान ही नहीं किया, अपितु अपनी लेखनी के द्वारा अनेक कृतियों का निर्माण किया और इस विषय पर शास्त्रीय प्रकाश डाला। "चैत्यवंदन कुलक" जैसी आपकी कृति में आयतन-अनायतन का स्पष्ट वर्णन मिलता है।[१५] उक्त विषय का श्रावकों को आपने ज्ञान दिया। इस तरह जैनजगत के विवादास्पद प्रश्नों का हल करते हुए आपने भगवान महावीर के दिव्य संदेश को घर-घर पहुँचाने का काम शुरू किया।

नागोर से आप अजमेर पधारें। वहां का राजा अर्णोराज आपसे अत्यंत प्रभावित हुआ। उसने जैन धर्मस्थान बनाने के लिए भूमि दान दी।[१६]

अजमेर से आप बागड़ देश पधारें। वहाँ बहुत लोग आपसे प्रभावित होकर जैन धर्म में दीक्षित हुए। तत् पश्चात् आप रुद्रपल्ली पधारे। रास्ते में एक श्रावक व्यन्तर-पीड़ा से पीड़ित था। उसे मुक्त करने के लिये "गणधर सप्ततिका"[१७] जो की आपकी विशिष्ट कृति मानी जाती है उसकी रचना की। उससे श्रावक पीड़ारहित हो गया। रुद्रपल्ली पहुँचने पर वहाँ भी काफी धर्मप्रभावना की तथा आपके उपदेश से अनेक अजैनों ने जैनधर्म अंगीकार किया।

चैत्यवास का विरोध और विधि धर्म का प्रचार :-

आचार्य श्री धर्म का प्रचार करते हुए बागड़[१८] देश में पधारे। आचार्य श्री अपने लक्ष्यमार्ग में आगे बढ़ने लगे। आचार्यश्री के धर्मप्रचार में सबसे बड़ी उपलब्धि थी चैत्यवास की कलंकित परम्परा में फँसे अशुद्ध आचारवाले जैन मुनिओं को विशुद्ध विधिमार्ग में पुनः स्थापित करना। वे अपने उपदेशों में विशुद्ध साधु जीवन की

---

१५. प्रकरण ४(क)देखें। (आयतन- अनायतन के विषय में देखें- चैत्यवंदन कुलक के परिचय)
१६. खर. बृहद् गुर्वावलि- पैरेग्राफ-३२, पृष्ठ-१६.
१७. देखे- प्रकरण ४(क) में गणधर सप्ततिका के बारे में।
१८. देखे-बागड़ शब्द के लिये-युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ २८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या निड़रता से करते थे। अनेकों चैत्यवासी उनकी कठोर चर्या से प्रभावित हुए और अपनी चैत्यवास में प्राप्त सुविधाओं का त्याग करके विशुद्धमार्गी बन गये । अनेक चैत्यवासी आचार्य जिनदत्तसूरिजी के शिष्य बनने के लिए कटिबद्ध हो गये। उस समय के एक प्रसिद्ध चैत्यवासी आचार्य जयदेवाचार्य ने भी दादागुरु के उपदेश से अपने मार्ग को व्यर्थ समझकर त्यागने का निर्णय लिया और गुरुदेव की शरण स्वीकार करने के लिए लालायित हो गये। उन्होंने गुरुदेव के सामने अनेक शंकाए प्रस्तुत की। गुरुदेव ने आगम-सम्मत-शास्त्रों का संदर्भ देते हुए उनका समाधान किया। जयदेवाचार्य सामान्य आचार्य नहीं थे। जयदेवाचार्य अनेकों के मार्गदर्शक और गुरु थे। उनका समर्पण सभी के लिए प्रेरणाप्रद रहा। आचार्य जिनदत्तसूरिजी की विद्वत्ता, साधना और तपस्या से प्रभावित होकर दूसरे भी तत्कालीन चैत्यवासी विमलचन्द्र, गुणचन्द्रगणि आदि ने आपका शिष्यत्व स्वीकार किया और चैत्यवास का त्याग करके वसतीवास की उपसम्पदा ग्रहण कर ली।[१९]

गुरुदेव का शिष्य समुदाय बढ़ने लगा। गुरुदेव ने रुद्रपल्ली में भगवान ऋषभदेव और पार्श्वनाथ जिन मंदिरों की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी। गुरुदेव के प्रवचन जनता को राग से विराग की ओर ले जाने वाले थे। गुरुदेव की अमृतमय वाणी सुनने में जनता तल्लीन हो जाती थी।

गुरुदेव प्रत्येक विद्या में पारंगत थे। चाहे साधना का क्षेत्र हो, चाहे प्रवचन-पटुता का हो, चाहे साहित्य सर्जन का- सभी क्षेत्रों में आप दक्ष थे।

आपने व्याघ्रपुर में आपके एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "चर्चरी" की रचना की।[२०] चर्चरी ग्रंथ के अन्तर्गत जिनमंदिर में क्या-क्या क्रियाएँ करनी चाहिये, किन-किन क्रियाओं से जिनआज्ञा की अवज्ञा होती है और वे अवज्ञाएँ कैसे भव-भ्रमणा को बढ़ा देती हैं- इनका विवरण है। विक्रमपुर में स्वाध्याय प्रेमी श्रावकों के लिये यह चर्चरी ग्रंथ भेजा गया। यह चर्चा एक चैत्यवासी परम्परा में श्रद्धा धरानेवाले प्रतिष्ठित श्रावक देवधर ने सुनी और उपाश्रय में पहुँच कर तुरन्त ग्रंथ को फाड़ दिया। उपस्थित श्रावकों की

---

१९. एक गुरु का शिष्य अन्य गुरु को गुरु के रूप में स्वीकार करता है उसे "उपसम्पदा" कहते है ।

२०. खर. युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-जिनविजयजी-१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आँखों में अश्रु भर आये। लेकिन प्रतिरोध न कर सके। गुरुदेव को भी इस घटनाक्रम से अवगत करवा दिया गया। प्रशांतमूर्ति, करुणा के सागर गुरुदेव ने उसकी धृष्टता को क्षमा किया, पुनः ग्रंथ को लिखा और विक्रमपुर में भेजा। श्रावक पुनः ग्रंथ देखकर अति प्रसन्न हुए।

देवधर ने सोचा-जरूर इस ग्रंथ में विशेषता होगी। ज्योंही ग्रंथ को पढ़ा तो गहरे रस की अनुभूति हुई। उस ग्रंथ के माध्यम से देवधर का जीवनपरिवर्तन हुआ। देवधर पिता के साथ गुरुदेव के दर्शनार्थ नागोर पहुँचा और विक्रमपुर पधारने की भावभरी विनंती की। गुरुदेव ने संघ का अधिक आग्रह देखा और स्वीकृति प्रदान की।

आचार्यश्री विक्रमपुर पधारे। उस समय विक्रमपुर में महामारी की भयानक व्याधि फैली हुई थी। [२१] लोग महाव्याधि के शिकार हो रहे थे। चारों और मृत्यु का ताण्डव मचा हुआ था। जनता त्राहि-त्राहि पुकार रही थी। यज्ञ, हवन आदि समस्त उपायों के बावजूद लाशों के ढेर लग रहे थे। नगरवासी एकत्रित होकर गुरुदेव की शरण में आये, अपनी व्यथा से गुरुदेव को अवगत कराया। नगरवासियों के दुःख से द्रवित होकर दयालु, करुणासागर गुरुदेव ने महाप्रभावक मांत्रिक स्तोत्रों की रचना की। वे स्तोत्र चमत्कार करने में सक्षम थे। गुरुदेव ने मंत्र प्रभाव से रोग का शमन किया। नगर में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। गुरुदेव की करुणा ने सभी को अभयदान दिया। गुरुदेव ने लोगों को जिनशासन का मर्म समझाया। दिव्यदेशना से प्रभावित होकर अनेक आत्माओं ने संसार से विरक्त होकर संयम धारण किया। पट्टावली के अनुसार- माहेश्वरी आदि हजारों लोगों ने जैन धर्म अपनाया। उसी समय एक साथ ५०० साधु और ७०० साध्वियों ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। [२२]

---

२१. खरतर पट्टावली- २- पैरे.- ४४, पृष्ठ- २७

२२. (क) खरतर पट्टावली- २, जिनविजयजी पैरे.- ४४, पृष्ठ- २७

(ख) संवत् १५८२ की सूरि-परम्परा प्रशस्ति में लिखा हैं :-

ये नाथो विक्रमाख्ये विपुल पुरवरेऽवारि मारिः प्रबोध्य।
लोका माहेश्वरीयास्तदपि हि गुरूणां स्थापिता जैनधर्मे॥
तस्मिन्नेव पुरेऽक्षग्रगुणितं साधु व्रतिन्योः पृथग्।
एकस्यामपि दीक्षितं समभुवन्नन्द्यां क्षणात्सोप्यथ॥

(खरतरगच्छ सूरिपरम्पराप्रशस्ति, पृष्ठ- ४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्मी श्रावकों की वृद्धि :

आचार्य जिनदत्तसूरि का दूसरा इतिहासप्रसिद्ध भगीरथ कार्य था अनेक अजैनों को जैन बनाना। वे एक ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने लाख से अधिक लोगों को जैन धर्मी बनाया। जैन परम्परा में आज तक इतनी मात्रा में अजैन गृहस्थों को प्रतिबोध दे कर जैन बनाने का कार्य किसी अन्य ने नहीं किया है।

इन्होंनें सवा लाख नये जैन बनाये, उनको विविध नये गोत्रों की स्थापना करके उन गोत्रों में स्थापित किया।[२३] इस महान कार्य के बारे में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

प्राकृत-प्रबन्धावली में लिखा है कि-जिनदत्तसूरि जी ने ओसियां में लक्षाधिक जैन बनाये थे।[२४]

आचार्यश्रीने सिन्धु प्रदेश में विहार करके एक लाख अस्सी हज़ार घरों को प्रतिबोध देकर ओसवाल बनाया।[२५]

सूरि-परम्परा-प्रशस्ति में लिखा है कि - विक्रमपुर में संख्याबद्ध माहेश्वरी आदि कुटुम्बों ने जैन धर्म स्वीकार किया।[२६]

अगरचंदजी व भंवरलालजी नाहटा के मतानुसार- विक्रमपुर व उसके आस-पास आपके प्रतिबोधित श्रावकों की संख्या लक्षाधिक होगी, कारण कि विक्रमपुर में आपने महामारी रोगोपद्रव शांत किया था उसी समय ५०० पुरुषों और ७०० स्त्रियों ने श्रमण धर्म स्वीकार किया था। वहाँ विशेष धर्म प्रभावना हुई थी इसी लिए उसके आस-पास के क्षेत्रों का प्रभावित होना स्वभाविक मालूम पड़ता है।[२७]

आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने जिन लोगों को जैन बनाया और अलग-अलग गोत्रों में स्थापित किया इन गोत्रों की सूची प्रस्तुत करनेवाला एक प्राचीन पत्र प्राप्त हुआ है। जो इस प्रकार है -

---

२३. सवालाख खरतर जं. यु. भ. जगगुरु पूज्य श्री जिनदत्तसूरि कीधा॥
खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र, और जातियाँ- अगरचंदजी नाहटा, पृ.३१

२४. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.४४

२५. वही, पृ.४५

२६. खरतर पट्टावली संग्रह-जिनविजयजी, पृ.४

२७. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा-४४-४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"श्री सुधर्मासामि परम्परा खरतरगच्छ का भट्टारक जंगम युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि प्रतिबोधित छतीस राजकुली सवालाख श्रावक खरतर तेहना गोत्र लिखतं।" [२८]

इस तरह स्पष्ट है कि आचार्यश्री ने लाखों की संख्या में नये जैन श्रावक बनाये थे और इस तरह जैन धर्म और समाज ही नहीं, समग्र भारतीय समाज को नीति और सदाचारपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर होने का रास्ता दिखाया था।

राजप्रतिबोध :

आचार्यश्री के शील ओर गुणों की ख्याति उस समय के शासक वर्ग में भी फैल चुकी थी। उनके प्रभावक व्यक्तित्व से अनेक तत्कालीन छोटे-मोटे राजा प्रभावित हुए थे। ऐसे राजाओं में अजमेर नगर के राजा अजयराज के पुत्र अर्णोराज का नाम प्रमुख है। अर्णोराज अपने समय के अत्यंत प्रतापी राजा थे। शिवभक्त होते हुए भी वे जैन शासन का सम्मान करते थे।

गुरुदेव के भक्तों ने अर्णोराज से निवेदन किया कि आप गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारें। श्रावकों के साथ अर्णोराज गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुआ। ललाट पर चमक रहे गुरुदेव के ब्रह्मतेज को देखकर अचंभित हो गया। अर्णोराज का एक भयानक दुर्गुण था-वे जिह्वास्वाद के लिए मांसाहार करते थे। गुरुदेव ने उसे धर्म का स्वरूप समझाया और कहा कि अपने क्षणिक आनंद के लिए किसी निरीह प्राणी की हिंसा करना महान् पाप है। हिंसा-अहिंसा का उपदेश सुनकर राजा की आँखें खुल गई। वह पश्चात्ताप करने लगा- 'आजदिन तक जिन प्राणियों की हिंसा की वह उनकी नहीं मेरी हिंसा है। गुरुदेव मेरे गुनाह माफ करो। कृपा दृष्टि हमेशा बनाये रखें।' गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया।

---

२८. (क) खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ
लेखक- अगरचंदजी, भँवरलालजी नाहटा, पृष्ठ. २७

(ख) विशेष गोत्रों की जानकारी के लिये- ओसवालवंश- सोहनराजजी भंसाली द्रष्ट्रव्यम्)

(ग) ओसवाल जाति का इतिहास- सम्पतराज जी भंडारी द्रष्ट्रव्यम्

(घ) महाजन वंश मुक्तावली- उपा. रामलालजी गणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः निवेदित किया- मेरे योग्य कार्य सेवा फरमाइये। श्रावक पास में खड़े थे। उन्होनें निवेदन किया- राजन! एक देवमंदिर निर्माण के लिये भूखण्ड की आवश्यकता है। राजा ने अजमेर में दक्षिण दिशा की और पर्वत के पास में भूखण्ड दे दिया।[२९] श्रावकों ने उस स्थान पर मंदिर बनवाया।

तत्पश्चात् आचार्यश्री त्रिभुवन गिरी पधारे।[३०] उस समय त्रिभुवन गिरी पर यादव वंशी राजा कुमारपाल था। वह सूरिजी की विद्वत्ता से प्रभावित हुआ। आचार्यश्री का अमृतमय उपदेश सुनकर उनका भक्त बना। उसने शांतिनाथ भगवान का विधि-चैत्य बनवा कर आचार्यश्री के द्वारा प्रतिष्ठा करवाई। कुमारपाल महाराजा के प्रतिबोध का वर्णन ''गुरु-गुण-षट्पद'' में लिखा गया है।[३१]

वि.सं. ११७० में चन्देरी के राजा खरहत्थ सिंह राठौर ने गुरुदेव के उपदेश से दयामूल जैन धर्म को अंगीकार किया।[३२]

वि.सं. ११६९ में लोद्रवपुर के भाटी राजा धर और राजधर दोनों ने भी आचार्यश्री से धर्म श्रवण कर १२ व्रत अंगीकार किये।[३३]

रत्नपुरी नरेश धनपाल ने भी आचार्यश्री को चातुर्मासिक वास कराया। और तत्त्वचर्चा से प्रभावित होकर जैन श्रावक बना।[३४] धारा नगरी के राजपूत राजा पृथ्वीधर के पुत्र जीवन और सच्चु वि.सं. ११७७ में प्रतिबोधित हुए।[३५]

---

२९. खर. बृहद् गुर्वावलि- पैरे. ३२, पृष्ठ- १६

३०. यह त्रिभुवन गिरी, वर्तमान मे तहनगढ़ नाम से प्रसिद्ध है और करौली से लगभग २४ मील उत्तर पूर्व में स्थित है। इसे यादवराजा त्रिभुवन कुमारपाल ने बसाया था। कुमारपाल यादव वंश के थे। मुहम्मद गौरी ने सं. १२५२ में त्रिभुवनगिरी का राज्य बृद्ध राजा कुमारपाल से ले लिया था। इनके हाथ से त्रिभुवनगिरी निकल जाने के पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद इन्हीं के वंशज अर्जुनपाल ने करौली बसाई।

३१. (क) जिणि पडिबोहउ कुमरपालु, नरवइ तिहुयणगिरी।
पंच सत्त मुणि नेम जेण, वारिउ देसण करि॥
(ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह श्री गुरु षटपद् पद्य-४, पृ.२)

(ख) इस बात की पुष्टि कर्ता जैसलमेर ज्ञान भंडार में विद्यमान ताड़पत्रिय प्रति के काष्ठ फलक पर आचार्यश्री और कुमारपाल राजा का चित्र मौजूद है।

३२. दादा जिनदत्तसूरि चरित्र एवं पूजा विधि-श्री धर्मपाल जैन, पृ.९

३३. वही, पृ.१० ३४. वही, पृ.११ ३५. वही, पृ.१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाली नगर में राजपूत जाति के काकू और पातक ने वि.सं. ११८५ में जैन धर्म अंगीकार किया।[३६] पुगल का भाटी सोनपोल कुष्ठ रोग से ग्रसित था और पातक ने वि.सं.११८५ में जैन धर्म अंगीकार किया।[३७] पश्चिम पंजाब में मुलताननगर में मूंधरा जाति का महेश्वरी हाथीदान दीवान रहता था। उसके पुत्र को सर्प ने काट लिया, काफी उपचार पश्चात् आचार्यश्री के पास अपने पुत्र को ले गया, गुरुदेव ने मंत्रोच्चार से पुत्र को स्वस्थ किया। इस घटना से दीवान प्रभावित हो गया। उसने जैन धर्म अंगीकार किया।[३८]

इस प्रकार आचार्यश्रीने भिन्न भिन्न स्थानों के राजाओं को प्रतिबोधित कर जिनशासन की वृद्धि की उनको विधियुक्त, सुसंस्कारवान् बनाये। उनको हिंसा से विरक्त किया तथा सभी को भिन्नुट महाजन वंश में स्थापित किया। राजाओं ने जैन धर्म का प्रचार प्रसार किया और अनेक जैन मंदिर बनवाये।

युगप्रधान पद प्राप्ति :-

आचार्य जिनदत्तसूरिजी अपने समय के अनन्य प्रतिभाशाली सन्त थे। उन्हें प्राप्त युगप्रधान उपाधि से भी समझा जा सकता है कि उनका स्थान कितना ऊँचा होगा। उनकी युगप्रधान पदवी के बारे में प्राचीन कृतिओं में एक विशिष्ट कथा मिलती है। खरतरगच्छ पट्टावली[३९] के अनुसार- नागदेव श्रावक के मन में जिज्ञासा हुई- युगप्रधान आचार्य कौन है ? इसका समाधान करने के लिये उसने गिरनार पर्वत पर तीन दिन का तेला किया। तपोबल से अम्बिका देवी प्रगट हुई। देवी ने श्रावक की हथेली पर प्रशस्तिरूप "युगप्रधान" नाम अंकित किया। "जो पढ़ेगा उसे युगप्रधान जानना" नागदेव अनेक आचार्यो के पास घूमता-घूमता अन्त में पाटन आया। पाटन मे जिनदत्तसूरि के सामने हाथ रखा। पूज्यश्री ने स्वप्रशंसा देखकर हथेली पर वासक्षेप डालकर अक्षरों को स्फुटित किया। और पास में बैठे शिष्य को निर्देश किया। तब शिष्य ने श्लोक पढ़कर सुनाया।[४०]

"दासानुदासा इव सर्वदेवा, यदीय पादाब्जतले लुठन्ति।
मरुस्थली-कल्पतरुः स जीयात् युगप्रधानो जिनदत्तसूरिः॥"

---

३६. दादा जिनदत्तसूरि चरित्र एवं पूजा विधि-श्री धर्मपाल जैन, पृ.११
३७. वही पृ. १२
३८. वही पृ.१३
३९. खरतरगच्छ पट्टावली-३ जिनविजयजी, पृष्ठ-५०
४०. वही-२, पैरे.- ४४, पृष्ठ २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अर्थात् - जिनके चरण कमलों में समस्त देव दासानुदास की तरह लोटते हैं, जो मरुस्थली में कल्पवृक्ष जैसे हैं, ऐसे युगप्रधान-युग में प्रधान श्री जिनदत्तसूरिजी की जय हो।)

इस प्रशस्ति को सुनकर नागदेव श्रावक अति प्रसन्न हुआ। इस घटना के बाद सर्वत्र "युगप्रधान [४१] पद" से आचार्यप्रवर प्रसिद्ध हुए।

युगप्रधान पद का वर्णन "खरतर गुरुवर्णन छप्पय"[४२] में इस प्रकार किया गया है -

जिनदत्त नंदहु सु पहु जो भारहम्मि जुगपवरो।
अम्बाएवि पसाया विन्नाउ नागदेवेण॥
नागदेव वरसावएण उज्जिंत चडेविणु।
पुच्छिय जुगवर अम्बएवि उववास करेविणु॥
तसु सत्ति तुट्ठाय तीय, करि अक्खरि लिखिया।
भणिउ ज वाइय पम्ह(?) सय, जुगपवर सु धम्मिय॥
भमिऊण पुहवि अणहिलपुरि जुगपहाण तिणि जाणियउ।
जिणदत्तसूरि नंदउ सुपहु अम्बाएवि वखाणियउ॥[४३]

(खरतर गुरुगुणवर्णन छप्पय पद्य-२३)

शिष्य परम्परा :-

आचार्यश्री का शिष्य प्रशिष्य समुदाय भी विशाल था। ये परम्परा नव शताब्दियों से आजतक चली आ रही है। आचार्यश्री के करकमलों से हजारों ने दीक्षा ली। पट्टावलियों के आधार पर [४३] १५०० साधु, १००० साध्वी जी का उनका समुदाय था। एक बार वागड़ देश में सभी साधु साध्वीजी को बुलाकर आपश्रीने वाचना दी। [४४]

जीवदेवमुनि को आचार्य पदवी दी, प. जिनरक्षित, शीलचन्द्र, स्थिरचन्द्र, वरनाग, रामचन्द्र, मणिभद्र इन सभी को वाचनाचार्य की पदवी दी। श्रीमती, जिनमती, पूर्णश्री, जिनश्री और ज्ञानश्री इन पाँचों को 'महत्तरा' [४५] पदवी से विभूषित किया।

४१. (क) युगप्रधान पद प्राप्ति का उल्लेख गणधर सार्द्धशतक वृत्ति में भी मिलता है।
(ख) खरतगच्छ पट्टवली- ३, पृष्ठ ५०
४२. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह-अगरचंदजी नाहटा- पृष्ठ-३०
४३. खरतर पट्टावली- १, जिनविजयजी, पृष्ठ-१०
४४. खर. बृहद् गुर्वावलि- " , पैरे.- ३५, पृष्ठ- १९.
४५. (क) वही-१९
(ख) गणधर सार्द्धशतक बृहद् वृत्ति-चारित्र सिंह गणि- प्रताकार- २९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपके अनेक भक्त श्रावक श्राविका जैन धर्म के अनुरागी थे। इस तरह शासन की धर्मप्रभावना करते करते अनेक भव्य जीवों को उपदेश देते हुए, जीव दया की उद्घोषणा करते हुए सं. १२११ में आप अजमेर पधारे। आपश्री के पट्टधर शिष्य जिनचंद्रसूरिजी हुए। उनकी दीक्षा सं. १२०३ के फाल्गुन सुदी नवम को अजमेर में हुई।[४६] इनकी प्रतिभा देखकर सूरि महाराज ने वि.सं.१२०५ वैशाख शुक्ला छठ के दिन विक्रमपुर में उन्हें आचार्य पदवी देकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।[४७] उस समय आचार्य महोत्सव का आयोजन और नन्दी महोत्सव रासल श्रेष्ठी द्वारा किया गया था।[४८] आचार्य जिनचन्द्रसूरि [४९] लघुवयस्क होते हुए भी बड़े विद्वान एवं गुरुभक्त थे। वे आचार्यपद के उत्तरदायित्व का गंभीरता से निर्वाह करने लगे। आपने अपने गुरुमंत्रो का सर्वत्र प्रचार और प्रसार किया।

स्वर्गवास :-

आचार्य जिनदत्तसूरिजी भ्रमण करते हुए, विख्यात ऐतिहासिक अजमेर नगर में पधारे। जीवन-पर्यन्त आपने योगबल, तपोबल एवं ज्ञानबल से जिनशासन की उन्नति की। अपना अन्तिम समय निकट जानकर, अनशनव्रत धारण करके, आत्मरमणता में लीन होकर, सर्व जीवों से क्षमा-याचना करके, पंचपरमेष्ठी नवकार-मंत्र का स्मरण करते हुए वि.सं.१२११ [५०] आषाढ सुदी ग्यारस गुरुवार को ७९ वर्ष का आयु पूर्ण कर आप देवलोक में सिधारे। संघ में हाहाकार मच गया। मानों जैन-जगत का देदीप्यमान सूर्य लोप हो गया।

---

४६. खर. बृहद् गुर्वावलि में फाल्गुन सुदि नवम है, लेकिन खरतर पट्टावली-२ में फाल्गुन कृष्ण नवम है।

४७. (क) खर. बृहद् गुर्वावलि- पैरे. ३८, पृष्ठ- २०

(ख) खरतर पट्टावली-२ में वि.सं. १२११ लिखा है, लेकिन सं. १२०५ सही है।

४८. खरतर पट्टावली-२, जिनविजयजी पैरे.- ४४, पृष्ठ- २७

४९. आचार्य जिनचंद्रसूरिजी के बारे में विशेष जानकारी के लिये "मणिधारी जिनचन्द्रसूरि" संपा-अगरचंदजी, भंवरलालजी नाहटा देखें।

५०. खरतर पट्टावली-२ में पैरे. ४४ में पृष्ठ.२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनदत्तसूरिजी के परम भक्त किसी एक देव ने एक समय महाविदेह में विराजित वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी से प्रश्न पूछा-कि है प्रभो ! जिनदत्तसूरिजी महाराज मोक्ष कब जायेगें ? उत्तर में प्रभु ने कहा :- [५१]

भणियं तित्थयरेहिं, महाविदेहे भवंमि तयंमि।
तुम्हाणं तो गुरुणो, मुक्खे सीग्घं गमिस्सति ॥ १ ॥
टक्कलयंमि विमाणे, संपइ सोहम्मकप्पमज्झंमि।
चउपलिओपम-आउ, देवो जावो महड्ढिओ ॥ २ ॥

(तुम्हारे गुरु जिनदत्तसूरि सौधर्म देवलोक के टक्कल नामक विमान में चार पल्योपम की आयुष्य वाले महर्द्धिक देव हुए है। वहाँ से च्यवकर महाविदेह में अवतरित होकर शीघ्र (एकावतारी होकर)मोक्ष में जायेगें ।)

यह बात उसने भरत क्षेत्र में आकर सुनाई। इससे भव्यात्माओं के हृदय आनन्दित हो गये।

सूरिजी के अतिशय प्रताप से अजमेर में जहाँ अग्निसंस्कार किया गया वहां पहनने के वस्त्र, चद्दर, चोलपट्टा तथा मुँहपती अग्नि में जली नहीं।आज भी ये सभी वस्त्र जैसलमेर स्थित "खरतरगच्छाचार्य जिनभद्रसूरि ज्ञानभंडार" में दर्शनीय रूप में विद्यमान है।

आज तक समाज में प्रतिष्ठा :-

गुरुदेव का जीवन साधना के तेज से देदीप्यमान हो रहा था। वे चमत्कार करना नहीं चाहते थे, फिर भी उनकी साधना स्वतः वातावरण में व्याप्त होकर चमत्कारों में परिवर्तित होती जा रही थी। आपका समस्त जीवन चमत्कार पूर्ण था। आप अपना अधिक समय साधना में व्यतीत करते थे। इसी बीच में कई चमत्कार हुए। आपका प्रत्येक चमत्कार जिनशासन की उन्नति को लक्ष्य में रखकर ही था। विविध ग्रंथों में गुरुदेव के निम्न चमत्कार उल्लिखित हैं-

---

५१. इन दोनों गाथाओं को निम्न पुस्तकों में देखे :-
(क) श्री जिनदत्तसूरि चरित्र-प. नेमिचंदयति पृष्ठ १६-१७
(ख) श्री जिनदत्त चरित्र- रा. शेरसिंहजी गौडवंशी पृष्ठ ११२
(ग) श्री जिनदत्तसूरिचरित उतरार्द्धम्-उपा. जयसागरगणि पृष्ठ ४०३
(घ) दादासाहेब की बड़ी पूजा में कर्ता रामऋद्धिसार भी फरमाते है कि-
एक अवतारी कारज सारी मुक्तिनगर में जावे रे।
"बारहसौ इग्योतर दत्तसूरि, अजमेर अनसन ठावे।"
उपज्या सौधर्मा देवलोके सीमंधर फरमावे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तौड़ में वज्रस्तम्भ :-

एकदा गुरुदेव की निगाहें चितौड़गढ़ में स्थित वज्रस्थम्भ पर पड़ी। वज्रस्वामी ने सारे ग्रंथ उसमें सुरक्षित रख दिये थे। उन ग्रंथों को प्राप्त करने के लिये अनेक आचार्यों ने प्रयास किये, किन्तु सफल नहीं हुए। लेकिन आचार्य जिनदत्तसूरिजीने अपने योगबल से ग्रंथ प्राप्त किये। समस्त विद्याओं की सफल साधना करके जिनशासन के अष्ट प्रभावकों में से "सप्तम प्रभावी आचार्य" के रूप में प्रसिद्ध हुए। [५२]

बिजली स्थंभित :-

अजमेर प्रवास के दौरान गुरुदेव की निश्रा में चतुर्दशी का प्रतिक्रमण चल रहा था। प्रतिक्रमण की साधना के बीच ही अचानक बिजलियाँ चमकने लगी। भयंकर गर्जना से लोग भयभीत होने लगे। जहाँ प्रतिक्रमण चल रहा था, बिजली वहीं पर गिर पड़ी। गुरुदेव ने स्तंभिनी विद्या के प्रभाव से उस बिजली को लकड़ी के पात्र में स्थंभित कर दिया। अन्त में विद्युत ने वरदान दिया "जो भी गुरुदेव का स्मरण करेगा, उन पर मैं कभी नहीं गिरूंगी।" [५३] आज भी राजस्थान में बिजली चमकने पर श्री जिनदत्तसूरि की दुहाई दी जाती है। जिससे विद्युत-पात नहीं होता। इसी पर उपाध्याय धर्मवर्धन (जन्म सं. १७००)का अति प्रसिद्ध छन्द प्रचलित है। [५४]

पाँच पीर और बावन वीरों को वश में करना :-

आप भ्रमण करते हुए पंजाब में पधारे। तो एक बार साधना करने के उद्देश्य से पाँच नदियों के मध्य में गुरुदेव आसन लगाकर ध्यान मग्न हो गये। पाँचो नदियों का अधिष्ठायक पीर आपको विचलित करने आया। लेकिन आप अपनी साधना में अडिग रहे। अन्त में देव ने हाथ जोड़कर आपसे क्षमा मांगी। इसी प्रकार बावन वीरों को भी आपने वश में किया। पंजाब में जैनधर्म की दुन्दुभी गुंजाई। [५५]

---

५२. दादा जिनदत्तसूरि चरित्र एवं पूजा विधि, श्री धर्मपाल जैन, पृ.१७

५३. खरतर पट्टावली- पैरे. ७, पृष्ठ-१०.

५४. छन्दः- बावन वीर किये अपणे वस, चौसठ जोगिणि पाय लगाई।
व्यन्तर खेचर भूचर भूतरू, प्रेत पिशाच पलाई॥
बीज तटक्क भटक्क अटक्क रहे जु खटक्क न खाइ।
कहै धर्मसिंह लंघे कुण लीह, दिये जिनदत्त की एक दुर्हाइ। इति
(उपा. क्षमाकल्याणजी से १०० वर्ष पूर्व दीक्षित उपा. धर्मवर्धनजी द्वारा रचित सं. १७६८)

५५. खरतर पट्टावली- १- पृष्ठ- १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौसठ योगनियाँ :-

एक समय उज्जैन में धर्म की प्रभावना के लिये साढ़े तीन करोड़ माया-बीज (ह्रींकार)का जाप प्रारम्भ किया। तब आपको विचलित करने के लिये ६४ योगनियाँ आपश्रीजी के व्याख्यान में आई। आपने अपने ज्ञान-बल से यह बात जान ली और श्रावकों के द्वारा ६४ पट्टो की व्यवस्था प्रवचन में करवा दीं थी।

प्रवचन में योगनियाँ श्राविकाओं का रूप धारण करके आइ। व्याख्यान के पश्चात् जब वे उठने लगी तो हिल न सकीं। अन्त में लज्जित होकर क्षमा याचना करते हुए कहने लगीं- "हम तो आपको छलने के लिए आयीं थी, किंतु आपके तपो-बल से हम स्वयं छल गई।" ऐसा कहके क्षमायाचना कर, भविष्य में धर्म प्रचार में सहायता का वचन देते हुए, सात- वरदान देकर स्वस्थान चली गयी। वे सात वरदान इस प्रकार हैं :-[५६]

(१) आपके साधु प्रायः मूर्ख न होंगे।
(२) साधु-साध्वी किसी की भी सर्प से मृत्यु नहीं होगी।
(३) खतरगच्छवालों की वचन सिद्धि होगी।
(४) अखण्ड ब्रह्मचारिणी साध्वी ऋतुमती न होगी।
(५) आपके नाम स्मरण से बिजली न पड़ेगी।
(६) आपका श्रावक प्रायः धनवान् होगा।
(७) शाकिनी न छलेगी।

---

५६. (क) खरतर पट्टावली- १- पृष्ठ- १०
(ख) खरतर पट्टावली-३ जिनविजयजी पृष्ठ ४९-५०
(ग) कई पट्टावलियों में सात वरदान में थोड़े बहुत परिवर्तन पाये जाते हैं। खरतर पट्टावलियों में इन सात वर देने और उनके फलिभूत होने में सात विधान भी बताये है :-
(१) पट्टधर पंचनदी साधना करें।
(२) आचार्य प्रतिदिन १००० सूरिमंत्र का जाप करें।
(३) खरतर श्रावक उभयकाल सप्त स्मरण पाठ करे।
(४) प्रत्येक घर में क्षिप्रचटी (उवसग्गहर व नवकार) की माला फेरें।
(५) हर महिने में हर घर में २ आंबिल करें।
(६) पदस्थ साधु एकासन करे।
(७) साधु २०० नवकार गिने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनमंदिर के सन्मुख मृत गाय :-

दादा गुरुदेव की प्रवचन शैली का प्रभाव जनगण में बढ़ने लगा तो जैन धर्म की महिमा बढ़ने लगी। उससे चिढ़कर तुच्छ द्वेषी व्यक्ति जैनशासन की निन्दा के लिये षड्यन्त्र रचने लगे। एक दिन किसीने एक मृत गाय को जैन मदिर के सन्मुख फेंक दिया। प्रातः काल पुजारी मृत गाय देखकर सेठ के पास पहुँचा और सारा वृत्तान्त सेठ से कहा-और सेठ ने गुरुदेव के पास जाकर वृत्तान्त कहा, तुरन्त ही गुरुदेव ने परकाय-प्रवेशिनी विद्या द्वारा मृत गाय में जीव संचार कर गाय को निकट शिवालय की ओर भेज दिया।[५७] वहाँ पहुँचते ही गाय गिर पड़ी। संस्कृत की लोकोक्ति चरितार्थ हुई :-

"परस्य खनति गर्तं, तस्य कूपः प्रसज्यते।"

अर्थात् दूसरों के लिये खड्डा खोदने वाले के लिये कुआँ तैयार होता है। अतः षड्यन्त्र करने वालों की बड़ी निन्दा हुई और वे लज्जित होकर क्षमा याचना करने लगे।

अन्धे को दृष्टिदान :-

सूरत में एक समय की बात है। वहाँ के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठिवर्य के पुत्र की नेत्र-ज्योति किसी कारण से नष्ट हो गई थी। सेठ पुत्र की इस पीड़ा से दुःखी था। अनेक उपाय किये, किन्तु सफलता न मिली। अन्त में आचार्यश्री की शरण में आया। गुरुदेव ने मंत्रबल से श्रेष्ठिवर्य के पुत्र के नेत्रों में ज्योति का संचार कर दृष्टि दान किया।[५८]

सर्प-विष विनाश :-

एक बार भरुच नगर के सुल्तान के पुत्र को सर्प ने डस लिया, जिससे वह बेहोश हो गया। अनेक विद्या, मन्त्र, तन्त्र का प्रयोग किया। लेकिन वह विष मुक्त नहीं हुआ। अंत में मृत घोषित कर दिया गया। उसी समय सेठ ने सुल्तान को आचार्य श्री की चमत्कारपूर्ण महिमा का वर्णन किया। सुल्तान तुरन्त पुत्र के शव को आचार्य देव की शरण में ले गया। परोपकारी गुरुदेव ने अपनी तपोमयी शक्ति से विष का विनाश कर सुल्तान के पुत्र में प्राणों का संचार किया।[५९] और जैनशासन की शोभा बढ़ाई।

ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं हैं, जिनसे आचार्यदेव की चमत्कार-मयी तप शक्ति के दर्शन होते है।

---

५७. खरतर पट्टावली ३, पृ.५०

५८. श्री दादा जिनदत्तसूरि चरित्र एवं पूजा विधि-श्री धर्मपाल जैन, पृ.२०

५९. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुदेव के चमत्कार उनके साधक जीवन की सहज परिणति है। जिस प्रकार किसान अन्न उत्पन्न करने के लिए बीज वपन करता है तो अन्न के साथ-साथ घास स्वतः उग जाती है। वैसे ही गुरुदेव के जीवन में चमत्कार अनायास ही घटित होते थे। गुरुदेव के उपरोक्त चमत्कार उनकी सहज सिद्धि के परिणाम थे। उनकी कठोर साधना, संकल्पबल, योगबल और पुण्य के प्रकर्ष परिणाम स्वरूप दैवी शक्तियाँ उन्हें सहज उपलब्ध थी। उनके जीवन की अलौकिक घटनाओं ने चमत्कार का रूप-धारण कर लिया। क्योंकि "पुण्यवान् के पग-पग पर निधान" की कहावतानुसार आपके तपो-बल के प्रभाव से अनेक ऐतिहासिक कार्य होते रहे। उन्हीं कार्यों ने चमत्कार का रूप ले लिया है। सम्पूर्ण चमत्कारों से जिनशासन की अभिवृद्धि एवं अपूर्व प्रभावना हुई।

आचार्यश्रीने धर्मोपदेश के साथ-साथ अपना पर्याप्त समय आत्म साधना, जनकल्याण में व्यतीत किया।

अजमेर स्थित मंदार पहाड़ की उच्चतम चोटी पर अधिकांश समय तक जप, तप, ध्यानादि में लीन होने के कारण उस स्थान पर अब भी आपकी स्मृति रूप में छत्री शाल एवं जल की टंकी विद्यमान हैं।

गुरुदेव का जहां अग्निसंस्कार हुआ था वहां पर वि.सं. १२११ में आपके पट्टधर शिष्य मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरिजी महाराज ने एक सुंदर स्तूप का निर्माण करवाया।

तदनन्तर सं. १२३५ में जिनपतिसूरि जी ने उस स्तूप का जिर्णोद्धार कराया था।

अजमेर में भारत वर्ष के कई श्रद्धालु भक्त प्रायः सेवा पूजा के लिये उपस्थित होते हैं, वहां आषाढ शुक्ला एकादशी को प्रतिवर्ष वार्षिक मेले का आयोजन रहता है।

गुरुदेव के जन्म स्थान धोलका में भी एक सुंदर भव्य दादावाड़ी की वि.सं. २०४३ मिती माघसुदी एकादशी को प्रतिष्ठा हुई है। भारतवर्ष में प्रायः प्रमुख नगरों और ग्रामों में सैकड़ों दादावाडियाँ हैं। वहाँ श्रद्धालु भक्तजन दर्शन करने आते हैं।

भक्तजनों के मनोवांछित पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान श्री जिनदत्तसूरिजी बड़े दादा के नाम से जगत में प्रसिद्ध हैं।

समय-संकेत :-

जन्म वि.सं.११३२,

दीक्षा वि.सं. ११४१,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य पदवी वि.सं. ११६९

स्वर्गवास वि.सं. १२११

जिनदत्तसूरिके समकालीन सूरि :-

बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में कई विद्वान आचार्य अवतीर्ण हुए। गुजरात राज्य में यह काल साहित्य उत्कर्ष का स्वर्णिम काल कहा जाता था।

(१) **हेमचन्द्राचार्य :-**

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने सार्द्धत्रयकोटी पद्यों की रचना कर सरस्वती भण्डार को अक्षय निधि से भरा था।

(२) **मलयगिरि :-**

मलयगिरि महामनिषी थे जैनागमों के गंभीर पाठी थे। उनकी प्रतिभा दर्पण की तरह निर्मल थी। संस्कृत भाषा पर उनका अतिशय प्रभुत्व था।

(३) **रामचन्द्रसूरि :-**

हेमचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्रसूरि अद्‌भुत प्रतिभा के धनी और साहित्यकार थे। आपने ''कविकटारमल्ल'' की उपाधि प्राप्त की थी।

(४) **वीराचार्य :-**

आप चन्द्रगच्छ शाखा में हुए थे। गुजरात नरेश जयसिंह आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए थे।

(५) **वादिदेवसूरि :-**

वादिदेवसूरि एक दार्शनिक विद्वान थे।

प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कार जैसी न्याय विषयक उत्तम कृति के वे रचनाकार थे। वाद कुशलता के कारण उनकी प्रसिद्धि वादिदेवसूरि के नाम से हुई।

(६) **यशोभद्रसूरि :-**

आप जन्म से राजपूत थे। जैन मुनि बनने के बाद महान् तपस्वी सन्त थे।

(७) **प्रद्युम्नसूरि :-**

प्रद्युम्नसूरि समर्थ व्याख्याकार थे।

(८) **गुणसेनसूरि :-**

गुणसेनसूरि शास्त्रसिद्धान्तों के विशेषज्ञ थे।

उपरोक्त आचार्यों के अलावा और भी अनेक आचार्य हुए जैसे,

''देवभद्रसूरि, बालचन्द्रसूरि, अमरचन्द्रसूरि, जिनभद्रसूरि, देवचन्द्रसूरि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवभद्रसूरि, धनेश्वरसूरि, नन्नसूरि, पार्श्वदेवगणि (श्री चन्द्रसूरि), महेन्द्रसूरि, मुनिचन्द्र सूरि, रामदेवगणि, वर्धमानसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, रामदेवगणि , वर्धमानसूरि, शान्तिसूरि ''।

अनेक सन्त हुए, जिन्होंने अपनी लेखनी से कई कथाएँ, टीकाएँ आदि की रचना करके भारतीय जैन संस्कृति का गौरव तथा जैन सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार में चार-चाँद लगा दिये। अतः उस समय का युग साहित्य के क्षेत्र में स्वर्ण युग के नाम से जाना जाता था।

*****

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण-४ : आचार्य जिनदत्तसूरिजी की साहित्य-साधना

''होनहार विरवान के होत चीकने पात।''

यह निः सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी जीवन के प्रारम्भिक काल से ही अद्वितिय प्रतिभा-सम्पन्न थे। किसी भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की प्रतिभा लम्बे अरसे तक छिपी नहीं रह सकती है। वह अचानक किसी दिन झरने की भाँति अविरत प्रवाह के साथ बाहर निकल पड़ती है।

प्राणीमात्र के साथ ममत्व की भावना, लोक-कल्याण की दृष्टि और धर्मप्रचार-प्रसार की भावना से बलवती होकर आपकी वाणी आन्तर-चेतना से प्रेरित होकर समाज में गंगा के प्रवाह की तरह सर्वतः प्रसरित होने लगी तब आपके मुखकमल से निःसरित सोढम (सुगन्ध)स्वरूप शब्द, काव्य और व्याख्यानों ने ही आपके साहित्यका रूप धारण किया।

साहित्य समाज का दर्पण होता है और समाज को प्रभावित करता भी है।

आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी की साहित्यसाधना और प्रभावपूर्ण पाण्डित्य सर्वकालिक होकर साहित्याकाश में देदीप्यमान हो रहा है।

आपका जीवन बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न था। इसलिए आपके व्यक्तित्व पर ध्यान देने से मालूम होता है कि आप समर्थ धर्मनेता के साथ-साथ संयमशील साधक एवं लोक-हितेच्छु भी थे।

आपकी साहित्य साधना एकांगीमात्र नहीं है, इस बात का ज्ञान आपकी कृतियों में विद्यमान तात्कालिक जैन समाजकी विभिन्न प्रवृतियाँ, तात्कालिक भारतीय साहित्य और भाषा का विकास आदि से होता है।

आपके साहित्य सर्जन की सबसे बड़ी विलक्षण बात यह है कि वह विद्वत् भोग्य होने के साथ-साथ लोकभोग्य भी है।

आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी की साहित्य साधना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में मिलती है, जो मात्र धार्मिक दृष्टि से ही नहीं अपितु भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

आपके काव्य साहित्य में दर्शन, ज्ञान, भक्ति, ईश्वर स्तुति, गुरु गुण महिमा, आचार-विचार आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

आपश्री के साहित्य का मुख्य लक्ष्य ''जैन धर्म का प्रचार तथा चैत्यवास का विरोध'' था, इसी कारण उनकी प्रत्येक कृति उसी लक्ष्य की पूर्ति की ओर अग्रसर थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए गूढ विषयों के अर्थो को सरल रूप में प्रस्तुत करने के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की है।

आपकी कृतियों को यदि विषय विभाजन की दृष्टि से देखा जाय तो आपकी कृतियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता हैं-

१. स्तुतिपरक कृतियाँ

२. औपदैशिक (उपदेश व आचार एवं सिद्धांत लक्षी)कृतियाँ एवम्

३. प्रकीर्ण कृतियाँ

भाषा की दृष्टि से देखें तो आपने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषामें रचना की है। निम्न तालिका में आप की रचनाओं की सूचि दी गई है, तत्पश्चात् प्रत्येक कृति का परिचय विस्तार के साथ दिया गया है। प्रथम संस्कृत, बाद में प्राकृत और अन्त में आपकी अपभ्रंश रचनाओं का ब्योरा दिया गया है।

आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी रचित कृतियाँ

क्रम	ग्रंथ का नाम	विषय	पदसंख्या
(अ)	**संस्कृत कृतियाँ**		
१.	अजित शांति स्तोत्र	स्तुति	१५
२.	चक्रेश्वरी स्तोत्र	,,	१०
३.	सर्वजिन स्तुति	,,	४
४.	वीर स्तुति	,,	४
५.	विंशिका	प्रकीर्ण	३
६.	पद व्यवस्था	,,	-
(ब)	**प्राकृत कृतियाँ**		
१.	गणधर सार्द्धशतकम्	स्तुति	१५०
२.	सुगुरु संथव सत्तरिया	,,	७५
३.	सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र	,,	२६
४.	सुगुरु पारतन्त्र्य स्तोत्र	,,	२१
५.	विघ्न विनाशी स्तोत्र	,,	१४
६.	श्रुत स्तव	,,	२७
७.	सप्रभाव स्तोत्र	,,	३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८.	पार्श्वनाथ मंत्र-गर्भित	स्तोत्र	३७
९.	चैत्यवंदन कुलक	,,	२८
१०.	संदेह दोलावली	औपदेशिक	१५०
११.	उत्सूत्र-पदोद्घाटन कुलक	,,	३०
१२.	उपदेश कुलक	,,	३४
१३.	शान्ति पर्व विधि	,,	२६९(?)
१४.	वाडिकुलकम्	,,	२४
१५.	आरात्रिक वृत्तानि	,,	१२

(क) अपभ्रंश कृतियाँ

१.	उपदेश धर्म रसायन	,,	८०
२.	चर्चरी	,,	४७
३.	कालस्वरूप कुलक	,,	२८

अनुपलब्ध ग्रंथ (१) अवस्था कुलक (२) आध्यात्म गीता (३) योगिनी स्तोत्र

(अ) संस्कृत कृतियाँ

१. अजित-शान्ति स्तोत्र

यह स्तोत्र संस्कृत भाषा में रचित है। इस स्तोत्र की भाषा सुललित और प्रवाहमयी है। इसमें अजितनाथ और शांतिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। रचनाशैली सरस है। इसमें १५ श्लोक है, स्तोत्र में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है, छन्दों के नाम निम्न है:-

श्लोक संख्या एक, दो, दश, बारह में वसंततिलका छन्द, तीन, चार, ग्यारह, तेरह मे मालिनी, पाँच में पृथ्वी, सात, नव में स्रग्धरा, आठ, पन्द्रह में शार्दूलविक्रीडित और चौदह में वंशस्थ छन्द का प्रयोग किया गया है। यह स्तुति का मूल मात्र प्रकाशित है।[1] इस ग्रंथ में परिशिष्ट में हमने मूल दिया है, देखें परिशिष्ट, कृति-५। अनुवाद निम्न दिया गया है।

---

१. जैन स्तोत्र संदोह भाग-१, पृ.१९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तोत्र का अनुवाद :-

१-२.हजार नेत्रोंवाला इन्द्र भी जगत के एक मात्र स्वामी ऐसे इन दोनों तीर्थंकरों के गुणों का पार देखने मे सक्षम (समर्थ)नहीं है। देवों के गुरु वाचस्पति आदि भी जिनके अशेष गुणों को कहने के लिए समर्थ नहीं है। मैं अल्पबुद्धि, जड़ बुद्धिवाला उनके असीम, निर्मल, असाधारण, सम्पूर्ण गुणों की स्तुति करने में कैसे सक्षम हो सकता हूँ ? यह तो आपके चरण-रूपी इच्छित फल देनेवाले वृक्ष की प्राप्ति के पहले फूल हैं, भावि फल तो उसके आगे होगा।

३. राग से अपराजित पापों के प्रणाश में कुशल और देवताओं के बन्धुओं के नेत्र को आनंद देनेवाले, पूर्णिमा के चन्द्र समान ऐसे अजितनाथ भगवान को इन्द्रियपराधीन होकर जो इन्सान नमस्कार नहीं करता वह इन्सान स्पष्टरूप से लक्ष्मी से दूर होता है, तथा स्व और परको पहचान नहीं पाता।

४. नमस्कार करते हुए देवताओं की मस्तक मालाओं के अग्रभाग पर रहे हुए श्रेष्ठ मरकत मणि जैसे भँवरों के सम्बन्ध से जिसकी शोभा होती है ऐसे अजितनाथ के दो चरण-कमल जो योगियों से वंदनीय और पवित्र हैं, उनको मैं प्रतिदिन मस्तक से वंदन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

५. नय-विनय से युक्त मैं भक्तिपूर्वक अपने हृदय में अजितनाथ भगवान को स्थापित करता हूँ जिस अजितनाथ भगवान को सज्जनों ने नमस्कार किया है और जो कुमति को नाश करनेवाले हैं।

६. विश्वशान्ति को देनेवाले श्रीशांतिनाथ को वंदन करता हूँ। दुर्निवार और आन्तरिक शत्रुओं का उच्छेद करने में समर्थ कल्पवृक्ष के समान शान्तिनाथ भगवान का जिन्होने शरण नहीं लिया है, वे लोग इस संसार में बहुत भ्रमण करते हैं।

७. जो इन्सान विनय और भक्ति से अजितनाथ और शान्तिनाथ को नमस्कार करता है, उसके सब रोग नष्ट हो जाते है जैसे कि:- कास, श्वास, अंगहास, अदशन, नखक्षय, मुखक्षय, अक्षिक्षय, ग्रंथिशोष, अतिसार, श्लेष्म, पित्त-ज्वर, पवन, कटी, कण्ठ, विष्ठाग्रह, ज्वाला (दाहरोग),वालेय, लूता, नेत्र और जठर के रोग, अपान, कुष्ठ, अंगदाह आदि।

८. जो इन्सान अजितजिन और शान्तिजिन की स्तुति करता है उसको तृष्णा, उष्णा (गर्मी), पानी का भय, मारि, द्वीपीका डर, हाथीभय, सिंह, अग्नि, सर्पभय, भूत, शाकिनि, विनायक, विष, शत्रु और क्षेत्रपाल, गोत्रपाल आदि का भय नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. कर्म की मुद्रा को वेधनेवाले, इच्छित पद की प्राप्ति के लिए अपनी पर्षदा के साथ में आये हुए इन्द्रने जिन भगवान का जन्मकल्याणक करने के लिए पर्व में इकट्ठे हुए और अमृत और घृत से स्वर्णकलशों को भरकर उस पवित्र सुवर्णगिरि (मेरु पर्वत)ऊपर चमत्कारी स्नात्र-पूजन किया।

१०. विधिपूर्वक स्नात्र करके आनंद समूह से जिनका शरीर विभक्त हुआ ऐसे इन्द्रगण ने इन्द्राणियों के साथ अपनी स्वर्गराज की पदवी और देवभव को कृतार्थ मानते हुए आनंद से नृत्य किया।

११. जो सावन के समय में उत्पन्न हुए बड़े बड़े काले बादलों के गर्जारव को तिरस्कृत करते थे, जिसके मद से धूसरित कपोलों में मत्त भँवरों की श्रेणी में छिपी हुई है, ऐसे हाथियों के द्वारा शीघ्र फैलानेवाली जो गर्जना है, वह करते हैं।

१२-१३. खिले हुए नयनों से शोभायुक्त, छोटी सी लास्यलीला से विकसित, कामयुक्त मुख से कमलकान्ति को जीतनेवाली, झुके हुए अंगोंवाली, स्तनों के भार से नमी हुई, चपल त्रिवली से जिसकी छोटी सी कटी शोभित हुई हैं। और हावभाव अंगभंगी से उत्पन्न हुई किरणों की केली से समग्र देवतागण जिसके द्वारा क्रीडा करते है, अप्सराएँ अपने नाटक द्वारा आकृष्ट करती हुई, अत्यन्न मनोहर कटाक्षयुक्त नृत्य जिसके आगे कर रही हैं।

१४. अज्ञान की बाधारहित ऐसे अजितनाथ जिनको और संसार के किनारे पर (मोक्ष में)विराजित ऐसे शान्तिनाथ को नमस्कार करके मानव अज्ञान की बाधारहित, अपराजित और संसार के किनारे पर विराजित होकर शान्तिमय हो जाता है।

१५. इस प्रकार बिना इच्छा के फल(मोक्षफल)को पाने की इच्छावाला, समतावाला, अशठ, अकुण्ठ, सदाक्रियाशील, ऐसे इन्सान को सदा श्रेष्ठ सुख देनेवाला है। जो इस स्तवन का आनंदपूर्वक पठन करता है। पक्ष आदि पर्वों के दिनों में स्वाभाविक रीति से अजित और शांति जिन की लब्धी से जिनेश्वरों द्वारा उस इन्सान को जनता की नम्रता प्राप्त होती है। और वह (इन्सान)सुखवाला और कर्मो को नष्ट करनेवाला होता है। अथवा "जिनदत्त" को उसकी प्रजा नमस्कार करती है।

विशेष-जैन धर्म में चौवीस तीर्थंकरों के अन्तर्गत दूसरे तीर्थंकर का नाम अजितनाथ और सोलहवें तीर्थंकर का नाम शांतिनाथ है।

अजितनाथ भगवान का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था। आपके पिता का नाम जितशत्रु तथा माता का नाम विजया था। शरीर का रंग कनक समान था। देह का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण (ऊंचाई) साढ़े चारसौ धनुष प्रमाण था। अजितनाथ भगवान के हाथी का चिह्न था। युवावस्थामें अनेक राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण किया। बाद में दीक्षा ग्रहण करके अंत में प्रत्येक तीर्थंकर की तरह केवलज्ञान प्राप्त करके अनेक जीवों को प्रतिबोध देकर मोक्षमार्ग के आराधक बने। आपने ७२ (बहत्तर) लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण करके निर्वाण पद प्राप्त किया।

दूसरे शान्तिनाथ भगवान का जन्म गजपुर नगर में हुआ। आपके पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम अचिरादेवी था। आपकी देह की कांति सुवर्ण समान थी। शांतिनाथ भगवान मृगलांछन से सुशोभित थे। आपकी देह की ऊंचाई ४० (चालीस) धनुष प्रमाण थी। एक लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके आप मोक्ष में पधारे।

ऐसे अजितनाथ भगवान और शांतिनाथ भगवान की स्तवना आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने की। इस छोटे से स्तोत्र में भी अलंकार और भावों का वर्णन देखने जैसा है, इससे उनकी काव्य-प्रतिभा व्यक्त होती है।

***

२. श्री चक्रेश्वरी स्तोत्रम्

यह चक्रेश्वरी स्तोत्र संस्कृत भाषा में है और इसमें दस पद्य हैं। सम्पूर्ण स्तोत्र में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है। यह स्तुति का मूल प्रकाशित है।[२] मूल के लिए देखें परिशिष्ट में कृति नं. ८। अनुवाद निम्न दिया गया है।

विषय-वस्तु :-

स्तोत्र के माध्यम से चक्रेश्वरी देवी के आभूषणों का और गुणों का वर्णन किया है तथा कहा गया है- जो भी चक्रेश्वरी माता की स्तवना करेगा उनके सब दुःख और रोग शान्त होंगे। यहाँ चक्रेश्वरी माता कल्पवृक्ष से उपमित है। वह अभीष्ट फल को देने वाली है। ऐसा कवि कहते है।

अनुवादः-

श्लोक १. हाथों में चक्र को धारण करने वाली, चंचल कुंडल से अलंकृत, मस्तक पर श्रेष्ठ मुकुट को धारण करनेवाली, ग्रैवेयक (कंठा)से अलंकृत, श्रेष्ठ भुजबन्ध और चूड़ियों से अलंकृत, मनोहर नूपुर को धारण करनेवाली हे चक्रेश्वरी माता! अपने (मेरे)प्रिय नय-विनय को त्रास से बचाओ।

---

२. भैरव पद्मावती कल्प-साराभाई मणिलाल नवाब, पृ.९७-९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. हे चक्रेश्वरी माता ! आपका मुख चन्द्र मण्डल की तरह अन्धकार समूह को नष्ट करनेवाला है । भव्यजीव रूपी चकोर पक्षियों को आपके कर (हाथ और किरण)स्पर्श करते हैं, जो सन्ताप करनेवाली (आसुरी)सम्पति को दूर करनेवाला है, सम्यग् दृष्टि को सुख देनेवाला है, प्रभा से जाज्वल्यमान और सम्पत्तियों का स्थानभूत जीवों के मन को प्रसन्न करनेवाला शोभित हो रहा है ।

३. हे चक्रेश्वरी माता ! आपका मुख रूपी सूर्य जो नवोदित है, अन्धकार श्रेणी को नाश करनेवाला है, सुगति को देनेवाला है, मार्ग स्थिति को प्राप्त करानेवाला है । उसको जो लोग नहीं देखते है वे घुवड़ जैसे हैं और सज्जन उसको सर्वथा छोड़ देते हैं । ऐसे कुदृष्टि लोग मोक्ष इच्छनेवाले को आदेय नहीं होते हैं ।

५. हे चक्रेश्वरी माता ! आपका वह प्रसिद्ध चरण-चरित्र किस निष्पुण्य अज्ञानी का मन प्रमुदित नहीं करता है ? जो चरित्र करुणायुक्त है, प्राणियों की मति भ्रान्ति को शान्त करनेवाला है, इसलिए वह प्रिय है । वह लक्ष्मी का मिलन संकेत का स्थान है, जिसका विरह सदा के लिए अस्त हुआ है और पुण्य का अनुबन्धवाला है ।

५. हे चक्रेश्वरी माता ! श्री सर्वज्ञ के चरण कमल में विश्राम करती हुई आपकी, आपके भक्त भव्यलोग स्तुति करते हैं । भ्रमर जैसे सम्यग् दृष्टियों को श्रेष्ठ सुख की प्रार्थना करनेवाले लोग विपत्तियों और शत्रुओं को नाश करनेवाले और सुबुद्धिवाले होते हैं ।

६. हे चक्रेश्वरी माता ! सत्य, क्षमावाले सन्त आपके नाम का सादर स्मरण करते हैं । उसके कष्ट दूर नहीं होते हैं ? सम्पति निकट नहीं आती हैं ? शत्रु नष्ट नहीं होते है ? और इष्ट सिद्धि नहीं होती हैं ?

७. हे चक्रेश्वरी माता ! आपके चरण-कमल में रहनेवाले प्राणि-लोग भ्रमर की भांति इष्ट अर्थरूपी मधु को प्राप्त करनेवाले होते हैं । और कीर्तिमान भव्यलोग जगत में विश्वसनीय होते हैं (प्रतीति भवनम्) । उनके घरों में कही भी कभी भी दारिद्रय नहीं रहता है ।

८. हे चक्रेश्वरी माता ! जो आपका स्तवन करता है, वह मानव अन्यजनों से प्रार्थित किया जाता है, क्लेशों से मुक्त होता है ।वह कल्याणकारी काश, श्वास, शिरोग्रह, गलग्रह, कटिवात, अतिसार, ज्वर, रक्तपित्त, नेत्र के रोगों से मुक्त होता है । (उस कल्याणकारी को काश आदि रोग लागु नहीं पड़ते ।)

९. हे चक्रेश्वरी माता ! आप जिनशासन का रक्षण करती है, जो कोई जिनवाणी को यथातथ्य रूप से कहते हैं, उन भव्यलोगों का आप हित करती हैं, तुष्टि (मन और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा का सन्तोष)करती हैं, प्रतिपद(प्रतिस्थान पर)कृतार्थ से शूद्रोपद्रव का नाश करती हैं।

१०. हे चक्रेश्वरी माता ! कल्पवृक्ष से उपमित आप विश्वभर में चमत्कार करती है। अभीष्ट फल को धारण करती हैं। संशय बिना देती हैं। ऐसा सोचकर मैंने भी आपकी स्तुति की है, और यही मेरा निश्चय है, कि मेरा मन "श्री जिनदत्त" की भक्ति से सदा सर्वदा तल्लीन रहें।

विशेष :-

जैन धर्म में चौवीस तीर्थंकर (भगवान)होते हैं। सभी भगवानों के अधिष्ठायक शासनदेव और शासन देवियाँ होती हैं।

सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ)स्वामी है। उसके अधिष्ठायक रक्षक शासनदेव गरुड़ हैं। शासनदेवी का नाम चक्रेश्वरी (मतान्तर से प्रतिचक्रा) है।

चक्रेश्वरी देवी सुवर्ण समान निरुपम कांतिवाली है।

ये सुवर्णवर्णवाली चक्रेश्वरी देवी गरुड़ वाहन पर आरूढ़ होती है। ये आठ हाथवाली है, जिसके दाहिने हाथों में वरद, बाण, चक्र तथा पाश है। और बाँये हाथों में धनुष, व्रज, चक्र तथा अंकुश को धारण किया है। (प्रवचनसारोद्धार-२७, पृष्ठ-१०५)

चक्रेश्वरी देवीने चक्र द्वारा पृथ्वी ऊपर के (अथवा-स्वर्ग के)पराक्रमी तथा मदोन्मत्त ऐसे शत्रुओं का संहार किया है, इसलिये अपना नाम अप्रतिचक्रा चरितार्थ किया है। ऐसी चक्रेश्वरी देवी की श्री जिनदत्तसूरिजी स्तवना करके, सभी की रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।

उपमा, श्लेष आदि अलंकारों से विभूषित इस लघु कृति एक भावपूर्ण स्तोत्रकाव्य बन पड़ा है।

***

३. सर्वजिन स्तुति

आचार्य जिनदत्तसूरि रचित यह लघुकृति चार पद्यों में है। संस्कृत भाषा में है और इस में वसंततिलका छन्द का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयवस्तु :-

सर्व जिन स्तुति में आचार्यश्रीने चतुर्विंशति जिनकी स्तवना की है। यह स्तुति का मूल मात्र प्रकाशित है।[३] इस ग्रंथ में परिशिष्ट में पुनः प्रकाशित की जाती है-क्रमांक-६। अनुवाद निम्न दिया जाता है।

अनुवाद :-

श्लोक १. बहुत से देवों से सेवनीय शक्र भी जिनेश्वरों की स्तुति करने में अक्षम पाया जाता है। ऐसी स्तुति को अन्य कौन कर सकता है ?

श्लोक २. श्री ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमतिजिन, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतलनाथ,

श्लोक ३. श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्ली, श्रीसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमानस्वामी को वंदन करता हूँ।

श्लोक ४. सभी को वंदन करके, गुरु वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि से मैं ज्ञानादिक मागताँ हूँ। वे सभी जिनदत्त (अर्थात् स्तुतिकार)का हित करें।

विशेष-सुप्रसिद्ध प्राकृत लोगस्स सूत्र की भांति यहाँ संक्षिप्त में-सूत्रात्मक रूप से चोवीसों तीर्थंकरों के साथ अपने गुरु स्वरूप आचार्यों को वंदन किया गया है।

***

४. वीरस्तुति

वीर-स्तुति संस्कृत भाषा में ४ पद्यों में है, इसमें तीर्थंकर की स्तुति की गयी है।

इस स्तुति के प्रथम पद्य में अनुष्टुप, द्वितीय पद्य में आर्या, तृतीय पद्य में उपजाति और चतुर्थ पद्य में वसंततिलका छंद का प्रयोग किया गया है। यह स्तुति खरतरगच्छीय प्रतिक्रमण पुस्तकों में प्रकाशित है,[४] परिशिष्ट में क्रमांक-७ पर पुनः प्रकाशित की जाती है।

---

३. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.१०८

४. खरतरगच्छीय पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र-पुस्तक में देखें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-वस्तुः-

स्तुति (थुई) की परम्परा अनुसार प्रथम पद्य में श्री वीरजिन को नमस्कार, द्वितीय पद्य में ऋषभादि जिनेश्वरों को नमस्कार किया गया है। तृतीय पद्य में जिनागम-जिनवाणी की और चतुर्थ पद्य में तीर्थंकर के शासन देवता की स्तवना की गई है। इसी मान्यतानुसार इस लघु कृति की रचना जिनदत्तसूरि ने की है। इस स्तुति का आज भी खरतरगच्छीय परम्परावाले प्रतिक्रमण में त्रयोदशी के दिन एवं मांगलिक दिवसो में बोलते हैं।

अनुवाद :

पद्य १. सर्व विघ्न का घात करनेवाले श्री वीर-जिन को नमस्कार हो। जिसके चरण नमस्कार से ही प्राणीगण स्वस्थ और स्थिर होते हैं।

२. जिसके चरण-युग को इन्द्रों ने नमस्कार किया है ऐसे ऋषभादि जिनेश्वरों को नमस्कार करता हूँ। उन जिनेश्वरों के वचन पालन करने में तत्पर लोग दुःखों से मुक्ति पाते हैं।

३. देवगणों के सामने जिनेश्वर भगवान अर्थ को कहते है और गणधर भगवंत तीर्थस्थापना के समय उस अर्थ को सूत्र में गुंथते है ऐसा मत (प्रवचन) प्राणियों को मुक्ति देनेवाला है।

४. जिनशासन (भक्त)के सुख में प्रवृत्त शासनदेवताओं और अन्य देव-देवियों के साथ इन्द्र श्री वर्धमान जिनेश्वर के मत में प्रवृत्त भव्यजनों को (श्लेष से वर्धमानसूरि और "जिनदत्त" के मत में प्रवृत्त भव्य जनों को) हमेशा अमंगलों से बचाये रखे।

विशेष-इस अत्यंत लघुरचना में भी दादा साहब ने अपने श्लेष अलंकार के नैपुण्य का परिचय दिया है।

५. विंशिका

आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी की संस्कृत में रचित यह कृति है।

प्रस्तुत कृति में २० श्लोक होंगे, क्योंकि विंशिका अर्थात् २० श्लोक का स्तोत्र। लेकिन हमें अगरचंदजी नाहटा के अनुसार- गणधरसार्द्धशतक गाथा ८४ की बृहद्वृत्ति से केवल तीन श्लोक ही उपलब्ध हुए हैं।[५] अन्य श्लोक अभी तक मिले नहीं

---

५. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.१११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। रचना काल के सम्बन्धी जानकारी नहीं मिलती है। प्राप्त तीनों श्लोक में अनुष्टुप छंद का प्रयोग मिलता है।

विषय-वस्तु :-

प्रस्तुत तीनों श्लोक के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्यश्रीने विंशिका कृति के माध्यम से गुरुजनों का गुणानुवाद किया होगा।

तीनों श्लोक का अनुवाद :-

१. अभयदेवसूरि की श्रुत सम्पति की प्राप्ति के कारण चैत्यवास को पापकारी मानकर,

२. श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्री जिनवल्लभगणि ने चैत्यवास को छोड़ दिया।

३. प्राणियों का भद्र (कल्याण)करनेवाले श्री देवभद्रसूरि ने इस चित्रकुट अर्थात् चित्तौड़ दुर्ग में जिनवल्लभगणि को आचार्य पद दिया।

विशेष- इन तीन श्लोकों से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है। इस पर से लगता है कि कृति ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रही होगी। पूर्ण कृति उपलब्ध हो जाय तभी कुछ विशेष कह सकते हैं।

***

६. पद-व्यवस्था

पद व्यवस्था नामक लघुकृति की रचना संस्कृत गद्य में हुई है।

आचार्य जिनदत्तसूरि द्वारा पदस्थों के लिए इस पद-व्यवस्था की रचना की गई है।

विषय-वस्तु :-

गच्छाधिपति, सामान्य आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य, महत्तरा साध्वी आदि के नगर प्रवेश में क्या-क्या करना चाहिये उसका वर्णन यहाँ बताया गया है। उनके पदानुसार सत्कार-पूजा का निरूपण किया गया है। यह कृति मूल प्रकाशित है।[६] यहाँ पर कृति का अनुवाद दिया जाता है :-

---

६. युगप्रधान जिनदत्तसूरि, अगरचंदजी नाहटा, पृ.१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) गच्छाधिपति :-

गच्छाधिपति आचार्य का जब नगर में प्रवेश होता है तब पंच शब्द अर्थात् (तबला, झालर, भेरी, करडी, कंसाला)होता है। लुंछन किया जाता है। मंगलकलश सन्मुख आता है। पंचदीपक की आरती नहीं की जाती है। श्राविकाएं मंगल गीत गाती हैं। यह युगप्रधानाचार्य की प्रवेश विधि संक्षेप में बताई गई है।

२. सामान्य आचार्य :-

सामान्य-आचार्य के नगरप्रवेश में चतुर्विध संघ सन्मुख आता है। शंख बजाया जाता है। श्राविकाएं गहुँली गाती हैं। मंगल कलश और छत्र सन्मुख नहीं आता है। अंगलुँछना नहीं किया जाता है। प्रतिलाभ-पृथ्वी पर उपवेशन दिया जाता है। पाटोत्सव नहीं किया जाता है। प्रतिलाभन के लिए पट्ट नहीं रखा जाता है। यह सामान्य आचार्य की संक्षिप्त प्रवेश-विधि है।

३. उपाध्याय :-

उपाध्याय के नगर प्रवेश में साधु और श्रावक सन्मुख आते हैं। लेकिन साध्वी और श्राविका सन्मुख नहीं आती हैं। शंख नहीं बजता है। मंदिर में प्रवेश करते समय श्राविकाएं गीत नहीं गाती हैं। कदाचित् लुंछन नहीं किया जाता है। प्रतिलाभन में उपाध्याय भूमि पर बैठते हैं, मण्डप में नहीं। तब शंख बजता है, श्राविकाएं मंगल गीत गाती हैं। उपाध्याय को पाक्षिक प्रतिक्रमण में वाहिका नहीं दी जाती है। उपाध्याय के प्रवेश में मंगलकलश और वादित्र कभी कभी नहीं होते हैं। मुष्टीपट्ट, कम्बली और वस्त्र के रहित कम्बल दिया जाता है। यह उपाध्याय के प्रवेश की संक्षिप्त विधि है।

४. वाचनाचार्य :-

वाचनाचार्य के नगर प्रवेश में साधु और श्रावक सन्मुख आते हैं। साध्वी और श्राविका सन्मुख नहीं आती हैं। शंख नहीं बजता है। लुंछन कभी कभी नहीं होता है। मस्तक ऊपर कर्पूर का क्षेप नहीं होता है। मंदिर प्रवेश के समय शंख नहीं बजता है, श्राविकाएं गीत नहीं गाती हैं। यदि वाचनाचार्य के पास बड़ा साधु होता है तब उसको प्रथम वंदन किया जाता है। लेख में उसका प्रथम नाम लिखा जाता है। और लेख के बाद वाचनाचार्य का एक ही नाम दिया जाता है। यह वाचनाचार्य की संक्षिप्त प्रवेश विधि है।

आचार्य, उपाध्याय और वाचनाचार्य इन तीनों की चैत्य परिपाटी में शंख बजता है। श्राविकाएं गीत गाती हैं। आचार्य को तीन कम्बल, उपाध्याय को दो कम्बल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और वाचनाचार्य को एक कम्बल दी जाती है। यह उपवेशन विधि है।

५. महत्तरा साध्वी :-

महत्तरा साध्वी के नगर प्रवेश में श्राविकाएं सन्मुख आती हैं। शंख नहीं बजता, श्राविकाएं गीत नहीं गाती, श्रावक सन्मुख नहीं आते, मंगल कलश सन्मुख नहीं आता है। मंदिर प्रवेश के समय शंखवादन, लुंछन आदि कुछ भी नहीं किया जाता है। कर्पूर क्षेप होता है। इष्ट पट्ट (पीठफलक)लघु कंबली और वस्त्र दिया जाता है। उपवेशन में दो कम्बली दी जाती है। प्रवर्तिनी के मस्तक पर कर्पूर क्षेप नहीं किया जाता है। पृष्ठीपट्ट पर लघु कंबली बिना किया जाता है। उपवेशन में एक कम्बल दिया जाता है। यह संक्षेप से प्रवर्तिनी की प्रवेश विधि है।

इति नवांगी टीकाकार की परम्परा में श्री जिनवल्लभसूरि के पट्टपर विराजित जिनदत्तसूरि ने पदस्थों के लिए यह पद विधि बताई है।

जिनपतिसूरि के उपदेश से उनके शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने इसे टिप्पण में लिखी है। इस तरह की विधि से विद्यमान सकल संघ का सर्व भव्य होगा।

यह पाठ जिनपाल उपाध्याय लिखित टिप्पण से लिखा गया है। लेखक वाचक का कल्याण हो।

विशेष :-

इस कृति में आचार्य जिनदत्तसूरि ने बारहवीं शताब्दी में पदस्थों-आचार्य आदि पदाधिकारी की क्या-क्या व्यवस्था थी, नगरप्रवेश के समय क्या-क्या करना चाहियें उसका विवरण दिया है। आचार्यश्री जैन साध्वाचार में भी कितने दक्ष थे, इस बात की प्रतीति इस लघु रचना से होती है।

***

ब. प्राकृत कृतियाँ

स्तुतिपरक कृतियाँ

(१) गणधर सार्द्धशतकम्

(२) सुगुरु-संथव-सत्तरिया (गणधर-सप्ततिका)

(३) सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र

(४) सुगुरु-पारतंत्र्य स्तोत्र

(५) विघ्न विनाशी स्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) श्रुतस्तव
(७) सप्रभाव स्तोत्र
(८) पार्श्वनाथ मंत्र-गर्भित स्तोत्र

औपदेशिक-कृतियाँ

(९) चैत्यवंदन कुलक
(१०) सन्देह-दोलावली
(११) उत्सूत्र-पदोद्घाटन कुलक
(१२) उपदेश कुलक

प्रकीर्ण कृतियाँ

(१३) शान्ति पर्व विधि
(१४) वाडिकुलक
(१५) आरात्रिक वृत्तानि

***

१. "श्री गणधर सार्द्धशतकम्"

युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि द्वारा विरचित "गणधरसार्धशतकम्" के निश्चित एवं प्रामाणिक समय के विषय में कोई उपलब्धि नहीं है। परन्तु पूज्य बड़े दादा साहब की आचार्य पदवी सं. ११६९ में वैशाख कृष्ण ६ शनिवार को सम्पन्न हुई थी। पूज्य दादा साहब का निर्वाण भी बारहवीं सदी के बाद अर्थात् वि.सं.१२११ में हुआ। इस प्रकार की रचना सम्बन्धी कुछ निश्चित तिथि प्राप्त न होने से यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि ग्रन्थ बारहवीं सदी में रचित है। क्योंकि युगप्रधान सूरिजी का युग भी ग्यारहवीं सदी का उत्तरार्ध से बारहवीं सदी के पूर्वार्ध के बाद तक अर्थात् वि.सं.१२११ तक है।

आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करते हुए कई रचनाएं प्राकृत भाषा में भी की है। जहाँ पर स्तुतिस्तोत्रो में उन्होने संस्कृत का प्रयोग किया है और लोकोपदेश के लिए अपने समय की अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है वहाँ पर शास्त्रीय ग्रंथों में ख्वास करके प्राकृत का प्रयोग किया है। गणधर सार्द्धशतक ऐसी रचना है जिसमें उन्हें अत्यन्त प्राचीन समय से लेकर अपने युग तक के गणधरों का अर्थात् महान युगप्रधान आचार्यों का इतिहास देना था। इसलिए उन्होने इस ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप के द्वारा रचित 'गणधरसार्द्धशतकम्' में भाषा सौन्दर्य की छटा कुछ अनुपम ही लगती है। यद्यपि प्राकृत भाषा माधुर्य के लिए प्रख्यात है फिर भी यदि माधुर्य को सही ढंग से सजाने वाला मिल जाय तो क्या कहना। अर्थात् प्राकृत भाषा आपको पाकर शोभायमान हुई है। जैसा कि तुलसीदास के विषय में लिखा गया है कि-

''कविता पा लसी तुलसी की कला''अर्थात् तुलसीदास सी कला को पाकर कविता कलायुक्त हुई। ठीक उसी प्रकार आपकी काव्य सम्बन्धी कलाओं को पाकर प्राकृतभाषा स्वयं को धन्य मानने लगी।

जहाँ तक आशय शीर्षक की सार्थकता से है तो उस विषय में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ग्रन्थ के गहन अध्ययनोपरान्त भी कुछ निर्देश ऐसा नहीं मिला है कि जिससे ग्रन्थ के शीर्षक की सार्थकता सिद्ध होती है। परन्तु शीर्षक को यदि व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि ''गणान् धारयति इति गणधराः पुनः अर्द्धेन सहितं शतकम् अतएव सार्धशतकम्'' गणधरः सार्धशतकश्च'' इति ''गणधर सार्धशतकम्'' अर्थात् ऐसी रचना जिसकी १५० गाथाओं के द्वारा जैन सम्प्रदाय के गणधरों एवं खरतरगच्छीय गुरु परम्परा एवं प्रशस्ति का वर्णन किया गया हो। यहाँ पर गणधर अर्थात् गच्छनायक, गच्छ के अधिपति अथवा आचार्य।

इस प्रकार उपरोक्त व्युत्पत्ति के आधार पर शीर्षक को पूर्णरूपेण सार्थक सिद्ध किया जा सकता है।

सीधी सी बात है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना नहीं होती है। तो इस ग्रन्थ की रचना का भी कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिए। ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य था अपने सम्प्रदाय के आचार्य-गणधरों एवं उनकी शिष्य परम्परा का ज्ञान समाज को पूर्णरूपेण हो सके तथा उनके जीवन चरित्र को स्तुति रूप में प्रकट करके अपने पर आचार्यों एवं गणधरों के द्वारा किये गये उपकारों के बदले कृतज्ञताज्ञापन हो सके। दूसरा उद्देश्य यह है कि गुरु एवं आचार्य परम्परारूपी अक्षत कीर्तिलता समाज के लिए पल्लवित एवं पुष्पित होती रहे। अन्य लोग भी समाज की गुरुपरम्परा से अवगत होकर ज्ञान धर्म के मार्ग पर चलकर धर्म की उन्नति में सहायक हो।

श्री जिनदत्तसूरिजी की इस स्तुति की महत्ता इसलिए भी है कि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। जैसे कि-

(१) आचार्य श्री जिनपतिसूरिजी के शिष्य श्री सुमतिगणिजीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि.सं.१२९५ में १२,००० श्लोक परिमाण बृहद्वृत्ति की रचना की।[७]

(२) श्री सुमतिगणिजी की बृहद्वृत्ति के आधार पर श्री सर्वराज गणिजीने चौदहवीं सदी में १६०० श्लोक परिमाण संक्षिप्त वृत्ति की। तथा

(३) श्री पद्ममन्दिर गणिजी ने वि.सं.१६४६ पौष शुक्ल सप्तमी को जेसलमेर में २३७९ श्लोक परिमाण वृत्ति रची।

(४) सत्रवीं सदी में श्री चरित्रसिंह गणिजीने भी आचार्य श्री वर्धमानसूरिजी के जीवन चरित्र को बृहद्वृत्ति से अलग उद्धृत किया है।[८]

(५) इस ग्रन्थ पर मूल सह संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है।[९]

गणधर सार्द्धशतक आपकी ऐतिहासिक व स्तुतिपरक कृति है। जो पूर्वजों के प्रति विश्वस्त भावनाओं से परिपूर्ण है। महान आचार्यो के प्रति आपके हृदय में अपार श्रद्धाभाव सन्निहित है।

''गणधरसार्द्धशतकम्'' में जैसा कि नाम से ही विदित होता है कि १५० गाथाओं के द्वारा भगवान महावीर के शिष्य गौतम गणधर से लेकर अपने गच्छाधिपति गुरु जिनवल्लभसूरिजी तक के गणधारी आचार्यो की परम्परा का वर्णन एवं गुणानुवाद कर स्तुति की है। विषय का क्रम निम्न प्रकार है-

१. प्रथम-२ गाथाओं के द्वारा मंगलाचरण के रूप में भगवान ऋषभदेव एवं गणधर ऋषभसेन की स्तुति की गयी है।

२. ३-५ गाथाओं के माध्यम से, गौतम स्वामी की प्रशस्ति एवं स्तुति

३. ६-७ गाथाओं के माध्यम से सुधर्मा स्वामी

४. ८-१० गाथाओं के माध्यम से जम्बूस्वामी

---

७. गणधर सार्द्धशतकम्-बृहद्वृत्ति प्रताकार-श्री सुमति गणिजी।

८. श्री गणधर सार्धशतकम्-बृहद्वृत्ति-प्रताकार-श्री चरित्रसिंह गणि।

९. (अ) अपभ्रंश काव्यत्रयी-मूल सह संस्कृत छाया-ओरियंटल इंसटिट्यूट, बड़ौदा-पृष्ठ सं.८७-१०७

(ब) गणधरसार्द्धशतक-जिनकृपाचंद्रसूरि ज्ञान भण्डार-इंदौर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. प्रभवाचार्यजी, शय्यम्भवजी, आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ती, भद्रगुप्तजी, श्री शीलाङ्क, श्री वर्द्धमानसूरिजी, श्री धर्मदेव, श्री हरिसिंह, श्री सर्वदेव तथा भद्रबाहुगुरु की स्तुतियाँ एवं प्रशस्ति-मात्र-एक-एक श्लोक के माध्यम से की गयी है। इस प्रकार ८४ वीं गाथा तक क्रमशः श्री यशोभद्रसूरि, श्री सम्भूतसूरि, श्री स्थूलभद्रजी, आर्यसमुद्र, श्री मंगु, श्री सुधर्माजी, श्री वज्रस्वामी, श्री आर्यरक्षित, उमास्वातिवाचक, देवाचार्य, नेमिचन्द्र, उद्योतन सूरि, श्री जिनेश्वरसूरि, बुद्धिसागर सूरि, जिनभद्रजी, जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, देवभद्रसूरि आदि की स्तुति एवं प्रशस्ति की गयी है।

शेष ६६ श्लोकों के द्वारा युगप्रधान श्री जिनवल्लभसूरिजी के जीवन का बड़ा ही सुंदर एवं मार्मिक ढंग से वर्णन किया गया है।

विघ्नविनाश के लिए प्रारम्भ प्रायः सभी विद्वानों के द्वारा अपने ग्रन्थों में अपने-अपने इष्ट देव तथा गुरु की वन्दना की गयी है। यहाँ पर भी जिनदत्तसूरिजी प्रथम एवं द्वितीय गाथा के द्वारा प्रथम मुनिपति श्री ऋषभ जिनेन्द्र और उनके प्रथम गणधर श्री ऋषभसेन की स्तुति करते हुए तथा मंगलाचरण का निर्वाह करते हुए लिखते हैं-

गुणमणिरोहणगिरिणो रिसह-जिणिंदस्स पढम-मुणिवइणो।
सिरिउसभसेण-गणहारिणोऽणहे पणिवयामि पए॥ १॥

रोहणाचलपर्वत के समान गुणरूपी रत्नों को उत्पन्न करने वाले श्री ऋषभ जिनेन्द्र और उनके प्रथम गणधर श्री ऋषभसेन के पवित्र चरणों की मैं वन्दना करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रोहणाचल पर्वत रत्नों की खान है, रत्न ही उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार प्रथम मुनिपति श्री ऋषभ जिनेन्द्रजी सभी गुणरूपी रत्नों की खान है। रत्नों से तो मात्र मनुष्य की गरीबी ही दूर हो सकती है परन्तु गुणरूपी रत्न तो इतने बहुमूल्य एवं कीमती होते हैं कि उनकी कीमत चुकाई ही नहीं जा सकती। अतः इतने गुणों से युक्त श्री ऋषभ जिनेन्द्र जी के चरण कमल को मैं नमस्कार करता हूँ उनके साथ ही साथ प्रथम गणधर श्री ऋषभसेन को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

पुनः द्वितीय गाथा में आचार्य श्री दादासाहब ने दूसरे जो गणधर हैं अर्थात् परम्परा सह सम्पूर्ण गणधर समूह है, जो आनन्द की राशि है, उस सम्पूर्ण गणधर समूह की वन्दना की है। इस प्रकार पूज्य गुरुओं के द्वारा वर्णित मंगलाचरण का भी निर्वाह होता है। तथा गुरुवंदन भी सम्पूर्ण रूप से सफल होता है।

अग्रिम गाथाओं के द्वारा अर्थात् गाथा क्रमांक ३ से ६६ तक शेष गणधरों का वर्णन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मंगलाचरण के बाद शेष विभिन्न गणधरों की स्तुति क्रमशः गाथा क्रमांक २ से ६६ तक की गयी है। विस्तारभय से मात्र गणधरों के नाम ही यहाँ उल्लेखनीय हैं -

१.	श्री जम्बूस्वामी	२.	गौतम स्वामी	३.	श्री सुधर्मा स्वामी
४.	श्री प्रभवाचार्यजी	५.	श्री शय्यम्भवजी	६.	श्री आर्यमहागिरि
७.	श्री आर्यसुहस्ती	८.	श्री भद्रगुप्तजी	९.	श्री शीलाङ्क
१०.	श्री वर्धमानसूरिजी	११.	श्री धर्मदेवजी	१२.	श्री हरिसिंह
१३.	श्री सर्वदेवजी	१४.	श्री भद्रबाहुजी	१५.	श्री यशोभद्रसूरिजी
१६.	श्री सम्भूतसूरि	१७.	श्री स्थूलभद्रसूरि	१८.	श्री आर्यसमुद्र
१९.	श्री मंगु	२०.	श्री सुद्धर्मा	२१.	श्री वज्रस्वामी
२२.	श्री उमस्वाति वाचकजी	२३.	श्री हरिभद्राचार्यजी	२४.	श्री देवाचार्य
२५.	श्री नेमिचन्द्र	२६.	श्री उद्योतनसूरि	२७.	श्री जिनेश्वरसूरि
२८.	श्री बुद्धिसागरसूरि	२९.	श्री जिनभद्रसूरि	३०.	श्री जिनचन्द्रसूरि
३१.	श्री अभयदेवजी	३२.	श्री देवभद्रसूरि।		

शेष ६६ गाथाओं के माध्य से जिनवल्लभसूरिजी के जीवन की झाँकी को सुन्दर एवं कलात्मक ढंग से प्रयुक्त किया गया है। ये गाथाओं में मात्र जिनवल्लभसूरिजी के जीवन की झाँकियों को ही नहीं अपितु समस्त महात्माओं के जीवन सम्बन्धी लक्षणों एवं कार्यप्रणाली एवं प्रवृत्तियों का कलात्मक वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि देखते, पढ़ते एवं सुनते ही बनता है।

इस प्रकार शेष गाथाओं का वर्णन निम्न प्रकार से करेंगे-

श्री हरिभद्रसूरिजी के विषय में लोगों ने विभिन्न मतों को उत्पन्न किया है। परन्तु यह मत तो चैत्यवासियों के द्वारा उद्भूत किये गये थे। श्री हरिभद्रसूरिजी ने १४०० प्रकरणों की रचना करके चैत्यवास के दोषों को एवं जैन धर्म में प्रचलित अन्यान्य दोषों को पूर्णरूपेण दूर करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार चैत्यवास एवं अन्य समाजविरोधी तत्त्वों को दूर करने के लिए आचार्य परम्परा वाले श्री वर्धमानसूरिजी ने तथा उनके शिष्यों ने विचार किया कि 'चैत्यवास में रहना अयोग्य है' ऐसा विचार करके सत्यमार्ग की खोज करके शुद्ध नये 'वसतिवास' मार्ग को अपनाया।

सुमतिगणि रचित गणधर बृहद्वृत्ति में व्याख्याकार ने बताया है कि-चैत्य में निवास करने से जन्म जन्मान्तर तक भयंकर फल को भोगना पड़ता है। इसके कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवभूमि का उपयोग करनेवाले मुनियों के चारित्र में वृद्धि नहीं होती है, उसकी अपेक्षा हानि ही होती है। तो भला श्रावकों को चैत्यवास करना कहाँ तक हितावह होगा ?

देवस्स परिभोगो अणंत-जम्मेसु दारूण विवागो।
जं देवभोग भूमि वुड्ढी ण हु वट्टइ चरित्ते'':

गणधर. (प्रस्तावना पृ.सं.-५४-५५)

प्रस्तुत श्लोक के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मुनियों का चैत्य में निवास करना अयोग्य है। परन्तु इसके विपरीत जो लोग विधिमार्ग के नियमानुसार रहते हैं उनके लिए सुविहितमार्ग योग्य माना गया है। इसलिए वसतिमार्ग सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वसतिमार्ग की श्रेष्ठता पर विचार करते हुए कहा गया है कि अर्द्धकर्मदोष से मुक्त वसति में निवास करने से दोष नहीं होता है। जिन चैत्यों में निवास करना अत्यन्त दोष वाला कहा गया है। ऐसा मुनियों ने सिद्ध किया है। कारण कि दूसरों के घरों में निवास करना शुद्ध और योग्य है। इस वाक्य से तीर्थ का विच्छेद नहीं होता है। इसलिए चैत्यवास का जो समर्थन किया गया है वह मात्र सज्जनों को ठगने के समान है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि तीर्थ का अवच्छेद अर्थात् क्या ? क्या मुनियों के चैत्यवास से और प्रतिमादिक के अनुव्रत से तीर्थ का अवच्छेद हो जाता है ? शिष्य प्रशिष्य की परम्परा से सम्यक् ज्ञान, दर्शन चरित्र की प्रवृत्ति को तीर्थ अविच्छेद कहा जाता है ? [१०]

इसमें से प्रथम पद तो घटता नहीं है क्योंकि चैत्यवास के विना ही भगवान की प्रतिमादिक वृत्तिमात्र देखी नहीं जा सकती है। दूसरे दर्शन की वृत्तियों को ग्रहण करने से उसी प्रकार अनुवृत्ति की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार तीर्थ मार्गच्छेद के कार्य द्वारा मोक्षफल की प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि सिद्धान्त में ग्रहण की हुई जो प्रतिमा है वह भी मोक्षमार्ग का अंगरूप नहीं बन सकती है। इसलिए वसतिमार्ग उसके स्थान पर सर्वोत्तम सिद्ध होता है।[११]

इस प्रकार वसतिमार्ग का प्रचार एवं प्रसार करनेवाले श्री वर्धमानसूरिजी सभी प्रकार के भ्रमों से रहित थे। अर्थात् अपने विचारों से निर्भ्रम थे। स्वसमय और पर समय

---

१०. गणधर सार्द्धशतकम्-जिनकृपाचन्द्रसूरिज्ञानभंडार, इंदौर, पृ.४७

११. वही, पृ.४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पदार्थ-सार्थ का विस्तार करने में समर्थ थे। कहने का तात्पर्य है कि समयानुसार विषयों का निरूपण करने में संशयरहित थे। संशय रहितता ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि प्राप्त करना ही जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि होती है जो आचार्य श्री में पूर्णरूपेण विद्यमान थी। जो उनके त्याग एवं तपस्या का प्रतीक है। इन्होंने अणहिलवाड़ में दुर्लभराज की सभा में प्रवेश करके नामधारी आचार्यों के साथ निर्विकार भाव से शास्त्रीय विचार किया। साधुओं के लिए "वसति निवास" की स्थापना करके अपने पक्ष को स्थापित किया। जहाँ पर गुरुक्रमागत सद्वार्ता का नाम भी नहीं सुना जाता था उस विषम परिस्थितिवाले गुजरात प्रदेश में विचरण करके आपने वसतिमार्ग को प्रगट किया। आपकी शिष्य सन्तति अक्षय बेल (लता)के समान बढ़ी। उस शिष्य सन्तति में अनेक विद्वान, गुणगरिष्ठ, आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवन्त हुए।

इसी शिष्य परम्परा में श्री जिनेश्वरसूरिजी के प्रथम शिष्य 'सुरसुन्दरी कथा' के रचयिता बुद्धिसागरसूरिजी 'संवेगरंगशाला' के प्रणेता श्री जिनचन्द्रसूरिजी, नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी हुए। इनके पश्चात् अपने निकट पूर्वज गुरुजनों की स्तुति एवं प्रशस्ति की है। इस प्रकार यहाँ पर स्तुति एवं प्रशस्ति के साथ-साथ इन सभी आचार्यों की ऐतिहासिक सामग्री भी इसमें पर्याप्त रूप से उपलब्ध है। (गाथा ६३ से ७७)

आचार्य श्री को देव, गुरु और धर्म का स्वरूप बतानेवाले, दुःखों का अन्त करनेवाले गुरुवर्यश्री धर्मदेव उपाध्यायजी, सिंह की तरह मदरूपी हस्ति का नाश करनेवाले गुरुदेव श्री हरिसिंहगणिजी एवं श्री सर्वदेवगणिजी कवि के मनोवांछित पूर्ण करें।

यहाँ पर श्री देवभद्रसूरिजी को सूर्य और चन्द्रमा से बढ़कर श्रेष्ठ बताया है :-

सूरससिणो वि न समा जेसिं जं ते कुणंति अत्थमणं।
नक्खत्तगया मेसं मीणं मयरं पि भुंजंते ॥ ८१ ॥

उपरोक्त गाथा के द्वारा ग्रन्थकार की काव्यप्रतिभा का ज्ञान होता है। इस वर्णन से पता चलता है कि इस काव्यकला में वह पूर्ण निपुण है। यहाँ पर आचार्यश्री अपने गुरु देवभद्रसूरिजी को सूर्य और चन्द्रमा से भी बढ़कर मानते हैं। ये सूर्य एवं चन्द्र गुरु श्री की तुलना के योग्य नहीं हैं। क्योंकि ये सूर्य चन्द्र तो अस्त को प्राप्त होते है, राहु एवं केतु के द्वारा समय-समय पर ग्रसित होते हैं। चन्द्रमा में तो कलंक लगा हुआ है। अतः आचार्यों एवं गुरुवर्यों की तुलना की कोटि में ये कदापि नहीं आ सकते हैं। ये सन्त महात्मा तो कभी भी पतित नहीं होते हैं। ये अपनी यशोगाथाओं की आभा से स्वर्गारोहणोपरान्त भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार में प्रकाशवान रहते हैं। प्राकृत भाषा का ''अत्थमण''(अस्तमन) शब्द यह अर्थ व्यक्त करता है कि- महात्माओं का मन काम विकारादि विषयों से दूर रहता है। वे जितेन्द्रिय होते हैं। आचार्य श्री देवभद्रसूरिजी विषयों के स्पर्श से दूर रहते हैं। आचार्य भगवन्त वासनालिप्त नहीं होते हैं। तब ये अत्थमण अर्थात् अस्तमन करनेवाले सूर्य एवं चन्द्र उनकी तुलना में भला कैसे टिक सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं। सूर्य और चन्द्रमा तो नक्षत्रमार्ग से चलते हुए मेष, मीन और मकरादि राशियों का भी भोग करते हैं। जबकि सदाचार युक्त आचार्यलोक उन मेषादि का उपभोग अर्थात् मांसाहार नहीं करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर स्पष्ट से कहा जा सकता है कि सन्त भगवन्त आचार्य एवं गुरुजनवृन्द तो क्षत्र(सदाचार)के विरुद्ध नक्षत्र (दुराचारों)में भी पड़कर कभी भी मेष (भेड़ा), मीन (मछली) और मकर का सेवन (भोजन)नहीं करते हैं। परमपूज्य देवभद्रसूरिजी तो सदैव सन्मार्ग गामी होने के कारण सत्य और अहिंसा के वरेण्य दूत हैं। इस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा से भी श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति देवभद्रसूरिजी के प्रति भक्ति भावना को अधिक प्रभावती बना रही है। अपने गण के संस्थापक गुरु जिनवल्लभसूरिजी की बहुत ही प्रौढ़ शब्दों में तरह-तरह से स्तवना की गयी है। युगप्रवर श्री जिनवल्लभसूरिजी के जीवन-चरित्र पर बड़ा ही सुन्दर कवित्व मय प्रकाश डाला है। (गणधर. गा.७८ से १०६)

प्रस्तुत कृति की रचना का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ऐतिहासिक गुरुपरम्परा, वसतिवास का समर्थन, जिन मन्दिर में होती आशातनाओं का वर्णन एवं मुनिधर्म की श्रेष्ठता प्रतीत होता है।

आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी वसतिवासादि के समर्थन में बताते हैं कि-

जिस चैत्य में वीतराग भगवान की भक्ति में तल्लीन साधुभगवन्त संसार संताप का नाश करते हैं , उस मन्दिर में रात्रि के समय गीत, नृत्य, वाद्य, बलिपूजा, प्रतिष्ठा आदि वर्जित हैं। उन्होने ऐसे उत्सूत्र भाषक के प्रति निषेधात्मक रीति से समकालीन सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि- जिनेश्वर के मन्दिर में जार स्त्रियाँ रति उत्पन्न करती हैं उस पाप के कारण रात्रि को निष्पाप कैसे माना जा सकता है।

उपरोक्त बातों का पुष्टीकरण करते हुए श्री हरिभद्रसूरिजी भी चैत्यों में निषिद्ध बातों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ पर व्रती लोग निवास करते हैं वहाँ अर्थात् चैत्यों में गीतों का होना, वाद्यों का बजाया जाना, रमणियों के वासनायुक्त दृष्य तथा इससे सम्बन्धित जो अलंकारिक बाते हैं वे सभी विधि चैत्यों में उपहासस्वरूप हैं। इसलिए उन्हें वर्जित किया गया है। क्योंकि उक्त बातों के होने से भगवन्त की आज्ञा का उल्लंघन होता है। अतएव निषिद्ध है। गीत, वाद्य, नृत्य रात्रि में होने से जिनेश्वर के दर्शन की अपेक्षा श्रृंगारिक वृत्तियों में मन अनुरक्त हो जाता है। मन की एकाग्रता भंग हो जाती है। गाथा (१०७-११२)

जिन्चैत्यों में मुनि द्वारा होती आशातनाओं का वर्णन :-

साहू सयणासणभोयणाई आसायणं च कुणमाणो।
देवह रएण लिप्पइ देवहरे जामिह निवसंतो ॥ ११३ ॥
तंबोलो तं बोलइ जिण-वसहि ट्ठिएण जेण सो खद्धो।
खुद्धे भवदुक्खजले तरइ विणा नेय सुगुरु-तरिं ॥ ११४ ॥

उपरोक्त पंक्तियों में ग्रंथकार ने यह बताने की कोशिश की है कि जो मुनि जिन मन्दिर में रहकर शयन आसन और भोजनादि करते हैं, देवद्रव्य का उपयोग करते हैं, तांबूलादि का भक्षण करते हैं , ये सब कार्य मुनियों के लिए अनुपयुक्त है। ऐसे मुनि श्रावक अकल्याण का कारण बनते हैं और उन्नति के वजाय अवनति के मार्ग पर उनका गमन होने लगता है। उत्थान की अपेक्षा पतन का पलड़ा भारी हो जाता है। इन्हीं आशातनाओं के कारण मुनि दुः खरूपी संसार में रहकर अनन्त पापों में डूब जाता है। (११३-११४)

सद्गुरु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

संदेहकारि तिमिरेण तरलियं जेसिं दंसणं नेय।
निव्वुइ-पहं पलोयइ गुरु-विज्जुवएस-ओसहओ ॥११६॥

इस संसार सागर के व्यवहाररूपी शंकाओं से जिनकी दृष्टि व्याकुल बनी है, जिसे मोक्ष मार्ग दिखता नहीं है, अगर उनको सदुरुरूपी वैद्य मिल जावे और उपदेशरूपी औषध मिल जावे अर्थात् जो भी सद्गुरु के उपदेश सुनकर उसका आचरण करेंगे उसका मोक्षमार्ग खुला हुआ समझो।

क्योंकि संसार के मायाजाल के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य कभी भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता है। ऐसी अवस्था में मात्र सद्गुरु का उपदेश ही ऐसा है जिसे सुनकर जीवन में उसका आचरण करके मोक्षमार्ग को स्वच्छ बनाया जा सकता है। सद्गुरु के महत्व का वर्णन करते हुए कहा जा सकता है कि अज्ञान को दूर करने एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार के मायाजाल के चक्कर से छुटकारा प्राप्त करके भगवान के बताए हुए सुन्दर मार्ग पर चलने का यदि कोई रास्ता है तो वह है सद्गुरु का उपदेश। वही उपदेशरूपी औषध ही इन कार्यों को पूर्ण करने में समर्थ है। (११६)

ग्रंथकार को यहाँ पर मुनि धर्म की चर्चा करने का अवसर मिल गया है।

मुनि-धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि :-

पडिसोएण पयट्टा चत्ता अणुसोअगामिणीचत्ता।
जणजत्ताए मुक्का मय-मच्छर-मोहओ चुक्का॥ ११८॥
सुद्धं सिद्धंतकहं कहंति बीहंति नो परेहिंतो।
वयणं वयंति जत्तो निव्वुइवयणं धुवं होइ॥ ११९॥

सच्चे मुनि निस्तारक मार्ग पर चलनेवाले होते हैं, लोक व्यवहार से रहित रहते हैं, मद, ईर्ष्या तथा मोह से अलग रहते हैं, ये मुनि सिद्धान्त की बात निडरता से कहते हैं। ऐसे मुनि के वचनों में निश्चय ही मोक्ष रहता है।

उपरोक्त मुनिमार्ग के विपरीत व्यवहार करनेवाले, मुनिवेश धारण करने पर भी पूजनीय नहीं होते हें। उनका दर्शन भी जीवों के लिए मिथ्यात्व उत्पन्न करता है। (११८-११९)

मुनियों को बादलों से भी उपमित नहीं किया गया है। -

मुनिजनों को बादल से उपमित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि बादल तो अपने शुद्ध जल से सर्वत्र धनधान्य की समृद्धि करता है, समस्त भूतल को जल से सिंचित करके निर्मल बना देता है, उसी प्रकार सद्गुरु भी अपने उपदेशरूप ज्ञान बादलों से लोगों के दिलों दिमाग को पूर्णरूपेण परिशुद्ध करते हैं। लेकिन बादलों का समूह तो तूफान एवं आंधियों के द्वारा विचलित किया जाता है, जबकि सद्गुरुओं को कोई भी तूफान उनके मार्ग से नहीं हटा सकता। सद्गुरु अपने ज्ञानगंगारूपी उपदेश की वर्षा से चारो चरफ ज्ञानगंगा के प्रवाह को फैलाकर समस्त भूतल एवं संसारी जीवों को भी पवित्र बना चुके हैं। इसलिए सद्गुरुओं की तुलना बादलों से नहीं की जा सकती क्योंकि बादल तो निम्न कोटी के हैं।

मुनि को समुद्र से भी उपमित नहीं किया है :-

जो मुनि दूसरों की सहायता के बिना विधिमार्ग को अपनाते हैं, जो दूसरे आचार्यों को दृष्टिगोचर नहीं होता है, किंतु जैन मत के ज्ञाता, अनेक जनप्रवाह रूप नदी के प्रवाह में परिवर्तित संकट में पड़े हुए विशुद्ध धर्मभार को धारण करनेवाले, लौकिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवाह के अनुसार नहीं चलनेवाले को मुनि ने बेल की तरह बाहर निकाला है। क्योंकि जो सद्गुरु होते है वह मेघ के सदृश है, जब वे विचरण करते है तब सम्यक् वाणी (उपदेश)की वर्षा करके, धर्मरूपी धान्य की उत्पत्ति करनेवाले होते हैं। ऐसे मुनि जगत में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, तो ऐसे मुनियों को समुद्र से उपमित करना अयोग्य है। (१२०-१२६)

मुनियों की तुलना चन्द्र से नहीं की जा सकती- सूर्य से की जा सकती है :-

भव्वजणेण जग्गियमवग्गियं दुट्ठ-सावय-गणेण।
जड्डमवि खंडियं मंडियं य महिमंडलं सयलं॥ १३०॥
अत्थमइ सकलंको सया ससंको वि दंसिय-पओसो।
दोसोदए पत्तपहो तेण समो सो कहं हुज्जा॥ १३१॥

जिन आचार्यों ने (मुनि समुदायने)भव्यजनों को जाग्रत किया है, और दुष्ट श्रावक समुदाय को अवग्रहित उपेक्षित किया है अर्थात् अज्ञानियों के अज्ञानरूपी अंधकार को विनष्ट किया है और सम्पूर्ण जगतीतल को सुशोभित किया है ऐसे आचार्य की तुलना सूर्य से की जा सकती है परन्तु चन्द्र से नहीं।

क्योंकिचन्द्र हमेशा उदित और अस्त होता रहता है।उदित होने पर ही प्रकाशवान होता है। प्रकाशित होने पर भी मृंगलांछन नामक कलंक से कलंकित होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्यो की तुलना यदि कोई चन्द्र से करना चाहे तो वह पूर्णतया असिद्ध है। क्योंकि मुनियों ने (आचार्यों ने)समाज के अज्ञानान्धकार से कुंठित बुद्धि वाले लोगों के अन्तर में ज्ञानरूपी प्रकाश को पूर्णरूपेण प्रकाशित कर उनके हृदय को ज्ञानयुक्त बनाया है। जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर संसार के कोने-कोने में प्रकाश का साम्राज्य छा जाता है, अन्धकार नष्ट हो जाता है, जन-जन में नया तेज स्फूर्ति एवं कर्मभावना जाग्रत हो जाती है- ठीक उसी प्रकार आचार्यों के प्रभाव से मूढ़ से मूढ़ लोग भी ज्ञानवान बन जाते हैं। जबकि चन्द्र तो स्वयं कलंकित है। चन्द्र में एक ही नहीं अनेक दोष हैं। वह कभी घटता है कभी बढ़ता है। कभी राहु आदि ग्रहों से ग्रसित होता है। कभी उसे प्रदोष होता है। इस प्रकार चन्द्र की चाँदनी शीतल तो अवश्य होती है परन्तु एक गुण के साथ अनेक अवगुण लगे हुए हैं। जबकि मुनियों में अवगुणों का नामोनिशान भी नहीं है। तब भला उनकी तुलना चन्द्र से करना योग्य होगा क्या ? नहीं, कदापि नहीं। मुनियों की तुलना ज्योतिपुंज मारीचि मालित सूर्य से अवश्य की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि की तुलना विष्णु से की गयी है :-

संजणियविही संपत्तगुरुसिरी जो सया विसेसपयं।
विण्हु व्व किवाणकरो सुरपणओ धम्मचक्कधरो ॥ १३२॥

प्रस्तुत गाथा में मुनियों की तुलना भगवान विष्णु से करते हुए कहते हैं कि- जिस प्रकार विष्णु ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया, मुनियों ने विधिमार्ग उत्पन्न किया, विष्णु ने लक्ष्मी को प्राप्त किया, तो मुनियों ने चारित्रलक्ष्मी को प्राप्त किया। विष्णु ने हमेशा शेषनाग को अपना पद बनाया है जबकि मुनियों ने अतिशयों को अपना पद बनाया है। विष्णु खड्गहस्त है जबकि मुनि लोग दया और जिनाज्ञा का पालन करनेवाले हैं। विष्णु देवपूजित हैं, जबकि मुनि देव-देवियों से पूजित हैं। विष्णु चक्रधारी हैं जबकि मुनि धर्म के चक्र को धारण करनेवाले हैं।

इस प्रकार मुनियों की तुलना के लिए ग्रन्थकार ने जो तर्क उपस्थित किये हैं वे सभी अपने-अपने स्थान पर अत्यन्त सचोट एवं अपूर्व सिद्ध है। इसलिए भगवान विष्णु के समान मुनियों को बताना उपयुक्त एवं तर्कसंगत है। इसलिए विष्णु एवं मुनियों की तुलना एक अपूर्व एवं सम्पूर्ण तुलना है। अतः मुनि चन्द्र नहीं सूर्य सदृश एवं भगवान विष्णु के समान है।

मुनि को शिव की उपमा नहीं दे सकते :-

मुनियों की उपमा भगवान शिव से नहीं की जा सकती है।क्योंकि वे तो अर्धांग गौरी अर्थात् पार्वती को समर्पित कर देते है परन्तु मुनि तो इन विषयों से हमेशा दूर ही रहते है। इस प्रकार शिव भी मुनियों की उपमा में निम्न कोटि के हैं।

पुनः मुनियों एवं आचार्यों की उपमा एवं तुलना के सम्बन्ध में आचार्य श्री दादासाहब का कहना है कि-

मुनि के लिए उपमा देना कवि सामर्थ्य के बाहर है। यहाँ तक कि- आचार्यश्री मुनियों के लिए कहते हैं कि जिस प्रकार हस्ताञ्जलि से समुद्र का माप भले हो जाय, पैरों के द्वारा आकाश का उल्लंघन भले हो जाय, परन्तु इन मुनियों के गुणों एव चरित्रों को उपमा से कभी भी उपमित नहीं किया जा सकता है। अतएव मुनियों को उपमा देना कवि के सामर्थ्य के बाहर है। शुद्ध वस्तु के साथ जिस प्रकार अशुद्ध वस्तु की तुलना करके उसकी शुद्धता पर मात्र लांछन ही लगाया जा सकता है। बल्कि शोभा वृद्धि नहीं हो सकती है। अतएव शुद्ध चरित्रवान मुनियों की उपमा के लिए उपमान नहिवत् है। (१३६-१४२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार आचार्य श्री जिनदत्तसूरिने उक्त उद्देश्यों को सफलतापूर्वक निरूपित किया है। "गणधर सार्द्धशतक" अत्यन्त उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इसका स्थान गुजरात के इतिहास की दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि गुर्जर भूमि के लिए "गुजरत्ता" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आपने ही इस ग्रन्थ की गाथा में किया है।[१२]

प्रस्तुत ग्रन्थ की सार्थकता एवं फलश्रुति का वर्णन करते हुए युगप्रधान आचार्य श्री "जिनदत्तसूरि" कहते हैं कि जो भी भव्य जीव इस ग्रन्थ को मनसा, वाचा, कर्मणा अध्ययन कर मुनियों से प्राप्त शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारेंगे, उसका उचित उपयोग करेंगे, वे भ्रमणरूपी संसार के आवागमन से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त करेंगे। अर्थात् मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करेंगे। यही इस ग्रन्थ की फलश्रुति है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मात्र धार्मिक प्रचार-प्रसार का साधन ही नहीं है। अपितु तत्कालीन इतिहास, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति और कला साहित्य इत्यादि का सम्पूर्णरूपेण विवरण देने वाला ग्रन्थ है।

अलंकार :-

आचार्य जिनदत्तसूरि ने अपने ग्रन्थ में किसी भी प्रकार की शिथिलता को आने नहीं दिया है। इसी कारण काव्यांगो को अलंकार पक्ष पर भी विशिष्ट ध्यान दिया है। ग्रन्थ में अनेक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। जिससे वकतव्य वस्तु अधिक सुस्पष्ट होकर हमारे सम्मुख प्रकट होती है।

श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति तथा विरोधाभास इत्यादि अलंकारों का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर हुआ है। साथ में शब्दालंकारों में अनुप्रास की छटा देखते ही बनती है। गुरुगुण वर्णन में रूपक और उपमा की भरमार है।

अनुप्रास :-

सपरे सिंहियकए सुकय जोगउ
जोग्गयं दड्ढु ॥ १८ ॥

यहाँ पर **स** वर्ण एवं **ग** वर्ण का वारंवार उच्चारण होने सें अनुप्रास अलंकार है।

---

१२. युगप्रधान जिनदत्तसूरिजी-अगरचंदजी नाहटा-३४, पृ.६६
"परिहरिय गुरुकमागय क्खत्ताए वि **गुज्जरत्ताए**।
वसहि निवासो जेहि फुडीकओ गुज्जरत्ताए ॥"
"गणधर सार्धशतकम्", पृद्य-१, ६८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधाभास अलंकार :-

तिजगय-गय-जीवबंधूणं जो बंधू बुद्धिसागरो सूरि।
***कय-वायरणो** वि न जो **विवाय-रण-कारओ** जाओ ॥ ६९ ॥*

यहाँ पर व्याकरण की रचना करने पर भी वे विवाद रणकारक नहीं बनते है इसलिए विरोधाभास अलंकार है। क्योंकि- **कयवायरणो** अर्थात् किया है व्याकरणविशेष जिसने ऐसे बुद्धिसागरसूरि **विवादरूप रण** करनेवाले नहीं हुए हैं।

पूर्णोपमालंकार :-

तेसिं पयपउमसेवारसिओ भमरु व्व सव्व-भम-रहिओ।
ससमय-परसमय-पयत्थ-सत्थवित्थारण-समत्थो ॥ ६४ ॥
अणहिलवाडए नाडइच्च दंसिय सुपत्त संदोहे।
पउरपए बहुकविदूसगे य सन्नायगाणुगए ॥ ६५ ॥

यहाँ पर ''पदपउम'' = ''पादपद्म'' अर्थात् पैर है कमल ऐसे पूर्णोपमालंकार है।

सूरिजी ने अणहिलवाड़ की नाटक से उपमा दी है। राजा दुर्लभराज को नायक माना है। मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को पात्र माना है। सुख सम्पत्तिपूर्व हाव-भाव विलास से पूर्व व्यक्तियों को विदूषक माना है। इस प्रकार के नाटक से पूर्णोपमालंकार है। (गाथा-६५)

श्लेषालंकार :-

आयार-वियारण-वयण-चंदिमा-दलिय-सयल-संतावो।
सीलंको हरिणंकु व्व सहइ कुमुयं वियासंतो ॥ ६० ॥

कुमुयं वियासन्तो = कुमुदं विकासयन्!

कुमुयम् (१) कमल को
(२) पृथ्वी को

यहाँ पर राजा को कमल के पक्ष में चन्द्र तथा पृथ्वी के पक्ष में राजा के स्वरूप में माना गया है। और राजा कुमुद के दो अर्थों के साथ अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अतः श्लेषालंकार है।

अणहिल्लवाडए नाडइव्व दंसिय सुपत्त संदोहे।
पउरपए बहुकविदूसगेय सन्नायगाणुगए ॥ ६५ ॥

बहुकविदूसगेय :- **बहुकविदूसगे** यहाँ पर यह दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) बहुत सारे वस्त्रों को धारण करनेवाला अर्थात् ''धोबी''

(२) रंगविरंगी एवं सार्थक मात्रा में कपड़े धारण करनेवाला अर्थात् विदूषक(जोकर)।

सूर ससिणो वि न समा जेसिं जं ते कुणंति अत्थमणं।
नक्खत्तगया मेसं मीणं मयरं पि भुंजंते ॥ ८१ ॥

(१) नक्षत्र=तारा

(२) नक्षत्र=असदाचार को प्राप्त हुए।

यहाँ पर नक्षत्र शब्द के एकाकी प्रयोग पर भी अलग-अलग अर्थ है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार है।

फुरियं नक्खत्तेहिं महागहेहिं तओ समुल्लसियं।
वुड्ढी रयणियरेणा वि पाविया पत्तापसरेण ॥ ८७ ॥

नक्खत्तेहिं = नक्षत्रकैः

(१) असदाचारी

(२) कदाग्रही

यहाँ पर नक्षत्र शब्द असदाचारी एवं कदाग्रही इन दो अर्थो में प्रयुक्त किया है।

संहरइ न जो सत्ते गोरीए अप्पए नियमंगं।
सो कह तव्विवरीएण संभुणा सह लहिज्जुवम्मं ॥ १३५

गोरीए = गोर्या

(१) गोरी = स्त्री (अर्थात् गौर वर्णवाली)

(२) गोरी = गौरी पार्वती।

यहाँ पर गोरी शब्द के भिन्न-भिन्न दो अर्थ होते हैं। अतएव यहाँ पर भी श्लेषालंकार है।

रूपक अलंकारः- गुणमणिरोहणगिरिणो, गुणरूपी रत्नों :-

अर्थात् रूपक अलंकार। यहाँ पर ऋषभजिनेन्द्र के गुणों की तुलना रत्नों के साथ की गयी है।

उपमा अलंकारः- *सिरिथूलभद्दसमणं वंदेहं मत्तगयगमणं ॥ १९ ॥*

मत्तगजगमनम्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ पर मदोन्मत्त हाथी के समान गति (चाल)वाले श्री स्थूलभद्र मुनि को अर्थात् श्री स्थूलभद्र मुनि की गति की तुलना हाथी की गति से की गयी है। अतएव उपमा अलंकार है।

अज्जसमुद्दं जणयं सिरइ वंदे समुद्द गंभीरं ॥२२॥

समुद्र गंभीर - समुद्र के समान गंभीरतावाले श्री आर्य समुद्र।

गम्भीरता में समुद्र के समान अर्थात् समुद्र की गंभीरता (गहराई)के साथ आचार्यमुनि की गंभीरता की तुलना के कारण उपमा अलंकार है।

सीहत्ता निक्खंतो सीहत्ताए य विहरिओ जो उ॥ १२॥

पराक्रम में सिंह के समान- यहाँ पर सूरिजी के पराक्रम की तुलना सिंह के पराक्रम से की गयी है। अतः उपमा अलंकार है।

पणमामि पायपउमं विहिणा विणएव निच्छउ मं।

प्रणमामि पादपद्मम्- कमलरूपी चरण की वन्दना की गयी है।

यहाँ पर पैरों को कमलरूपी होने से रूपक अलंकार है।

पोयाण व्व सूरीणं जुगपवराणं पणिवयामि॥ ६१॥

पोतानामिव सूरीणां- जहाज (समुद्री जहाज) के समान युग प्रधान'-अर्थात् पोत के समान कहने का तात्पर्य यह कि जैसे भव्यप्राणी समुद्र में डूब रहे हैं तो उनकी सहायता जिस प्रकार जहाज के द्वारा होती है। वैसे ही अज्ञानरूपी अंधकार में डूबते लोगों की रक्षा करनेवाले युगप्रधान होते हैं। अतएव पोत एवं युगप्रधान की तुलना होने के कारण उपमा अलंकार है।

अतिशयोक्ति अलंकारः-

तमहं दसपुव्वधरं धम्मधुराधरणं सेससमविरियं। ३७॥

अर्थात् दशपूर्व विद्याओं को धारण करने वाले और उस धर्मधुरा को धारण करने में जो शेषनाग से भी कम नहीं है। अर्थात् उनके पराक्रम को शेषनाग के पराक्रम से भी अधिक बताया गया है। अतएव अतिशयोक्ति अलंकार है।

गुणकणमवि परिकहिउं न सक्कई सक्कई वि जेसिं फुडं॥

जिनके गुणों की तो बात ही नहीं अपितु गुण के लेशमात्र को भी कह सकने में कोई सत्कवि समर्थ नहीं है। इस प्रकार गुणों को इतना बढ़ा दिया गया है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपक अलंकार :-

तं तिहुयणापणयपयारविदमुद्दामकामकरिसरहं ॥ ७

पदारविन्द- काम करिशरभम्-

कमलरूपी चरण-कामदेवरूपी हस्ती

यहाँ पर सुधर्मा स्वामी के चरणों को कमलरूपी और कामदेवरूपी हस्ती में रूपक अलंकार है।

लीलाइ जेण हणिओ सरहेण व मयणमयराओ।

मदन मृगराजः- कामदेव रूपी सिंह

यहाँ पर कामदेव को सिंह का रूपक बताया गया है अतः रूपक अलंकार है।

संसारचारगाओ निव्विन्नेहिं पि भव्व जीवेहिं ॥ ८६ ॥

संसार वारकेभ्यः- संसाररूपी बन्दीखाना में दुःखी हुए। यहाँ पर संसार को बन्दीखाना बताया गया है। अतएव रूपक अलंकार है।

धणजणपवाहसरियाणुसोअपरिवत्तसंकडे पडिओ ॥ १२३ ॥

धन जन प्रवाह सरिता= जनप्रवाह रूप नद- यहाँ पर लोगों के प्रवाह को नदी का रूपक बताया गया है। अतः रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकारः-

कुंकुणविसए सोपारयम्मि सुगुरुवएसओ जेण ॥ ३६ ॥

मानो जिस सुगुरु के उपदेश से ही कोंकण देश के सोपारक नगर में अकाल होने पर भी कोई तकलीफ नहीं होगी।

यहाँ पर सुगुरु उपदेश को ही सबकुछ अर्थात् अकाल निवारण का उपाय मान लिया गया है। अतएव यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है।

सुगुरु समीवोवगओ तदुत्तसुत्तोवएसओ जो उ।
पडिवन्न सव्वविरइ तत्तरुई तत्तविहियरई ॥ ५३ ॥

सद्गुरु के पास जाकर; उनके दिये गये सिद्धान्त उपदेश से सर्व विरति को अंगीकार किये हुए तथा तत्वों में रुचि रखनेवाले और तत्व में ही रति किया हो ऐसे युगप्रधान।

यहाँ पर उपरोक्त वर्णित सभी गुणों को युगप्रधान में दृढीभूत कर दिया गया है। अतएव उत्प्रेक्षा अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्द : -

''युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि'' रचित ''गणधर सार्धशतक'' में प्रारम्भ से लेकर अन्तिम गाथा तक गाथा (आर्या) छन्द का प्रयोग किया गया है।

गाथा (आर्या) छन्द की-प्रथम पंक्ति में १२ और १८ कुल मिलाकर ३० (तीस) मात्राएं होती हैं। जब कि- द्वितीय पंक्ति में १२ और १५ कुल मिलाकर २७ मात्राएं होती हैं।

उदाहरण :-

गुणमणिरोहणगिरिणो, रिसहजिणिंदस्स पढममुणिवइणो।
सिरिउसभसेनगणहारिणोऽणहे पणिवयामि पए॥ १॥

***

२. सुगुरु -गुण-संथव-सत्तरिया (गणधर सप्ततिका)

प्रस्तुत ''गणधर सप्ततिका'' युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि द्वारा रचित एक टिप्पण स्वरूप ग्रन्थ है जिस समय आचार्य श्री का आचार्यत्व चतुर्दिक प्रंशसा प्राप्त हो रहा था। पूर्व विवरण में कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण भारत देश में विभिन्न प्रकार की बाधाएँ एवं अवरोध बढ़ रहे थे। चैत्यवास इत्यादि के कारण धर्मो में भी धीरे-धीरे शिथिलता तो आ ही चुकी थी परन्तु आचार्यश्री के प्रयत्नों से यह क्षति धीरे-धीरे पूर्ण होने लगी थी। परन्तु सम्पूर्ण भारत वर्ष में मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग सर्वथा बढ़ रहा था। कभी-कभी लोग अपने छोटे-छोटे कार्यों की सिद्धि के लिए या अपने स्वार्थ साधने के लिए भूत-प्रेतादिकों की सिद्धि करके उसका अनुचित प्रयोग करते थे जो सामान्य लोगों के लिए कभी-कभी आपत्ति का कारण बन जाता था।

ऐसी ही एक कथा है इस रचना के सम्बन्ध में- एक कोई श्रावक जो किसी व्यन्तर देव से पीड़ित था उसके निवारण के लिए इसकी रचना की गयी थी।

इस ग्रन्थ के रचनासमय के विषय में कुछ निश्चित तिथि का उल्लेख कहीं से प्राप्त नहीं होता है। इसलिए दिन एवं तिथि की निश्चितता के अभाव में प्रमाण के बिना कुछ कहा नहीं जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि युगप्रधानपद पर आसीन होने के बाद जब आचार्यजी रुद्रपल्ली जा रहे थे उसी समय दरम्यान इसकी रचना की गयी है और यह समय बारहवीं शताब्दीं का है क्योंकि श्री जिनदत्तसूरि का युग बारहवीं शताब्दी निश्चित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार इस ग्रन्थ अर्थात् ''सुगुरु गुण-संथव सत्तरिया'' (गणधर सप्ततिका)की रचना बारहवीं शताब्दी ही निर्विवाद सिद्ध होती है।

इस ग्रंथ की भाषा सरल और सुबोध प्राकृत है। क्लिष्ट समस्त पदों से रहित है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह भाषा जनसामान्य की होने के कारण लोकभोग्य है।

''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया'' (गणधर सप्ततिका)के शीर्षक का शाब्दिक अर्थ करने से ख्याल आता है कि यह एक ऐसा संग्रह है जिसमें अच्छे गुरु के गुणों का वर्णन सत्तर गाथाओं में किया गया है। दूसरे शब्दों में यदि ''गणधर सप्ततिका''को ध्यान में लेकर शाब्दिक अर्थ किया जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि ''गणधरों के गुणों का वर्णन'' किया गया हो ऐसा ग्रन्थ।

इस कृति की दो हस्तप्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक जैसलमेर में स्थित बृहद्ज्ञानभडारस्थ ताड़पत्रीय प्रति जिसकी प्रतिलिपि श्री हरिसागरसूरिजी के द्वारा की गयी है और दूसरी जैसलमेर में स्थित थाहरूशाह के भंडारस्थ कपड़े पर टिप्पणाकार में लिपिबद्ध प्रति। इनमें प्रथम प्रति को प्रमाणभूत मानकर श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रकाशित की है।[१३] यहाँ परिशिष्ट में क्रमांक १ पर मूल एवं हिन्दी अनुवाद किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ की रचना के हेतु के विषय में यदि विचार किया जाय तो ग्रन्थ से अध्ययन एवं उससे सम्बन्धित विवरण से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ उस समय समाज में फैले हुए दुराचार से सम्बन्धित तथा उसके परिणाम स्वरूप समाज में सर्वत्र समस्त प्रकार के आधि-व्याधि उपद्रवों के शमनार्थ प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है।

इस कृति के सम्बन्ध में कहा गया हैं कि ''आचार्यश्री के रुद्रपल्ली विहार दौरान एक महान दुष्ट व्यन्तर से पीड़ित एक श्रावक ने सूरिजी के समक्ष अपना सम्पूर्ण दुःख व्यक्त किया। संवेदनशील आचार्य महाराज का हृदय दया एवं करुणा से उद्वेलित हो गया।''[१४]

---

१३. श्री युगप्रधान जिनदत्तसूरि-पृ.सं.९७.

१४. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि-आचार्य जिनविजयजी, पृ.१८, पैराग्राफ-३४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यन्तर का प्रयोग किया गया परन्तु सब निष्फल रहा। मन्त्र तो मात्र शब्द स्वरूप होता है। परन्तु साधकों की यौगिक प्रक्रिया के द्वारा एवं पूर्ण प्रयत्नों से ही मन्त्र प्रभावशाली बनते हैं। अतएव युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी ने उस श्रावक के दुःख दूर करने के लिए ही पूर्वाचार्यों के गुणों का वर्णन संकीर्तनात्मक रूप में वर्णन करके दे दिया और उसका पठन तथा ध्यान करने के लिए कहा। यह भी कहा कि इस टिप्पण पर दृष्टि लगाये रखना।

श्रावक ने श्रद्धाभाव से इस ग्रन्थ को स्वीकार किया। ग्रन्थ का प्रभाव अद्भुत था। शब्दों के संयोजन के साथ-साथ गुरु की महिमा एवं आशीर्वाद से उन शब्दों में अद्भुत शक्ति का आविर्भाव हो गया था।

कहा जाता है कि श्रावक ने गुरुवचनों में विश्वास करके ग्रन्थ पर स्थिर दृष्टि रखने से वह श्रावक दुष्ट व्यन्तर की पीड़ा से मुक्त हो गया। स्वास्थ्यलाभोपरान्त स्वस्थ होकर वह श्रावक धर्माराधन में विशिष्ट रूप से लग गया।

इस प्रकार रचना हेतु की दृष्टि से यदि यह ग्रन्थ देखा जाय तो पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना आचार्यश्री ने श्रावक की व्यन्तर पीड़ा दूर करने के लिए ही की थी।

''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया'' नामक ग्रन्थ की प्रथम गाथा में ''आचार्य दादा साहब'' मंगलाचरण का निर्वाह करते हुए सर्वप्रथम अपने प्रथम मुनिपति श्री ऋषभ जिनेन्द्र और उनके प्रथम गणधर श्री ऋषभसेन के चरणकमलों की वन्दना करते हुए लिखते हैं :

गुणमणिरोहणगिरिणो रिसहजिणिंदस्स पढम-मुणिवइणो।
सिरिउसभसेण-गणहारिणोऽणहे पणिवयामि पए॥ १॥

प्रस्तुत श्लोक में प्रथम तीर्थंकर एवं प्रथम गणधर की वन्दना करते हुए कहते हैं कि गुणों को उत्पन्न करते हैं अर्थात् जिस प्रकार रोहणाचल से विभिन्न प्रकार के रत्नों की उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार प्रथम जिनपति ऋषभ जिनेन्द्र समस्त गुणों की खान है। संसार में प्रसरित विभिन्न प्रकार के गुणों की उत्पत्ति श्री ऋषभ जिनेन्द्र से हुई है। ऐसे गुणाकर श्री ऋषभसेन जिनेन्द्र और उनके प्रथम गणधर की कवि वन्दना करते हैं।

इस ग्रन्थ को विषय वस्तु अवलोकन दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस ग्रन्थ में एवं **गणधर सार्धशतक** में कोई खास अन्तर नहीं है। फिर भी विषय-वस्तु विश्लेषण की दृष्टि से उसका निरूपण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ में वर्णित संयमी जीवन के विषय को परिपुष्ट करते हुए कहते हैं कि-

संयम और नियम पूर्वक जीवन-यापन करना बड़ा ही दुष्कर है। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है कई मुनियों ने तो इस मार्ग को तेज तलवार की धार के समान बताया है। वज्रस्वामी की वीतरागता को उभारने हेतु नारी के हावभावादि के वर्णन में सूरिजी की मौलिकता की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कवि नारी के हावभावादि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

इन्द्रधनुष जैसे विद्युत की तरह भौंहों से नेत्र कटाक्ष करनेवाली, पुष्ट अंगो की प्रतिष्ठावाली, श्रेष्ठ चेष्टाओं से आकर्षित करनेवाली, अपने गुणों को सुनकर उत्कंठित मनवाली, अपने से प्राप्त धन, सुवर्ण, रत्नों से युक्त ऐसी कन्या का साथ मिलने पर भी युवावस्था को प्राप्त श्री वज्रस्वामी तनिक भी मोहित नहीं हुए।

अवान्तर प्रसंग के रूप में स्थूलिभद्र कोशा कथा के द्वारा संयम की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहते है कि-

स्थूलिभद्र मुनि जो कोशा वैश्या के संग निवास करके भी मुनियों के बीच प्रशंसा को प्राप्त किये ऐसे मुनि धन्य हैं। क्योंकि ''संसर्गजा दोषा गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषा॥''

अर्थात् 'संसर्ग से दोष गुण हो जाते हैं। गुण दोषों में परिणत हो जाते हैं।' वेश्याओं के मध्य निवास करके शुद्धता का और ब्रह्मचर्य का पालन करना तो बड़ा ही दुष्कर कार्य है। उसमें भी कोशा की लीलाएं तो कामरूपी प्रदीप्त दीपशिखा के समान थी। स्नेहयुक्त नेत्रोंवाली ऐसी कोशा के साथ रहते हुए भी स्थूलिभद्रमुनि में कामविकार उत्पन्न न हो सका। ऐसे स्थूलिभद्रमुनिने कोशा के संसर्ग में रहकर उसके जीवन को आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया। जितना ही उसमें तीव्र राग भावना थी उसके विपरीत आपके संसर्गने ही पहले की अपेक्षा उसे अधिक वैरागी बना दिया। यहाँ पर राग एवं विराग के माध्यम से विरोधाभास अलंकार का सुन्दर चित्रण किया गया है।

जो विश्व के ग्रहों में सूर्य के समान अपनी प्रभा को प्रकाशित करते हैं, जिन्होने तिमिराच्छन्न वातावरण को प्रभायुक्त बना दिया ऐसे अन्तिम चतुर्दश-पूर्वी, चरित्रयुक्त ज्ञानरूपी लक्ष्मी जहाँ निवास करती है ऐसे गुणगण युक्त संयमी स्थूलिभद्र मुनि के प्रसंग का यहाँ निरूपण किया गया है।

माता के वचनों का पालन करने में तत्पर आज्ञाकारी पुत्र आर्यरक्षित सूरिजी की जीवन घटना पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निय-जणणि-वयण-करणंमि उज्जओ दिट्ठिवाय-पढणत्थं।
तोसलिपुत्तंतगओ ढड्ढर-सड्ढाणुमग्गेण ॥ ३२ ॥

माता की आज्ञानुसार आर्यरक्षित दृष्टिवाद सूत्र का अध्ययन करने के लिए तोशलिपुत्र नामक आचार्य के पास ढड्ढर नामक श्रावक के साथ गये।

हमारा देश एक धार्मिक एवं धर्मप्रधान देश है। यहाँ की अपनी सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव अर्थात् यहाँ की प्रजा माता, पिता और गुरु को प्राचीनकाल से पूजती चली आयी है। उनके आदर सत्कार में कभी किसी प्रकार की कमी फटकने भी नहीं पाती। उसी परम्परा का निर्वाह यहाँ भी बताया गया है। प्रसंगानुसार गुरु के पास पहुंचने के बाद गुरु ने पूछा- तुम्हारे धर्मगुरु कौन है ? विनयपूर्वक उत्तर दिया- ढड्ढर श्रावक। सिंहवत् संसार का परित्याग करके एवं चारित्र का पालन करते हुए साढे नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। एक बार महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर भगवान से शक्र ने पूछा- निगोद का स्वरूप कौन जानता है ? तो भगवान ने कहा- भरतक्षेत्र में आर्यरक्षित सूरिजी निगोद का स्वरूप जानते हैं। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर वहाँ आया और आर्यरक्षितसूरिजीने देह प्रमाण जानकर उनके स्वरूप को बतलाते हुए कहा- आप शक्र हो। बाद में निगोद की प्ररूपणा(व्याख्या) की। शक्र अतीव प्रसन्न हुआ और विनय पूर्वक स्तुति करके कहा- आप प्राणियों को अक्षत अर्थात् परमपद देने में समर्थ हो। इसलिए संसार के सांसारिक लोगों को इसके महत्त्व को समझा दें। संसार का कल्याण कीजिए। (३२-४१)

युगप्रधान आचार्य श्रीने साधुजीवन के सभी पक्षों को अच्छी तरह से देखा है, उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

सुविहित साधु पाँच समिति, तीन गुप्ति अर्थात् 'अष्ट' [१५] प्रवचनमाता का पालन करने में तत्पर, वसतिवास में रहनेवाले, परिमित आहार करनेवाले, विभूषणा अर्थात् आभूषण रहित, बाह्य और आभ्यन्तर बारह प्रकार के तप का पालन करनेवाले, यतनापूर्वक आहार, पानी, वस्त्र और वसति को शुद्ध करते हुए विचरण करते हैं।

---

१५. जैन दर्शन में अष्ट प्रवचनमाता के नाम-(१) इर्या समिति, भाषा समिति. एषणा समिति, आदानभाण्डमात्र निक्षेपण समिति, पारिष्ठापनिका समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, कुल मिलाकर आठ नाम हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवादि नव [१६] तत्त्वों के ज्ञाता, पंचाचार [१७] का पालन करनेवाले, जिनाज्ञा का पालन करने में तत्पर, प्रमादरहित, अनवद्य निष्पाप बोलनेवाले, पूर्वाचार्यों की आज्ञानुसार वर्तन करनेवाले, सिद्धान्त सूत्रों के ज्ञाता, दुर्वचनों को सहन करनेवाले, बालजीवों (अज्ञानी)को बोध देकर सन्मार्ग में लानेवाले ऐसे पूर्वाचार्य उपाध्याय सच्चे साधु होते हैं।

इन्हीं विवरणों के साथ आचार्यश्री हमारे धर्मगुरुओं की पहचान कराते हैं। (६२-७४)

उपर्युक्त कृति में संयम जीवन की महत्ता, धर्मगुरुओं के आचार विचार तथा सुविहित सच्चे मुनि की पहचान आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ को जो भी श्रद्धा से स्मरण करेगा, पढ़ेगा वह सभी सांसारिक एवं आधि-व्याधि के दुःख द्वन्द्वों से मुक्ति प्राप्त करेगा। आचार्य श्री द्वारा निर्मित यह लघुकाय ''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया''नामक ग्रन्थ भावि मानव समाज के लिए आलंबन बन गया है।

यद्यपि यह कृति सर्वथा नवीन नहीं कही जा सकती क्योंकि ''गणधर सार्धशतक'' की बहुत सी गाथाएँ इस में भी मिलती हैं, विषय और भाषा में भी समानता है। दोनों के साम्य का निरूपण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

दोनों ग्रन्थों की समानता :-

(१) लगभग ४० गाथा गणधर सार्धशतक की ''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया'' में ज्यों की त्यों पायी जाती है।

जैसे कि-

---

१६. ''जीवाऽजीवा पूण्णपावाऽऽसंवरो य निज्जरणा।
बंधो मुक्खो य तहा नव तत्ता हुंती नायव्वा॥'' (गाथा-१, नवतत्त्व प्रकरण)
अर्थ -जीव तत्त्व,अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर,निर्जरा, बन्ध, मोक्ष ये नव तत्त्व जानना चाहिए।

१७. पंचाचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्राचार, वीर्याचार ये पाँच पंचाचार के भेद है पंचाचार का वर्णन देखे-संदेहदोलावली कृति में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरिवद्धमाणवरनाणचरणदंसणमणीणं जलनिहिणो।
तिहुयणपहुणो पडिहणियसत्तुणो सत्तमो सीसो॥

(गणधर सार्धशतक गाथा क्रमांक-३)

(सुगुरु गुण संथव सत्तरिया गाथा क्रमांक-३)

(२) कुछ पद्यों की पंक्तियों में परिवर्तन देखने को मिलता है।

जैसे कि-

'गणधर सार्धशतक'का २४ वीं गाथा की प्रथम पंक्ति और 'सुगुरु गुण संथव सत्तरिया'की २४ वीं गाथा की प्रथम पंक्ति में साम्य है जब कि दूसरी पंक्ति में सामान्य अन्तर है।

(३) 'गणधर सार्ध शतक' की ३४ वीं गाथा 'सुगुरु गुण संथव सत्तरिया' की ३२ वीं गाथा की प्रथम पंक्ति के समान है। दूसरी पंक्ति के प्रथम चरण अलग-अलग एवं दूसरा समान है।

(४) ''गणधर सार्ध शतक'' की ४० वीं गाथा 'सुगुरु गुण संथव सत्तरिया'की ४० वीं गाथा में अर्थ साम्य तो है परन्तु शब्दों में अन्तर देखने को मिलता है।

(५) गणधरसार्धशतक की ६० वीं गाथा और सुगुरु गुण संथव सत्तरिया की ४७ वीं गाथा के शब्दों में अन्तर है।

(६) गणधर सार्ध शतक के ४६ पद्य के बाद तथा सुगुरु गुण संथव सत्तरिया के ४१ पद्य के बाद पद्यों की समानता कम ही दिखाई देती है।

उपरोक्त विवरण एवं अध्ययनोपरान्त संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह लघुकाय पुस्तिका मात्र देखने में छोटी है परन्तु आचार्यश्रीनी ने अपनी तपस्या के अलौकिक एवं अद्भुत चमत्कारों को इसमें बड़ी चतुराई के साथ पिरोया है। लोककल्याण ही समाज का सबसे बड़ा धर्म है। इसकी रचना भी दादासाहब ने जनकल्याण के लिए की है। श्रद्धा और विश्वास ही सबसे बड़ा ईश्वरत्व है। इस श्रद्धा और विश्वास के साथ इसका पठन-पाठन एवं स्तवन करेगा उसके सभी पाप नष्ट हो जायेंगे।

शीर्षक की दृष्टि से देखने से पता लगता है कि इसमें ७० गाथा ही होनी चाहिए। परन्तु सुगुरु गुण संथव सत्तरिया में कुल ७५ श्लोक देखने को मिलते हैं। शायद वह आचार्यश्री की अपनी रचना होगी या किसी अन्य ने उनको जोड़ा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ लोगों के कल्याण के लिए आचार्य श्री द्वारा रचित है। आचार्य श्री का मुख्य उद्देश्य था लोगों में अहिंसा धर्म इत्यादि का प्रचार एवं प्रसार। इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कुछ भी ज्ञानोपदेश दिया गया है वह सभी बड़े ही सौम्य एवं शान्तिपूर्व वातावरण एवं शान्तिपूर्वक दिया गया है। सम्पूर्ण रचना में ज्ञानोपदेश एवं ''गुरु गुण-स्तुति'' का वर्णन है। अतएव शान्त रस का ही स्पष्ट स्वरूप झलकता है। क्योंकि श्रावकों को हमेशा धर्माचरण में शान्त एवं दत्तचित्त होने का उपदेश दिया गया है।

अलंकार ही काव्य को सुशोभित करनेवाले अलंकरण या साधनमात्र है। इसलिए यथोचित अलंकारों का भी उपयोग दादासाहबने अपने ग्रन्थ में किया है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा एवं श्लेष भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं।

प्रस्तुत ''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया''में प्रारम्भ से लेकर अन्तिम गाथा तक गाथा (आर्या)छन्द का प्रयोग किया गया है।

उदाहरण स्वरूप-

अजियाइजिणिंदाणं जणियाणंदाण पणयपाणीणं।
थुणिमोऽदीणमणोहं गणहारिणं गुरुगणोहं॥ २॥

''सुगुरु गुण संथव सत्तरिया''

***

३. सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र

इस स्तोत्र का प्रसिद्ध और अपरनाम ''तंजयउ'' है। क्योंकि 'तं जयउ' शब्द आदि में है। सप्तस्मरण में चतुर्थ स्मरण तंजयउ है। २६ पद्य का यह स्तोत्र प्राकृत भाषा में रचित है, इसमें ''गाथा'' छन्द का प्रयोग किया गया है।

इस स्तोत्र पर अनेक वृत्तियाँ लिखी गई हैं[१८] तथा खरतरगच्छीय पंचप्रतिक्रमण सूत्र में तथा सप्तस्मरण में यह स्तोत्र उपलब्ध है। इसकी संस्कृत छाया और हिन्दी *अनुवाद भी उपलब्ध है। इस स्तोत्र के रचनाकाल की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं* है।

---

१८. (क) प.पू.श्री जिनराजसूरिजी के शिष्य उपाध्याय श्री जयसागरजी ने वि.सं. १४९५ के लगभग टीका रची है।

(ख) श्री समयसुन्दर म.सा. ने वि.सं. १६९५ में टीका रची है।

(ग) प. कृष्ण शर्मा ने सुबोधिनी टीका व हिन्दी अनुवाद किया है।

(घ) महोपाध्याय साधुकीर्ति कृत बालावबोध (यति डुंगलसी भण्डार, जैसलमेर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस स्तोत्र की रचना के विषय में कहा जाता है कि विक्रमपुर में महामारी का बड़ा प्रकोप फैला हुआ था। तब श्रावकों के अनुरोध से और जैनशासन की प्रभावना को लक्ष्य में रखकर आचार्यश्री ने सप्तस्मरण पठन-पाठन धार्मिक अनुष्ठान द्वारा प्रकोप को शान्त किया था।[१९] सप्तस्मरण का प्रभाव अत्यधिक है। खरतरगच्छ समाज में दैनिक सप्तस्मरण का पठन-पाठन का प्रचलन है। सप्तस्मरण में चतुर्थ पंचम और षष्ठ स्तोत्र आचार्य जिनदत्तसूरिजी द्वारा रचित हैं। तथा प्रथम स्मरण 'अजित शांति'-नंदिषेणकृत, द्वितीय स्मरण 'लघुअजितशान्तिस्तव'(उल्लासिक)-जिनवल्लभसूरिकृत और तृतीय स्मरण 'नमिऊण' मानतुंगाचार्य कृत इस प्रकार सप्त स्मरण के उपरोक्त रचयिता थे।

प्रस्तुत कृति में अन्तिम तीर्थंकर महावीरस्वामी और उनके अधिष्ठायक शासनदेव, देवियां, ग्रह, नक्षत्र, दिक्पाल आदि के गुणों का वर्णन करते हुए एवं अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन नवपदों के स्वरूप का वर्णन करते हुए, आचार्य श्री शासननायक भगवान महावीर स्वामी द्वारा स्थापित चतुर्विधसंघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका)तीर्थ का मंगलकल्याण करने हेतु प्रार्थना करते हैं। (१ से १०)

यहाँ पर आचार्यश्री चौबीस तीर्थंकरों के चौवीस यक्ष, शासन देवियाँ, सोलह विद्या देवियाँ, गीतरति- गीतजस नामके व्यन्तर देवता, इन्द्र, गृहदेवता, गोत्रदेवता, जल, स्थल, वन और पर्वत में रहनेवाले देव-देवियों से प्रार्थना करते हैं कि श्रीसंघ के दुःखों का शमन करें। तत्पश्चात् क्षेत्रपाल, दश दिक्पाल, नक्षत्र, नव ग्रह, चौसठ योगिनियाँ, राहु ग्रह, कालपाश, कुलिकयोग, अर्द्धप्रहर योग, कालमुखी योग तथा चार निकाय (भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक)के देवताओं से भी प्रार्थना करते हैं कि आप सभी सर्व संघ में शान्ति करें, सर्व पापों का नाश करें। इस प्रकार संघरक्षार्थ हेतु मंगल कामना करते हैं। (१६ से २०)

ग्रंथकार भगवान महावीर के विशेषणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

सो जयउ जिणो वीरो, जस्सऽज्जवि सासणं जए जयइ।
सिद्धि-पह-सासणं कुपह-नासणं सव्व-भय-महणं ॥ २२ ॥

---

१९. खरतर पट्टावली-२ पैरे. ४४ पृ.२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर स्वामी का जय हो। सभी जीवों को तारनेवाला, मोक्षमार्ग के प्रकाशक, कुमार्गका नाश करनेवाला, सर्व भयों का घातक ऐसा वीरप्रभु का शासन आज पर्यन्त विजयी हो रहा है।

तथा सभी तीर्थंकरों एवं गणधर ऋषभसेन आदि से प्रार्थना करते हैं कि श्री संघ की पवित्र अभिलाषाओं को पूर्ण करें। और उनका कल्याण करें।

अन्त में इस स्तोत्र का महत्त्व बताते हैं कि- इस स्तोत्र को जो मनुष्य त्रिकाल (प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय)पढ़ता है (स्मरण करता है)उसके लिये जगत में कुछ भी दुःसाध्य नहीं है। ग्रंथकार जिनदत्तसूरिजी कहते हैं कि जो भी प्राणी तीर्थंकर की आज्ञा में रहता है, वह इसलोक में सुखी होकर सर्व कर्मो का क्षय करके, शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

इस स्तोत्र में हमें यह देखने को मिलता है कि गुरुदेव के हृदय में प्राणी मात्र के प्रति करुणा का श्रोत बहता था, जनकल्याण की और संघरक्षा की भावना हमेशा प्रवाहित होती रहती थी।

इस स्तोत्र में गुरुजनों की स्तुति, नवपद का स्वरूप तथा सभी देव-देवियों से संघरक्षार्थ प्रार्थना की गई है।

अलंकार :-

आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने इस स्तोत्र को सुंदर बनाने के लिये रूपक अलंकार का सुंदर पुट दिया है।

उदाहरण :- *"तं जयउ जए तित्थं, जमित्थ तित्थाहिवेण वीरेण"*

तित्थं- चतुर्विध संघ रूप तीर्थ में रूपक अलंकार निहित है।

***

४. सुगुरु-पारतंत्र्य स्तोत्र

इस स्तोत्र का प्रसिद्ध अपरनाम "मयरहियं" है। सप्तस्मरण में पंचम स्मरण यही है।

इस स्तोत्र में २१ पद्य हैं, इसमें गाथा छन्द का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस स्तोत्र पर अनेक वृत्तियाँ लिखी गई हैं।[२०]

अभयरत्न एवं खरतरगच्छीय पंच-प्रतिक्रमण व सप्तस्मरण ग्रंथों में प्रकाशित है। पंच प्रतिक्रमण में संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हैं।

इस स्तोत्र के रचनाकाल सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस स्तोत्र के बारें में कहा जाता है कि विक्रमपुर में महामारी का प्रकोप फैला हुआ था, तब आचार्यश्री ने सप्तस्मरण गुणनादि धार्मिक अनुष्ठान द्वारा प्रकोप को शान्त किया था।

प्रस्तुत कृति के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सुगुरुजनों की सेवा में तल्लीन रहे हुए आचार्यश्री ने गुरु-भक्ति से ओत-प्रोत होकर इस स्तोत्र की रचना की है।

आचार्यश्री गुरुजनों के गुणानुवाद का वर्णन करके, साधुता का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि-

मोह को जीतनेवाले, जीवों के संदेह को दूर करनेवाले, श्रेष्ठगुणों के भंडार, श्रेष्ठ साधुता की शोभा से युक्त, लोभ पर विजय प्राप्त करनेवाले, स्व और परदुःख का नाश करनेवाले, क्षीर-समुद्र वत् गंभीर, सर्वदा मोक्षसुख साधना करनेवाले, भवरूपी मेरु को चूर-चूर करने में व्रजसमान, इन्द्र-सुरेन्द्रों से पूजित ऐसे आर्य सुधर्मास्वामी की पट्ट परम्परा में अनुक्रम से ३६वीं पाट पर श्री देवसूरि, श्री नेमिचन्द्र सूरिश्री, उद्योतनसूरि फिर सूरिमंत्र के माहात्म्य को प्रकट करनेवाले, क्रोधादि कषायों को रोकनेवाले और शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्री वर्धमानसूरिजी हुए। (१ से ८)

अब यहाँ ग्रंथकार खरतरगच्छ के प्रवर्तक श्री जिनेश्वरसूरिजी के जीवन की ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हैं-

सुह-सील-चोर-चप्परण-पच्चलो निच्चलो जिणमयम्मि।

---

२०. (क) प.पू.श्री जिनराजसूरिजी के शिष्य उपाध्याय श्री जयसागरजी ने वि.सं. १४९५ के लगभग टीका रची है।

(ख) श्री समयसुन्दर म.सा. ने वि.सं. १६९५ में टीका रची है।

(ग) पं. कृष्ण शर्मा ने सुबोधिनी टीका व हिन्दी अनुवाद किया है।

(घ) महोपाध्याय साधुकीर्ति कृत बालावबोध (यति डुंगरसी भण्डार, जैसलमेर)में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जुग-पवर-सुद्ध-सिद्धंत-जाणओ पणय-सुगुण-जणो ॥ ९ ॥
पुरओ-दुल्लह-महि-वल्लहस्स, अणहिल्लवाडए पयडं ।
मुक्का विआरिऊण, सीहेण व्व दव्व-लिंगि गया ॥ १० ॥

अपने समय के युगप्रवर और सर्व सिद्धान्तों के ज्ञाता, शिथिलाचारी जिनमत के चोरों (चैत्यवासियों)को जीतने में समर्थ, ऐसे जिनेश्वरसूरि हुए।

सिंह के समान जिनेश्वरसूरि ने अणहिल्लपुर पाटण में (वि.सं.१०८० में) दुर्लभराजा के समक्ष शास्त्रार्थ करके द्रव्यलिंगि शिथिलाचारी साधुओं (चैत्यवासी यतिओं)रूप हाथियों का विदारण किया (परास्त किया)और अप्रतिबद्ध विहारी साधुओं का विहार मार्ग प्रकट किया।

श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा किये गये उनके गौरव परिचयात्मक उल्लेखों से हमें यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि उनका व्यक्तित्व कितना महान् था।

ग्रंथकार श्री जिनदत्तसूरिजी के उपर्युक्त उल्लेख से ऐतिहासिक घटना ज्ञात होती है। उन्होने गुजरात के अणहिलवाड़ के राजा दुर्लभराज की राजसभा में नामधारी आचार्यों के साथ वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) कर उनको पराजित किया।[२१] और वहाँ पर ''खरतर'' विरुद प्राप्त किया। तथा वसतीवास की स्थापना की। (७ से ११)

तत्पश्चात् श्री जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य-प्रशिष्य का वर्णन करते हैं :-

श्री जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य ''संवेगरंगशाला'' के रचयिता ''आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि'' हुए। उनके पट्ट पर स्थानांग आदि नव आगमों के टीकाकार, मुनियों में उत्तम, परम शांति को धारण करनेवाले ऐसे ''श्री अभयदेवसूरि''हुए। (१२ से १४)

अब यहाँ आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी के उपकारक गुरुदेव श्री जिनवल्लभसूरिजी के गुणों का वर्णन करते हैं :-

२१. (अ) राज्य प्रधान पुरुषैराकारितः श्री दुर्लभराज महाराजोऽपि महता भटचटपरिवारेणागत्यो पविष्टसत्र ।(जिनेश्वरसूरि-कथाकोष-परिशिष्ट पृ.१२.)

(ब) श्री दुर्लभराजश्च पञ्चाशरीय देवगृहे युष्माकमागमनमालोक्यते ।
(युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि-पृ.३)

(क) अणहिलवाडए नाडय व्व दंसिय सुपत्तसंदोहे ।
पउरपए बहुकविदूसगे य सन्नायगाणुगए ॥ ६५
सद्धियदुल्लहराए सरसइ अंकोवसोहिए सुहए ।
मज्झे रायसहं परिसिऊण लोयागमाणुमयं ॥ ६६
(गणधरसार्द्धशतक-श्री जिनदत्तसूरि, पद्य ६५, ६६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनवल्लभसूरिजी ने चैत्यवासियों के प्रतिकूल आचरण को जैन आगमों से बताकर, उनकी शंकाओं का समाधान करके, उनको शुद्ध चारित्रवान् बनाया, संसाररूपी भयंकर अटवी में भटकते हुए, भव्यजीवों के मन को आगमरूपी अमृत का पान करा कर सन्तुष्ट किया । वे श्री जिनवल्लभसूरि श्रेष्ठ सिद्धान्त के ज्ञान में शिरोमणि थे, महाक्षमावान थे। उस समय के अन्य शिथिलाचारियों से भव्य जीवों की रक्षा करने में शेषनाग के समान, सब उपसर्गो को सहन करनेवाले ऐसे उपर्युक्त गुणों के धारक उत्तम चारित्रवाले सद्गुरुओं की परतन्त्रता को जो स्वीकार करता है अर्थात् उनका सान्निध्य प्राप्त करता है वह सब प्रकार के दुःखों से रहित होकर सदा सुखी रहता है। अथवा ज्ञानादि लक्ष्मी के घर और क्षमाशील मुनियों में तिलक समान तीर्थंकरों द्वारा दिये हुए गणधर पदवाले श्री सुधर्मास्वामी अथवा इस स्तोत्र के कर्त्ता श्री जिनदत्तसूरि जयवंता बनो।

जिनदत्तसूरिजी ने अपने गुरुजनों की गुर्वावलि का बहुत ही संक्षेप में परन्तु भावपूर्ण शब्दों में गान किया है। श्री जिनदत्तसूरिजी ने इस कृति के माध्यम से गुरु परम्परा एवं गुरुजनों के गुणों का वर्णन एवं श्री जिनेश्वरसूरिजी के जीवन की ऐतिहासिक घटना का निरूपण किया है।

अलंकार -

इस स्तोत्र को सुंदर बनाने के लिये अलंकारों की प्रचुरता मिलती है। श्लेष, उपमा, रूपक आदि अलंकारों का बड़ा ही सुंदर प्रयोग हुआ है। इन अलंकारों से आचार्यश्री की कृतियाँ बड़ी ही छटायुक्त हो जाती हैं।

उदाहरण :-

रूपक अलंकार -

(१) *मयरहियं गुण-गण-रयण-सायरं सायरं पणमिऊणं।*
सुगुरुजण-पारतंतं उवहिव्व थुणामि तं चेव ॥ १ ॥

प्रस्तुत गाथा में सुगुरु को गुणसमूह रूपी रत्नों के सागर का रूप दिया गया है। अतः रूपक अलंकार है।

(२) *निम्महिय-मोह-जोहा, निहय-विरोहा पणट्ठ-संदेहा।*
पणयंगि-वग्ग-दाविअ- सुह-संदोहा सुगुण-गेहा ॥ २ ॥

इस गाथा में मोह-जोहा अर्थात् मोहरूपी योद्धा का वर्णन किया गया है। अतः रूपक अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) *पुरओ दुल्लह महिवल्लहस्स, अणहिलवाडए पयडं।*
मुक्काविआ रिऊणं सीहेण व दव्वलिंगि गया ॥ १० ॥

सिंह की तरह द्रव्यालिंगी रूप हाथियों का मद विदार करके-अर्थात् ''द्रव्यलिंगी रूप हाथी'' में रूपक अलंकार है।

(४) *दसमच्छेरयनिसि विप्फुरंत सच्छंदसूरि मयतिमिर।*
सूरेण व सूरिजिणेसरेण हय महिअदोसेण ॥ ११ ॥

'अंधकार रूपी मृग को हनन करने वाले' इस रूपक से यहाँ रूपक अलंकार है।

(५) *पयडिअनवंगसुत्तत्थरयणकोसो पणासिअ-पओसो।*
भवभीयभविअजणमण, कय संतोसो विगय दोसो ॥ १३ ॥

प्रस्तुत गाथा में ठाणादि नवांग (सूत्रों को रत्नकोश का रूप दिया गया है) अतएव रूपक अलंकार है।

(६) *भीमभवकाणणम्मि दंसिअगुरुवयणरयणसंदोहो।*
नीसेस-सत्त गुरुओ सूरि जिणवल्लहो जयइ ॥ १६ ॥

भीवभवकाणणम्मि अर्थात् भयंकर संसाररूप जंगल में-रूपक अलंकार है।

उपमा एवं अनुप्रास अलंकार :-

(१) *परिहरिअ सत्थबाहा हय दुहदाहा सिवंब-तरुसाहा।*
संपाविअ सुह-लाहा, खीरोदहिणुव्व अग्गाहा ॥ ४ ॥

खीरोदहि णु व्व अग्गाहा अर्थात् खीर समुद्र के समान अगाध यहाँ पर समानता होने के कारण उपमा अलंकार है। सत्थवाहा, दुहदाहा, तरुसाहा, सुहलाहा और अग्गाहा शब्दोंसे सुंदर अनुप्रास अलंकार बनता है। दुहदाहा और सिवंबतरु में रूपक रहा है।

(२) *सुगुरु-जण-जणिय-पुज्जा सज्जो निरवज्ज गहिय पवज्जा।*
सिवसुहसाहणसज्जा, भवगुरुगिरिचूरणवज्जा ॥ ५ ॥

भव गुरुरूप पर्वतों को चूर्ण करने में वज्र रूप में रूपक अलंकार है। यहाँ पर भी 'पुज्जो....वज्जा' में अनुप्रास अलंकार है।

(३) *सिरिवद्धमाणसूरि पयडीकय-सूरिमंत-माहप्पो।*
पडिहय-कसाय-पसरो, सरय-ससंकु व्व सुह-जणओ ॥ ८ ॥

सरय ससंकु व्व सुह- शरद ऋतु के सुन्दर निर्मल चन्द्र के समान सुख जनक। यहाँ पर आचार्य श्री की तुलना शरदकालीन चन्द्र से की गयी है अतः उपमा अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्प्रेक्षा अलंकारः-

कयसावयसंत्तासो, हरि व्व सारंग भग्ग-संदेहो।
गयसमयदप्पदलणो, आसाइअपवरकव्वरसो॥ १५ ॥

हरि अर्थात् सिंह के समान जो गय अर्थात् गज के दर्प का दलन करने में मानों समर्थ है।

श्लेष अलंकार :-

दंसिअ-निम्मल-निच्चल-दन्त-गणो गणिअसावओत्थभओ।
गुरुगिरिगुरुओ सरहु व्व, सूरिजिणवल्लहो होत्था॥ १८ ॥

दंत = (१) दांत, (२) दान्त (दमन करने वाले)

सावअ = (१) श्वापद (२) श्रावक

इस प्रकार दो अर्थ से युक्त पदों के कारण यहाँ श्लेष अलंकार है।

***

५. विघ्नविनाशी स्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम ''सिग्घमवहरउ'' है, क्योंकि आदि का शब्द 'सिग्घमवहरउ' है। इस स्तोत्र का खरतरगच्छ-मान्य दैनिक संस्मरणीय सप्तस्मरण में षष्ठम स्थान है।

यह स्तोत्र प्राकृत भाषा में रचित है। इसमें १४ पद्य हैं और गाथा छन्द का प्रयोग किया गया है।

इस स्तोत्र के रचनाकाल की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस स्तोत्र पर अनेक वृतियाँ लिखी गई हैं।[२२]

खरतरगच्छीय पंच प्रतिक्रमण व सप्त स्मरण में प्रकाशित है। पंच प्रतिक्रमण में संस्कृत छाया हिन्दी अनुवाद सह प्रकाशित है।

इस स्तोत्र के बारे में कहा जाता है कि विक्रमपुर में महामारी का प्रकोप फैला था, तब आचार्यश्री ने सप्तस्मरण पठन करके प्रकोप शांत किया। इसकी लोकप्रियता और प्रभावोत्पादकता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है!

२२. (अ) अज्ञात वृत्तिकार कृत टीकाए बीकानेर भण्डार में उपलब्ध है। (युगप्रधान जिनदत्तसूरि पृष्ठ ५७)

(ब) प.पू.श्री समयसुन्दरजी म.सा.ने वि.सं. १६९५ में टीका रची गयी है।

(क) महोपाध्याय साधुकीर्ति कृत बालावबोध (यति डुंगरसी भण्डार जैसलमेर)में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति में (खंभात में रहे हुए)स्तम्भन पार्श्वनाथ और सत्यपुर (सांचौर)में विराजित भगवान महावीरस्वामी, उनके गणधर गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी तथा तीर्थंकरों की सेवा-सुश्रुषा करनेवाले सौधर्मेन्द्रादिदेव तथा धरणेन्द्र, गोमुखादि यक्ष एवं सिद्धायिका आदि शासन देवियाँ ये सभी चतुर्विध संघ में रहे हुए भव्यजीवों की समस्त विघ्न - बाधाओं को दूर कर उनकी रक्षा करें, एवं सुख-शान्ति प्रदान करें ऐसी प्रार्थना करते हैं। (१ से ९)

आचार्यश्री गुरु-परम्परा का वर्णन करते हैं :-

अज्ञानरूपी अंधकार को नाश करनेवाले सूर्यरूपी महाप्रभावक श्री वर्धमानसूरि, श्री जिनेश्वरसूरि, चतुर्विध संघ की वृद्धि करनेवाले अभयदेवसूरि, गुरुदेव श्री जिनवल्लभसूरि के चरणकमलों में वंदन करते हैं।

अन्त में आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान महावीर के फरमाये हुए अथवा जिनदत्तसूरि के मार्ग को दिखलानेवाले, ज्ञानादि गुणों को जो धारण करते हैं तथा दूसरों को धारण कराते हैं, आचार्यश्री उन सभी साधर्मिक भाइयों को भी नमस्कार करते हैं।

इस स्तोत्र के शीर्षक से ही ज्ञात होता है कि जो शीघ्र ही उपसर्ग का शमन करें, उसी का नाम सिग्घमवहरउ है। अतः आचार्यश्री चतुर्विध संघ की रक्षा हेतु उपसर्ग का शमन करके, सुखशान्ति प्रदान करने की भावना व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार इस स्तोत्र के द्वारा आचार्यश्री के अन्तरमन में विराजमान लोककल्याण एवं विघ्न-विनाश की भावना का प्राकट्य होता है।

अलंकार :-

आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने इस स्तोत्र को भी सुंदर बनाने हेतु अलंकारों का प्रयोग किया है। गुरु-गुणवर्णन में रूपक अलंकार की प्रतीति होती है। जैसे कि:-

रूपक अलंकार : -

उदाहरण :-

सिरि थंभणयट्ठिय-पास-सामि-पय-पउम-पणय-पाणीणं।
निद्दलिय-दुरिय-वंदो, धरणिंदो हरउ दुरिआइं ॥ ४ ॥

यहाँ पर पय-पउम-''पदपद्म''अर्थात् कमलरूपी चरण-चरणकमल होने से रूपक अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमा अलंकार :-

उदाहरण :-

तित्थवइ-वद्धमाणो जिणेसरो दिणेसरो णेसरु व्व हय तिमिरो।
जिणचंदोऽभयदेवो पहुणो जिणवल्लहा जे अ ॥ १०

तीर्थपति वर्द्धमान जिनेश्वर को तिमिर हरण करनेवाले दिनेश्वर की उपमा दी गई है।

***

६. "श्रुतस्तव"

प्रस्तुत कृति युगप्रधान दादासाहब द्वारा रचित है। इसके रचनाकाल की सुनिश्चित तिथि के विषय में भी कुछ सामग्री प्राप्त नहीं है। अन्य कृतियों की भाँति इसके बारे में भी यह तो निश्चिततापूर्वक कहा ही जा सकता है कि इसका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी होगा क्योंकि दादासाहब का युगप्रधान का समय १२ वीं शताब्दी ही है।

भाषा के विषय में तो लोककल्याण एवं लोकभोग्य भाषा प्राकृत को ही स्वीकार किया गया है। भाषा में सामान्य सरल एवं तत्कालीन प्रचलित शब्दों को विशिष्ट स्थान दिया गया है। शब्दों को कठिन सामासिकता से दूर रखा गया है। इसमें कुल २७ गाथाएँ है। यह कृति मूल प्रकाशित भी है।[२३] इसका मूल एवं अनुवाद परिशिष्ट में क्रमांक २ पर दिया जा रहा है।

श्रुतस्तव नाम से विदित होता है कि इसमें गणधरों द्वारा विरचित शास्त्रों के नामों का उल्लेख किया गया है।

सयमित्थ पसत्था जा पयासिया अत्थओ गणहरेहिं।
विहिया दुवालसंगी सपरेसि सुत्तहि विहिया ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् द्वादशांगी को अर्थरूप में प्रकाशित करके गणधरों ने सूत्र से उसकी रचना की है।

जैन धर्म के अंग उपागों का वर्णन करके चौदह पूर्वों का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

---

२३. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-श्री अगरचंदजी नाहटा पृष्ठ-१०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उप्पायसुद्ध मग्गेणियं च विरियाणुवायमिह तइयं।
अत्थि-नत्थि पवायं नाणपवायं च पंचमय ॥१२॥
सच्चप्पवायमायप्पवाह कम्मप्पवायमट्ठमयं।
पच्चक्खाणं विज्जाणुवाय कल्लाणनामं च॥ १३॥
तह पाणाउकिरियाविसालमहलोगबिंदुसारं च।
उवाइय रायपसेणइज्ज जीवाभिगम नामं॥ १४॥
पण्णवण्णोवंग सूरचंदपण्णत्ति जंबूपण्णत्ति।
वंदामि निरियावलिया सुयखंधं चेह पंचण्हं॥ १५॥

यहाँ चौदह पूर्वों के नाम बताये गये हैं-

१.	उत्पादपूर्व प्रवाद	२.	अग्रायणी	३.	वीर्य प्रवाद
४.	अस्ति नास्ति प्रवाद	५.	ज्ञान प्रवाद	६.	सत्य प्रवाद
७.	आत्म प्रवाद	८.	कर्म प्रवाद	९.	प्रत्याख्यान प्रवाद
१०.	विद्यानुवाद प्रवाद	११.	कल्याण प्रवाद	१२.	प्राण प्रवाद
१३.	क्रियाविशाल प्रवाद	और	१४.	लोक बिन्दु प्रवाद	

उपांगों का नाम बताते हुए लिखते है -

१.	औपपातिक	२.	राजप्रश्नीय	३.	जीवाभिगम
४.	प्रज्ञापना	५.	सूर्य प्रज्ञप्ति	६.	चन्द्र प्रज्ञप्ति
७.	जम्बू प्रज्ञप्ति	८-१२.	निर्यावलिका आदि पाँच का समूह		

यहाँ पर पंच "श्रुतस्कंध" अर्थात् पाँच श्रुत स्कन्ध हैं - निर्यावलिका, पुप्फिया, पुप्फवडेंसिया, देविंदत्थओ और चंदाविज्जय।

वीर जिनेश्वर के हाथों से दिक्षित एवं शिक्षित स्थविरों ने चौदह हजार प्रकीर्णक की रचना की है।

दसवेयालियमावस्सयं च तह ओह-पिंड-निज्जुत्ति।
पज्जुसण कप्पवकप्प कप्प पणकप्प जियकप्पो॥ १७॥

दशवैकालिक, आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिंड निर्युक्ति, पर्युषणाकल्प, बृहद्कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, महानिशीथ सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र - इन सब आचार्यकृत आगमों को वंदन करता हूँ। प्रशमरति आदि महाअर्थवाले पाँचसौ प्रकरण को वन्दन करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के आधार से ज्ञात होता है कि इसमें जैनदर्शन के विभिन्न अंग, उपांग, चौदह पूर्व, प्रकीर्णक आदि विविध ग्रन्थों का स्थविर आचार्य भगवन्तो द्वारा उल्लेख किया गया है उन शास्त्रों में आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग आदि ग्यारह अंगों के नाम, औपपातिकादि बारह उपांगो के नाम आदि का उल्लेख किया गया है। इनके अलावा हरिभद्रसूरिजी विरचित चौदहसौ रचनाओं का तथा अन्य युगप्रधानसूरियों के द्वारा रचित ग्रन्थों का वर्णन किया गया है।

अन्त में गाथा क्रमांक २४, २५, २६ एवं २७ के द्वारा युगप्रधानसूरिजी के विशेषणों का वर्णन निम्म प्रकार से किया गया है।

ठाणट्ठाण ट्ठियमग्ग नासि सन्देहि मोहतिमिरहरा।
कुग्गहिवग्गकोसियकुलकवलियलोयणा लोया॥ २४॥
तेहिं पभासियं जंतं विहड़इ नेय घड़इ जुत्तीए।
वंदे सुत्तं सुत्ताणुसारि संसारि-भय-हरणं॥ २५॥
गुरु गयणयल-पसाहणपत्तपहो पयड़ियासमदिसोहो।
हयसिवपहसंदेहो कयभव्वंभोरुह-विबोहो॥ २६॥
सूरू व्व सूरि जिणवल्लहो य जाओ जए जुगपवरो।
***जिणदत्त** गणहर पयं तप्पय-पणयाण होइ फुडं॥ २७॥*

तात्पर्य यह है कि उस समय सर्वत्र मोहन्धकार फैला हुआ था। उसके विदारक, कदाग्रहरूपी उलूकों के लोचनप्रकाश को नष्ट करनेवाले, सूत्रों के वास्तविक एवं शुद्ध अर्थ के द्वारा संसारभय को हरनेवाले, सूत्रों का अनुसरण करनेवाले सूत्र को वन्दन स्वीकार हो।

आकाश के समान व्यापक प्रसाद (कृपा)वाले, प्रभावक और अपूर्व शोभायुक्त, मोक्षमार्ग के समस्त संदेह को नष्ट करनेवाले संदेहविदारक गुरु को वन्दन स्वीकार हो।

अन्त में २६ वीं गाथा के द्वारा युगप्रधान आचार्यश्री जिनवल्लभसूरिजी की तुलना देवगुरु बृहस्पति से करते हुए एवं वन्दना करते हुए कहते हैं-

देवगुरु बृहस्पति के समान प्रज्ञावान जिनवल्लभसूरि आदि युगप्रधान आचार्य अपने गणधरों के प्रयत्नपूर्वक किये हुए प्रणाम से उनके सभी प्रकार के दुःखों को दूर करनेवाले एवं सद्बुद्धिप्रदायक होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से पूर्ण रूपेण स्पष्ट होता है कि इस ''श्रुतस्तव'' नामक रचना के द्वारा आचार्यों के द्वारा एवं गणधरों के द्वारा रचित ग्रन्थों का वर्णन एवं उसकी स्तुति की गयी है। जो श्रावक श्राविकाओं के दुःख सन्दोह को दूर करनेवाली है।

***

७. सप्रभाव स्तोत्र

मम हरउं जरं मम हरउ विझरं डमर डामरं हरउ।
चोरारि मारि वाही हरउ ममं पास तित्थ यरो ॥ १ ॥
एगंतर निच्चजरं वेल जरं तहय सीय उण्ह जरं।
तईअ जर चउत्थ जरं हरउ ममं पासतित्थयरो ॥ २ ॥
जिणदत्ताणा पालण परस्स संघस्स विहि समग्गस्स।
आरोग्गं सोहग्गं अपवग्गं कुणउ : पास जिणो ॥ ३ ॥

(इति श्री जिनदत्तसूरि युग प्रधान कृतम् सप्रभाव स्तोत्रम्)

यह स्तोत्र प्राकृत भाषा में गाथा छंद में लिखा गया है। यह स्तोत्र मूल प्रकाशित है।[२४] मूल परिशिट क्रमांक १० में दिया गया है। सप्रभाव स्तोत्र महाप्रभाव स्तोत्र का नामान्तर है। स्तोत्र के रचनाकाल के बारे में पूर्ण जानकारी नहीं है।

इसमें ग्रंथकार ने पार्श्वनाथ भगवान से आधि, व्याधि, उपाधि का शमन करके, श्रीसंघ को आरोग्य, सौभाग्य व अपवर्ग अर्थात् मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की है।

इसका अनुवाद :-

श्लोक (१) है पार्श्व तीर्थंकर मेरे जरा, ज्वर, डमर (क्लेश), डामर (आफत), चोर-शत्रु मारी, व्याधि सभी का हरण करो !'

श्लोक (२) एकान्तर ज्वर, शीत ज्वर, उष्ण ज्वर, नित्य ज्वर, तीसरे दिन का ज्वर, चतुर्थ दिन का ज्वर सभी ज्वरों का हरण करो।

श्लोक (३) जिनदत्त आज्ञा का पालन करने में तत्पर, विधि के मार्ग में रहे हुए संघ को हे पार्श्व जिनेश्वर आरोग्य सौभाग्य एवं अपवर्ग दो।

विशेष-इस स्तोत्र से प्राचीन महाप्रभावक स्तोत्र 'उवसग्गहर स्तोत्र' की याद आती है। दोनों में त्रेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है।

२४. युगप्रधान जिनदत्तसूरि, अगरचंदजी नाहटा, पृ.१११.

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. पार्श्वनाथ मन्त्र गर्भित स्तोत्र

यह प्राकृत भाषा में ३७ पद्यों का स्तोत्र है। पार्श्वनाथ स्तोत्र अप्रकाशित कृति है। मूल कृति भँवरलालजी नाहटा के पास है।

आचार्य जिनपतिसूरि के शिष्य "श्री पूर्णकलश गणि" की लिखी टीका मिलती है। किन्तु यह कृति पूर्ण प्रमाणों के अभाव के अनुसार संदिग्ध है। श्री अगरचंदजी और श्री भँवरलालजी के अनुसार इसे आचार्य जिनदत्तसूरिजी की कृति माना गया है। [२५] डा. आर. एम. शाह के मतानुसार-पार्श्वनाथ मंत्र गर्भित स्तोत्र जिनदत्तसूरि रचित कृति मानने में सन्देह प्रतीत होता है।

इस स्तोत्र में स्तम्भन पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति की गयी है। तथा भगवान की स्तुति के साथ-साथ मंत्रों का प्रयोग भी किया गया है।

यह स्तोत्र सर्वलाभ और मनोवांछित फल देनेवाला है। अद्यावधि अप्रकाशित है।

***

९. चैत्यवंदन कुलक

चैत्यवंदन कुलक का अपर नाम "सम्यक्त्वाधिरोप प्रकरण" है। यह कुलक प्राकृत भाषा में रचा गया है। इसमें २८ पद्य हैं। कुलक में २ से २७ पद्य तक गाथा छन्द, अन्तिम पद्य में "शार्दूल विक्रीडित" छन्द का प्रयोग किया गया है। चैत्यवंदन कुलक के रचनाकाल के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। इस कुलक पर श्री जिनकुशलसूरिजी दादा गुरुदेव ने वि.सं. १३८३ में बाड़मेर (राजस्थान)में वृत्ति रची थी, जिसकी श्लोक संख्या परिमाण ४४०० हैं।[२६]

चैत्यवंदन कुलक पर संस्कृत छाया सह हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं। [२७]

---

२५. युगप्रधान जिनदत्तसूरि, अगरचंदजी नाहटा, पृ.५८, टिप्पण नं.३.

२६. चैत्यवंदन कुलक-श्री जिनकुशलसूरिजी रचित वृत्ति, व लब्धिनिधान कृत संक्षिप्त टिप्पण सह, जिनदत्तसूरिज्ञान भण्डार, सूरत से प्रकाशित है।

२७. (अ) चर्चयादि संग्रह-भाषा सह-जिनहरिसागरसूरिजी, प्रकाशक-जिनदत्तसूरिजी ज्ञान भण्डार सूरत, पृष्ठ -५४ से ६३

(ब) चैत्यवंदन कुलक - टीका हिन्दी अनुवाद, प.पू. प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी म.सा., प्रकाशक-जिनदत्तसूरि सेवा संघ-कलकत्ता वि.सं. २०४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यवंदन कुलक में श्रावक-श्राविकाओं के दैनिक कर्तव्य, साधु-भगवंतो के प्रति श्रद्धा भक्ति, आयतन-अनायतन आदि का विवेचन तथा भक्ष्य-अभक्ष्यादि विषयों का संकेतात्मक उल्लेख किया गया है। अर्थात् व्रत (नियमों)की रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सावधान किया गया है।

आचार्यश्री मंगलाचरण में जिनेश्वर को वंदन करके,

सम्यकत्वधारी श्रावक के आचार के बारे में बताते है :

सम्यक्त्व अर्थात् अरिहंत मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं और तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मेरा धर्म है। जब श्रावक सम्यक्त्वयुक्त प्रतिज्ञा धारण करता है, तब सद्गुरु श्रावक के शिर पर वासक्षेप डालते हैं।

यहाँ वासक्षेप करानेवालों का स्वरूप ग्रंथकार कहते हैं-

श्रमणोपासकों का वासक्षेप ग्रहण तीन प्रकार से होता है -

(१) ग्रास (२) प्रवाह और (३) भाव

ग्रंथकार स्वयं विस्तार से कह रहे हैं कि वासक्षेप धारण करनेवाले श्रमणोपासक के मूल दो भेद हैं - द्रव्य से और भाव से ।

द्रव्य से दो प्रकार के हैं-

(१) ग्रास (२) प्रवाह

(१) ग्रासवासक्षेप :- ग्रास-वासक्षेप अर्थात् उत्तम धन-कुटुम्ब प्रतिष्ठादि के लिये जो धन धान्यादि की वृद्धि करेगा इस भावनासे गुरु महाराज से वासक्षेपग्रहण करते हैं, उसे ग्रास-वासक्षेप कहते हैं।

(२) प्रवाह-वासक्षेप :- प्रवाह-वासक्षेप अर्थात् गड्डरिया प्रवाह, बिना विचारे हुये, गतानुगतिक लोक-प्रवाह के कारण ये लोग वासक्षेप लेते हैं, मैं भी लूँ, ऐसे ग्रहित वासक्षेप को प्रवाह वासक्षेप कहते हैं।

(३) भाव-वासक्षेप :- भाव-वासक्षेप अर्थात् जो निर्ग्रंथ सद्गुरु जिनेश्वरकी आज्ञानुसार आचरण करते हैं, वे ही सद्गुरु होते हैं। उनकी आज्ञानुसार धार्मिक विधि-विधान करवाते हैं, उन धार्मिक अनुष्ठानों से जिनभव्यात्माओं को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, उन भव्य आत्माओं के मोक्ष-पद के निवास हेतु अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्तवीर्य और अनन्त-सम्यक्त्व इन पाँच प्रकार के अनन्तों को पैदा करनेवाला तथा समस्त क्लेशों का अन्त कर देने में समर्थ ऐसे भाव से डाले गये वासक्षेप को भाव-वासक्षेप कहते हैं। (१ से ५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् तीन प्रकार के चैत्यों का वर्णन करते हैं -

प्रथम भेद में चैत्य के तीन प्रकार -

आययणमनिस्सकडं, विहिचेइयमिहतिहा सिवकरंतु।
उस्सग्गओववाया,पासत्थो सन्नसन्निकयं ॥ ५ ॥

आययणं निस्सकडं, पव्वतिहीसु च कारणे गमणं।
इयराभावे तस्सत्ति, भाववुड्ढित्थमोसरणं ॥ ६ ॥

१. आयतन-चैत्य :-

जिसमें सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र आदि गुणों का लाभ होता है उसे आयतन कहते हैं।

२. अनिश्राकृत-चैत्य :-

जो जाँति-भाँति आदि के ममत्व से रहित हो उसे अनिश्राकृत चैत्य कहते हैं।

३. विधि-चैत्य :-

जिसमें जैनागम-प्रणीत, गीतार्थ गुरु प्रदर्शित विधियों का आचरण किया जाता है, उसे विधि-चैत्य कहते हैं।

इस तरह तीन प्रकार का चैत्य ही मोक्ष देनेवाला होता है। इन्ही चैत्यों में सम्यक्त्व सम्पन्न (श्रावक)भव्यात्माओं को सदा जाना चाहिये।

निम्न चैत्यों में नहीं जाने का निर्देश किया है, चैत्य का द्वितीय-भेद निश्राकृत-चैत्य और अनायतन चैत्य।

४. निश्राकृत चैत्य :-

पार्श्वस्थ और शिथिलाचारी, साध्वाभासों के नाम से उनके भक्तों ने जो चैत्य बनाये हैं, उसे निश्राकृत चैत्य कहते हैं। इसमें अपवादरूप से ही श्रावकों को जाना उचित है, अर्थात् विधिचैत्यों के अभाव में पूर्णिमादि पर्व-तिथियो के अवसर पर सुश्रावको को जिनवंदन के लिये तथा सुविहित साधुओं को श्रावकों की भाववृद्धि के लिये उसमें प्रवचनार्थ जाना चाहिये। प्रतिदिन जानेवालों को प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है। अतः विधि चैत्य के होने पर सुविहित साधुओ व श्रावकों को निश्राकृत चैत्य में नहीं जाना चाहिये।

५. अनायतन चैत्य :-

जिनसूत्र विरुद्ध आचरण करनेवाले अनार्य साध्वाभास लिङ्गियों द्वारा सेवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्य अनायतन कहलाता है। इन अनायतन मंदिरों को स्पष्ट रूप से सूत्रों में सम्यक्त्व नाशक बताया है।[२८]

सुविहित साधु तथा आगमानुसारी आचरण करनेवाले साधुओं एवं श्रावकों को उन चैत्यों में नहीं जाना चाहिये। जो अपनी उत्सूत्र देशना से तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित धर्माचरण का नाश करते हैं, ऐसे श्रद्धाभ्रष्ट लोगों का दर्शन भी निश्चय से करने योग्य नहीं है। उनकी संगति का त्याग करना चाहिये। क्योंकि वहाँ जाने से सम्यक्त्व का विनाश होता है। (६ से १२)

इसके बाद सम्यक्त्व युक्त श्रावक के दैनिक कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं :-

(१) सम्यक्त्वयुक्त श्रावक गंगा-यमुना, प्रयाग आदि लौकिक तीर्थ स्थानों में स्नान न करें। क्योंकि वहाँ स्नान करने से अप्काय जीव अर्थात् पानी के जीव तथा छोटे-मोटे जल-जन्तु का नाश होता है। अतः संयम, दान, शील, तप से अन्तरात्मा को शुद्ध करें। सुपात्र में दान दें उससे पुण्य की प्राप्ति होती है। अपात्र को दान देने से पाप में वृद्धि होती है। अतः सुपात्र की पात्रता देखकर दान दें।

अब आचार्यश्री यज्ञ के लिये बताते हैं कि:-

घी, तेल, जव आदि से होम- (हवन) क्रिया न करें, न ही अश्वादि यज्ञ करें।

क्योंकि हवन-यज्ञादि करने से त्रस-स्थावर जीवों का नाश होता है। अतः सम्यक्त्वधारी श्रावक को अन्य तीर्थों में स्नान, होम आदि क्रिया करने का निषेध किया है।

---

२८. जत्थ साहाम्मिय व्व बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया।
मूलगुण पडिसेवी, अणाययणं तं वियाणहि ॥ ७७९ ॥
जत्थ साहम्मिया सव्वे, भिन्नचित्ता अणारिया
उत्तरगुण पडिसेवी, अणायणणं तं वियाणहि ॥ ७८० ॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया
लिंगवेस पडिच्छिन्ना, अणाययणं तं वियाणहि ॥ ७८१ ॥
अर्थ :- जहाँ अलग-अलग वृत्तवाले अनार्य प्रायः मूलोत्तर गुणों के प्रतिकूल आचरणवाले एवं अलग-अलग लिंगवेशभूषावाले समानधर्मी साध्वामास रहते हैं, वह अनायतन है। वह स्थान नहीं जाने योग्य शास्त्रों में बताया हैं।
(ओघनिर्युक्ति द्रोणीया वृत्ति-गाथा ७८९., ७८०, ७८१, प्रकाशक-आगमोदय समिति, पृष्ठ सं.२२४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वयुक्त श्रावक को आचरण करने योग्य चैत्यवंदन का निर्देश देते हैं कि :-

''चियवंदणं तिकालं
सक्कत्थएण वि सया काहं ॥'' १३ ॥

सम्यक्त्व लिये बाद ऐसा अभिग्रह रखें कि- हमेशा ही शक्रस्तव- नमुत्थुणं पाठ से त्रिकाल चैत्यवंदन करुंगाँ । चैत्यवंदन भाष्य में- चैत्यवंदन तीन प्रकार के बताये हैं - उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ।[२९] नवकार गुणना जघन्य चैत्यवंदन, शक्रस्तवपूर्वक स्तुति बोलना मध्यम और देववंदन विधि से करना उत्कृष्ट चैत्यवंदन है। चैत्यवंदन शब्द का अर्थ- व्याकरण की दृष्टि से ''चित्त'' शब्द से भाव अथवा कर्म अर्थ में ''य'' प्रत्यय लगने से चैत्य शब्द बना। चैत्य का अर्थ जिनप्रतिमा समझना।

जिनप्रतिमा का मन, वचन और काया की एकाग्रता से ध्यान करना, स्तुति करना, नमन करना उसे चैत्यवंदन कहते हैं।

'प्रवचनसारोद्धार' के अनुसार - साधुओं को चैत्यवंदन सात बार करना चाहिए। तथा श्रावकों को सात, पाँच अथवा तीन बार चैत्यवंदन करना बताया है। [३०]

सात बार चैत्यवंदन इस प्रकार :-सुबह प्रतिक्रमण के समय में, जिनमंदिर में, पच्चक्खान पालते समय में, आहार करने के बाद में, सन्ध्या प्रतिक्रमण के समय में, सोते समय में और उठते समय में। साधु-श्रावक सात बार चैत्यवंदन इस प्रकार करे।

जो श्रावक सुबह-शाम प्रतिक्रमण नहीं करनेवाले पाँच बार चैत्यवंदन करें।

श्रावक जघन्य से प्रभात, मध्याह्न और सायं त्रिकाल-तीन चैत्यवंदन अवश्य करें।

---

२९. नमुक्कारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंड थुइ जुअला।
पणदंड थुइ चउक्कग-थयपणिहाणेहिं उक्कोसा ॥ (चैत्यवंदन भाष्य-२३)
अर्थ- सिद्धांत में पूर्वधरों ने तीन प्रकार से चैत्यवंदना बताई है। नमस्कार से जघन्य, दण्डक अर्थात् अरिहंत चेइयाणं कहकर अंत में एक स्तुति तक मध्यम और पाँच दण्डक अर्थात् शक्रस्तव, चैत्यस्तव, (अरिहंत चेइयाणं, नामस्तव (लोगस्स), श्रुतस्तव (पुक्खरवरदी), सिद्धस्तव (सिद्धाणं बुद्धाणं) ये पाँच दण्डक कहकर चार थुई तक स्तवन तथा जावंति चेइआइं, जावंत केविसाहु और जयवियराय (ये तीन प्रणिधान सूत्र)सूत्र से उत्कृष्ट चैत्यवंदन होता है। विशेष जानकारी के लिये देववंदन भाष्य देखें।

३०. प्रवचन सारोद्धार- नेमिचन्द्रसूरि विरचित, गुर्जरभाषान्तर प.हीरालाल हंसराज, जामनगर, चैत्यवंदन द्वार-१, गाथा ९०-९१, पृष्ठ २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वधारी श्रावक चैत्यवंदन करता है उसे नमस्कार महामंत्र का जाप करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि :-

"अट्ठसयं परमिट्ठीण सायरं तह गुणिस्सामि ॥"१४ ॥

प्रतिदिन नवकार महामन्त्र का १०८ बार (एकमाला)जाप करना चाहिये। (पद्य-१४)

जो व्यक्ति नवकार महामन्त्र का एकाग्रचित्त से ध्यान करता है, उसके सर्व उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ये नवकार महामन्त्र चिन्तामणिरत्न, कामकुम्भ और कल्पवृक्ष के सदृश है। यह नवकार मंत्र सभी को मनोवांछित फल देनेवाला और मोक्षसुख को देनेवाला है।

महानिशीथ सूत्र में कहा है-'एसो पंच नमुक्कारो '

इन पाँच पदों को नमस्कार करने से, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो [३१] के सभी पाप नाश हो जाते हैं। निर्वाणसुख अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।[३२]

जो आत्मा २५०० (अढ़ी हजार)नवकार-मंत्र का जाप करें, वह आत्मा आराधक है। वह ज्ञानावरणीयादि कर्म का क्षय करके तीर्थंकर या गणधर पद को प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त करती है। [३३]

आचार्यश्री पर्वतिथियों का महत्व बताते है :-

उद्दिष्ट-अमावास्य, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, द्वितीया, एकादशी, पंचमी इन पर्व तिथियों में बियासना आदि करना चाहिये। (१५)

दशाश्रुतस्कंध भाष्य में कहा है कि:-

पर्यूषण, चातुर्मासिक, पाक्षिक आदि पर्व तिथि जाननी चाहिय, जिनमें सूर्योदय हो। अन्य तिथियाँ नहीं। उन्हीं तिथियों को प्रत्याख्यान जिनेन्द्रपूजा आदि कार्य करना चाहिये। अन्यथा आज्ञा भंग होती है और आज्ञा भंग से मिथ्यात्व आ जाता है।

---

३१. जैन दर्शन में आठ कर्म इस प्रकार बताये है।-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नामकर्म, गौत्र कर्म और अन्तराय कर्म।

३२. "इयं एयस्स अचिंत-चिंतामणी-कप्प-भूयस्स-णं पंचमंगल-महासुयक्खंधस्स सुत्तत्थं पण्णत्तं।"

३३. महानिशीथ सूत्र-अध्ययन ३/३८, पं. रूपेन्द्रकुमार पगारीया पृ.५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महानिशीथ सूत्र में कहा है कि :-

भगवन ! द्वितीया आदि प्रमुख पंचतिथियों में जीव परभव का आयुष बांधता है, इस कारण से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को इन तिथियों में विशेष प्रकार से धर्मानुष्ठान करना चाहिये। [३४]

तप के द्वारा ही कर्मो की निर्जरा होती है। [३५]

तप शब्द "तप्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है "तपना"। तप से अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जल जाते हैं। साधना आराधना से पाप कर्म तप जाते हैं। किसी ने कहा है :- तप से इच्छाओं का निरोध होता है। इच्छाएँ आकाशवत् हैं। उन इच्छाओं को रोकने का कार्य तप करता है। [३६] शास्त्रकारों ने कहा है कि अगर तप करने में शरीर अशक्त है तो छः बाह्य और छः आभ्यन्तर बारह प्रकार का तप करें। [३७] साधक अपनी शक्ति अनुसार तप करके कर्मो का क्षय करें।

अब जीव समूह से भरे हुए बाईस अभक्ष्य जो श्रावक के लिये सर्वथा अखाद्य हैं, उनका वर्णन करते हैं :-

पंचुंबरि चउविगई, हिम-विस-करगे य सव्व मट्टी य।
राइभोयणगं चिय, बहुबीय अणंत संधान॥ १६॥
घोलवड़ा वाइंगण, अमुणिय नामाणि पुप्फफलयाइं।
तुच्छफलचलितरसं, वज्जह वज्जाण बावीसं॥ १७॥

---

३४. जेउ णं जीवे पाएणं एयासु तिहिसु परभव आयुसं बंधइ।
तम्हा समणेण वा समणीए व सावएण वा साविआए वा विसेसओ धम्माणुट्ठाणं कायव्वं।
(महानिशीथ सूत्र-उद्धृत चर्चर्यादि ग्रंथ, पृ.५९)

३५. "तपसा निर्जरा च" तत्वार्थसूत्र ३/९/३

३६. "इच्छानिरोधस्तपः" (उद्धृत-देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ ५२३)

३७. "अणसणमूणोयरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥"२७१॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि अ अब्भिंतरो तवो होइ॥ २७२॥
अर्थः - अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता ये बाह्य तप हैं।
पायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग ये छः आभ्यन्तर तप हैं।
(प्रवचन सारोद्धार-गाथा-२७१-२७२, पृ.७९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ ग्रंथकार उदुम्बर शब्द से पाँच उदुम्बर फलों को बताते हैं (उदुम्बर-गुलर के फल, बड़ के फल, प्लक्ष-पाकट पर्कटी, काकोदुम्बर- कठुमर, पिप्पल के फल), चार महा विगइ -(मद्य, मांस, मधु और नवनीत-मक्खन), हिम-(बर्फ), अफीम, ओले-(वर्षा में पड़ने वाले गड़े), सब प्रकार की मिट्टी, रात्रिभोजन, जिसमें बहुत बीज हो ऐसे फल (बेंगन आदि), जमीन में अनंतकायवाली [३८] वनस्पति (आलू, मूल, जमीकन्द आदि), संघाना (अचार), द्विदल (कच्चा दूध, दही, छाछ में डाले हुए बड़े आदि), बड़ फल, अज्ञात फल-, पिलु-पिचु आदि तुच्छफल, चलितरस (जिसका रस चलायमान हो गया है)ये बावीस छोड़ने योग्य अभक्ष्य वस्तु हैं। (१६-१७)

'श्राद्धदिन कृत्य सूत्र' में कहा है कि-श्रावक भोजन में अनंतकाय बहुबीजवाली वस्तु, तुच्छ औषधि, विगय आदि का त्याग करें। [३९]

संसार में भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थों का सूक्ष्म ज्ञान जैन दर्शन में मिलता है। जैनदर्शन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान आचार्यश्री चैत्यवंदन कुलक में बताते हैं, क्योंकि लोककल्याण की दृष्टि से जनसामान्य को दुःख मुक्त करने के लिये शुद्ध धर्म का मार्ग बताया है।

अभक्ष्य अर्थात् अनंत जीवों की हिंसावाला अयोग्य भोजन, शरीर, मन और आत्मा का अहित करनेवाला भोजन, दुष्ट वृत्तिओं को उत्पन्न करे ऐसा तामसिक भोजन, जो इस लोक और परलोक को बिगाड़नेवाला भोजन अभक्ष्य होता है।

आचार्यश्रीने बाईस अभक्ष्य श्रावकको त्यागने योग्य बताये हैं, जो वास्तव में युक्तियुक्त है। किन-किन कारणों से भोजन पदार्थ को अभक्ष्य माना है, वह बताते हैं:-

पाँच प्रकार उंबर आदि के फल अभक्ष्य हैं। इनमें राइ के दाने की तरह सूक्ष्म अनंत बीज होते हैं, जो जीवननिर्वाह में अनुपयोगी है, और रोगों को उत्पन्न करेनवाले हैं।

'प्रवचन सारोद्धार' के अनुसार- पाँच प्रकार के उदुम्बर में मच्छर के आकार जैसे जीव भरें रहते हैं। [४०]

---

३८. अनंतकाय बत्तीस प्रकार के होते हैं।
देखे-प्रवचन सारोद्धार-पच्चक्खानद्वार-४ गाथा-२३८ से २४२ तक, पृ.६९-७०

३९. श्राद्धदिन कृत्य सूत्र-जैन धर्मप्रचारक सभा, भावनगर, पृ.१११-११२.

४०. प्रवचन सारोद्धार-पच्चक्खान द्वार-पृष्ठ-७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः पाँच प्रकार के उदुम्बर का सेवन करना स्वास्थ्य और धर्म की दृष्टि से हानिकारक होता है।

चार महाविगइ (विकृति उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ) जिनको अनिवार्य रूप से वर्जित माना गया है -

'प्रवचन सारोद्धार' में दस प्रकार की विगइ मानी गई है - क्षीर-दूध, दही, नवनीत-मक्खन, घृत, तेल, गुड़-शक्कर, मद्य, मधु-शहद, मांस, हिमग- (पकवान)।[४१]

ये दश उग्र विकृतियाँ मानी जाती हैं। इनमें से चार महाविगइ- मद्य, मांस, मधु और मक्खन सर्वथा ही अभक्ष्य हैं।

स्मृतियों में कहा है:-

इन चारों महाविगइ में अनन्त जीवों की उत्पत्ति प्रतिसमय होती रहती है। जैसी वस्तु उसी रंग के असंख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।[४२] जिससे मानसिक और शारीरिक दोष और रोग उत्पन्न होते हैं तथा कामवासना उत्तेजित होती है।

मांस :-

मांस मानव प्रकृति से सर्वथा विरुद्ध है। मांस तो श्वापद-(सिंह, व्याघ्र आदि)जन्तुओं का भक्ष्य है। उनके दांतों की रचना ही वैसी है। मनुष्य तो सर्वोत्तम प्राणी है, उनकें दातों की रचना श्वापद जन्तुओं जैसी नहीं है, उसका भक्ष्य तो अन्न, फल, शाक, सब्जी, मेवा आदि है। मांस खानेवाला व्यक्ति निर्दय राक्षस बन जाता है। अतः त्याज्य है।

आचार्य मनु ने कहा- जीवों की हिंसा के बिना मांस उपलब्ध नहीं होता, और जीवों का वध कभी भी स्वर्ग प्रदान नहीं करता। अतः मांस भक्षण त्यागना चाहिये।[४३]

---

४१. प्रवचन सारोद्धार-पच्चक्खान द्वार-४, गाथा-२२६, पृ.६५

४२. "मद्ये मांसे मधुनि च नवनीते चक्रतो बहीर्नीते।
उदयन्ति विपद्यन्ते तद्वर्णास्तत्र जन्तवः॥"
(उद्धृत चैत्यवंदन कुलक-अनुवादिका पू. सज्जनश्रीजी म.सा., पृ.१२१)

४३. श्री मनुस्मृति- भाषान्तर कर्त्ता -शास्त्री शंकर दत्त पार्वती शंकर, अध्याय ५, गाथा ४८, पृ.२१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्र में मांसाहार करनेवालों को नरकगामी बताया है।[४४]

आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा- पंगुपन, कोढ़ीपन, लूलापन आदि हिंसा के ही फल हैं।[४५]

आचार्य मनु ने कहा- मांस का अर्थ ही है, जिसका मैं मांस खा रहा हूँ वह अगले जन्म में मुझे खाएगा। मांस शब्द को पृथक्-पृथक् लिखने से ''मां'' ''स'' याने 'मुझे खाएगा' इस प्रकार का अर्थ होता है।[४६]

मांसाहार अपवित्र है। सभी धर्म प्रवर्तको ने मांसाहार को निन्दनीय और हिंसाजनक माना है। मांसाहार धार्मिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद है। मांसाहार घोर तामसिक आहार है, जो जीवन में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न करता है, इसीलिए मांस की परिगणना सप्त व्यसनों में की गई है।

मद्य-

मद्य(मदिरा-शराब)यह एक ऐसा पदार्थ है जो किसी भी दृष्टि से पेय नहीं है, वह सड़ा हुआ पदार्थ है। जितने भी पेय पदार्थ, जिनमें मादकता है, वे विवेकबुद्धि पर परदा डाल देते हैं। ये सभी मद्य के अन्तर्गत आते हैं। मदिरापान सर्व दोषों तथा सर्व आपत्तियों का कारण है, अतः सर्वथा त्याग देना चाहिये। आचार्य मनु ने कहा- मदिरा किसी मानव के पीने योग्य नहीं है।[४७]

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा- आग की नन्हीं-सी चिनगारी विराटकाय घास के ढ़ेर को नष्ट कर देती है वैसे ही मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, क्षमा आदि सभी सद् गुण नष्ट हो जाते हैं।[४८] अतः सभी धर्मो में मदिरापान को पाप का मूल माना है।

---

४४. ''चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए, कम्म पकरेंति तं जहा- महाभयाते, महापरिग्गहयाते, पंचेदियवहेणं कुणिमाहारेण ॥''

४५. योगशास्त्र-आचार्य हेमचन्द्राचार्य विरचित, संपादक - योगनिष्ठ आचार्य विजयकेशर सूरिश्वरजी म.सा., द्वितीय प्रकाश, गाथा-१९, पृ.१२६

४६. मनुस्मृति-५/५५, पृ.२११

४७. सुरा वै मलमन्नानां, पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥श्री मनुस्मृति-अध्याय ११-९३, पृ.५४०

४८. ''विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृणं वह्निकणादिव॥''(योगशास्त्र-३/५६-हेमचन्द्राचार्य विरचित, संपादक-आचार्य केशरसूरिश्वरजी म.सा.पृष्ठ-१९८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मधु-शहद-

एक पुष्प के अंदर से मक्खी रसपान करती है, दूसरी जगह वमन करती है उसे मधु-शहद कहते है। लाखों जंतुओं तथा मक्खी के अंडों के नाश से पैदा हुआ मधु अधिक हिंसावाला होने के कारण खाने योग्य नहीं है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा- अनेक जाति के समूहवाले जीवों के नाश से प्राप्त हुआ दुगुञ्छनीय और मक्खियों के मुख से निकला हुआ लार व थूक से बना हुआ मधु का कौन सुज्ञ पुरुष स्वाद करे ? अर्थात् कोई नहीं। मधु में अत्यधिक मिठास होती है, क्षणिक मिठास का परिणाम भयंकर है। ऐसा विचार करके उसका अवश्य त्याग करना चाहिये।

मक्खन :-

मक्खन को छाछ में से बाहर निकालते ही उसी ही रंग के सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। त्रस जीवों की हिंसा के कारण मक्खन अभक्ष्य है।

रात्रि-भोजन :-

सूर्यास्त के बाद सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे बिजली के प्रकाश में भी नहीं देख सकते हैं। वे जीव भोजन में, रसोई में नष्ट हो जाते हैं, इससे घोर हिंसा का पाप लगता है। रात्रि को भोजन करने से आरोग्य में हानि होती है, अजीर्ण होता है, कामवासना जाग्रत होती है, सुबह उठने की इच्छा नहीं होती और प्रमाद बढ़ता है। जहरी जंतुओं से मृत्यु का भी भय रहता है। रात्रिभोजन निषेध का शास्त्रों में उल्लेख आया है।

दसवैकालिक सूत्र में- निर्ग्रन्थ (श्रमण) जो होते हैं वे रात्रिभोजन नहीं करते ![४९] दशवैकालिक सूत्र में रात्रिभोजन विरमण को छट्ठा व्रत कहा है। उसे सर्वथा त्याग करना चाहिये।[५०]

उत्तराध्ययन में- श्रमण जीवन के आचार-विचार का निरूपण करते हुए स्पष्ट बताया है कि प्राणातिपात विरति आदि पाँच सर्व विरतियों के साथ ही रात्रिभोजन त्याग अर्थात् रात्रि में सभी प्रकार के आहार का वर्जन करना चाहिए।[५१]

---

४९. दशवैकालिक सूत्र-अध्ययन-३

५०. दशवैकालिक सूत्र-अध्ययन ४ सूत्र १६

५१. उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन १९-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम साहित्य में रात्रिभोजन में अनेक दोष बताये हैं। रात्रिभोजन में अनेक दुष्परिणाम होने की सम्भावना रहती है। जैन धर्म में रात्रिभोजन निषेध पर विशेष बल दिया गया। प्राचीनकाल में रात्रिभोजन का त्याग जैनत्व की पहचान सी हो गयी कि-जैन वह है जो रात्रि में भोजन नहीं करता।

जैन परम्परा में तो रात्रिभोजन वर्जन का स्पष्ट आदेश है ही किन्तु **वैदिक परम्परा ग्रंथों में भी रात्रिभोजन का निषेध किया गया है :-**

मार्कण्डेय ऋषिने- रात्रिभोजन को मांस बराबर तथा पानी को रूधिर-समान बताया है।[५२] महाभारत में कहा है-रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये।[५३]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी रात्रिभोजन निषेध के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

जैन श्रमणों के लिये तो रात्रिभोजन सर्वथा निषेध किया है। श्रावकों के लिये भी रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार के उल्लेख अनेक स्थलों पर आचार्यों ने किये हैं।

अतः आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी ने भी बाईस अभक्ष्य का सेवन करने का सर्वथा श्रावकों के लिये निषेध किया है।

अब कच्चे गोरस के द्विदलान्न के लक्षण बताते है-

संगरफली[५४]- सांगरी (बबूल की फली, कुमठिया आदि)तथा मूंग, मोठ, दो दलवाले अनाज बिना गरम किये दही, छाछ, रायते के साथ भक्षण न करें। पद्य (१८) क्योंकि द्विदल अन्न के साथ कच्चे दही को मिलाने से सूक्ष्म-त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। सुश्रावक कच्चे दही के साथ द्विदल न खावें, अगर खाना हो तो हाथ-पात्र आदि धोकर, उस पानी को पीकर दही, तक्र का भक्षण करना उचित है।

अब रात्रि में सदोष कर्म, रात्रि में स्नान निषिद्ध है, क्योंकि कुंथु, चिटी आदि जीवजन्तु दिखाई नहीं पड़ते। उनका नाश होने से प्रथम अणुव्रत का भंग होता है। दिन में स्नान करते समय पानी परिमित और छानकर प्रयोग में लेना चाहिए।

---

५२. अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेय-महर्षिणा॥

५३. "वर्जनीया महाराजन् निशीथे भोजनक्रिया"
(शान्तिपर्व-उद्धृत जैन आचार, देवेन्द्र मुनि, पृष्ठ ८७५)

५४. कई लोग मुंग, मोढ को द्विदल मानते हैं, लेकिन सांगरियाँ बावलियाँ की फलियाँ को काष्ठ नहीं मानते हैं, किन्तु सिद्धांत में द्विदल के सम्बन्ध में भेद नहीं बताये। अतः सांगरियाँ भी द्विदल है, कच्चे दही, छाछ के साथ नहीं खाना चाहिये। (चर्चयादि संग्रह पृष्ठ-६०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वधारी श्रावक पशु-पक्षी का पालन पोषण न करें, नहीं उनकी लडाई देखें, न ही उन्हें आपस में लड़ावें। पद्य(२०) अगर उपरोक्त कार्य श्रावक करेंगे तो मोहनीय कर्मो का बंध हो जाएगा और भव-भ्रमण बढ़ जायेगा।

श्रावक को बारह-व्रत ग्रहण करके उसका पालन करना चाहिये। उसका आचार्यश्री उपदेश देते है :-

सम्यक्त्व को स्वीकार करने पर श्रावक को बारह व्रत पालन करनें चाहिए।[५५] बारह व्रत में ५ अणुव्रत होते हैं।

उनमें पहला व्रत-

१. स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रतः-

श्रावक चलते-फिरते, आँखों से दिखते जीवों को बिना कारण नहीं मारना चाहिये।

२. स्थूल-मृषावाद विरमण व्रतः-

मृषा भाषा-जिसके बोलने से उत्तम लोगों में निंदा हो, एवं राजा से दंडित हो, दूसरो का घात हो ऐसी असत्य भाषा (वाणी)नहीं बोलनी चाहिये।

३. स्थूल अदत्तादान :-

बिना दिये दूसरे का धन नहीं लूँगा अर्थात् चोरी नहीं करुंगा। ऐसा व्रत लेना चाहिये।

४. स्थूल-मैथुन विरमण व्रतः-

स्वस्त्री में संतोष रखते हुए परस्त्री की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

५. स्थूल परिग्रह-परिमाण व्रतः-

जरुरत से ज्यादा धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु आदि का संग्रह नहीं रखना चाहिये। पद्य (२१)

---

५५. बारह व्रत की विशेष जानकारी के लिये-द्रष्टव्य
प्रवचन सारोद्धार-गृहस्थ प्रतिक्रमणद्वार-पृष्ठ ८१ से ८५
पाँच अणुव्रत :- स्थूलरूप से हिंसा, असत्यादि पापों का त्याग, स्थूल चोरी का त्याग, स्वस्त्रीसंतोष, परिग्रह परिमाण
तीन गुणव्रतः-दिशा परिमाण, भोगोपभोग परि., अनर्थदंड परि.
चार शिक्षाव्रतः-सामयिक, देशावकासिक, पौषध, अतिथि संविभाग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य में श्रावक के आचारधर्म द्वादश व्रतों के रूप में निरूपित किया है।

बारह व्रतः-

५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत.

५ अणुव्रत को शीलव्रत भी कहा है।

अणुव्रत का अर्थ :-छोटे व्रतः-

श्रावक उन व्रतों का पालन मर्यादित रूप से करता है, इसलिए उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। महाव्रतों का आंशिक पालन अणुव्रत है।

व्रतों का मूल उद्देश्य कर्मो की निर्जरा है, आत्मशुद्धि, परमात्म भाव की प्राप्ति और वीतरागता की उपलब्धि है।

जैन धर्म में मुख्य व्रतों को "महाव्रत" कहा है। योगदर्शनकार-ने उसे "पंचयम" कहा है। और बौद्ध धर्म ने उन्हें"पंचशील" कहा है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी व्रतों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध है।

श्रावक के ५ अणुव्रत और श्रमण के ५ महाव्रत दोनों के नाम में साम्यता है। किन्तु इन व्रतों के पालन में अन्तर है। श्रमण-महाव्रतों का पूर्णरूपेण पालन करता है, जबकि श्रावक महाव्रतों का आंशिक रूप से पालन करता है। पर दोनों ही मोक्ष मार्ग है। अणुव्रत और महाव्रत एक दूसरे के पूरक हैं। श्रमणों के आचार की अपेक्षा श्रावक के आचार सरल है। श्रावक गृहस्थ अवस्था में रहकर, संसार में रहते हुए हर पल, हर क्षण अपने व्रतों के प्रति सावधान रहता है। श्रावक का भी हमेशा लक्ष्य रहता है कि मैं श्रमण धर्म की ओर बढ़ने का प्रयत्न करुँ। इस प्रकार श्रावक के पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया है।

अब श्रावक को साधर्मिक के साथ अर्थात् समान धर्मी के प्रति कैसा व्यवहार रखे, उसके विषय में बताते हैंः-

"पवयण साहम्मिणं, करेमि वच्छल्लमविगप्पं ॥"२३ ॥
"तेहिं समं न विरोहं करोमि न च धरणगादि कलहं
सीयंतेसु न तेसिं सइ विरिए भोयणं काहं ॥"२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन प्रवचन को माननेवाले साधर्मिक बन्धुओं के प्रति वात्सल्य करता हूँ। उन साधर्मी बन्धुओं के साथ विरोध-वैर भाव नहीं रखूँगा। और न धरणा दूँगा[५६], न ही उनके साथ लड़ाई झगड़ा करुँगा। साधर्मिक लोग तन, धन किसी और प्रकार से दुःखी हो उस हालत में शक्ति के रहते दुःख मिटाये बिना भोजन नहीं करुँगा। (२३-२४)

आचार्यश्री ने साधर्मिक भक्ति पर अत्यधिक जोर दिया है, क्योंकि साधर्मिक भाइयों का सहयोग मिलना अति दुर्लभ है। इसलिये समान धर्मवाले साधर्मिक भाइयों के साथ वात्सल्यभाव रखने की प्रेरणा दी है। साधर्मिक भाइयों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार रखने से तो वे धर्म में अस्थिर होंगे तो धर्म में स्थिर बन जाएंगे, जो स्थिर हैं वे स्थिरतम हो जाएंगे।

अपने सगे, स्नेही, सम्बन्धीजनों की अपेक्षा साधर्मिकों से अत्यधिक स्नेह रखने की प्रेरणा दी है। चाहे वे भिन्न भिन्न देशों में उत्पन्न, भिन्न भिन्न जातिवाले होते हैं, अगर वे जैन धर्म स्वीकार करते हैं तो हमारे परस्पर बन्धु ही हैं।[५७]

जो नवकार मंत्र को धारण करता है, वह भी परम बन्धु के समान है। इस स्वधर्मी बन्धुओं का बहुमूल्य वस्तुओं से सन्मान करना चाहिये। कभी साधर्मिक भाई आपत्ति में हो तो अपना धन देकर संकट से मुक्त कराना चाहिये। साधर्मिक वात्सल्य करके राजा लोग अतिथि संविभाग व्रत का पालन करते हैं। दंडवीर्य राजा हमेशा साधर्मिक भक्ति करते थे। साधर्मिक भक्ति करनेवाला तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करता हैं।[५८]

---

५६. यहाँ "धरणागाइ" शब्द से-जो स्वयं शासकादि हो, दूसरे को गुप्त रीति से पुलिस में गिरफ्तार कराना, भूखा रखना आदि कार्य नहीं करुंगा। शासक न होने पर उपर्युक्त कार्य शासकों से नहीं कराऊंगा। न धरणा सत्याग्रह करुंगा, न कभी मुकद्दमा-केस करुंगा।

५७. अन्नन्न-देस-जाया अन्नदेस-वड्ढियसरीरा।
जिण-सासणं पवन्ना, सव्वे ते बंधवा भणिया॥

५८. संभवनाथ भगवान तीसरे भव में विमलवाहन राजा थे। महान दुष्काल में साधर्मिक भाइयों को भोजन, वस्त्रादिक देकर जिननाम कर्म (तीर्थंकर) उपार्जन किया था।
(श्राद्धविधि प्रकरण-मफतलाल झवेरचंद झवेरी, पृ.२८५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधर्मिकों के साथ विरोध-वैरभाव नहीं रखना चाहिये। ग्रंथ में ''धरणागाइ'' शब्द से-जो स्वयं शासकादि पद पर है तो किसी को गिरफतार करना, मारना, दण्ड देना, आदि कार्य नहीं कराने चाहिये। स्वयं शासक न हो तो उपरोक्त कार्य अन्य शासकों से भी नहीं करावें, न ही कार्य करने की प्रेरणा देवें, न ही किसी के साथ मुकद्दमा, केस करें। साधर्मिकों को दिया हुआ धन वापिस लेने के लिये अन्यत्र देशों में भी न जावें।

नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरिजी ने भी अपने ग्रंथ ''साधर्मी वात्सल्य कुलक'' में कहा है-

नवकार मंत्र का स्मरण करनेवाले सभी जैन स्वधर्मी हैं। उनके साथ विवाद-कलह आदि का सर्वथा वर्जन करें, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि, जो क्रोध में आकर स्वधर्मी पर प्रहार करता है, मन में भी वैसा विचार करता है वह निर्दय, लोकबन्धु भगवान की आशातना करता है। भगवान की आज्ञा में वर्त्तते स्वधर्मी को जो मोह दोष से दुःखी करता है, वह तीर्थंकर-श्रुतसंघ का प्रत्यनीक-विरोधी है।[५९]

''सीयंते'' इत्यादि दुष्काल में, दरिद्रता से, बन्दी बनाये जाने के कारण दुःखी हो रहे बन्धुजनों को, शक्ति होने पर भी राजबल, धनबल आदि होने पर भी जब तक विपत्ति से मुक्त न करुँ, तब तक मैं भोजन नहीं करूँगा। क्योंकि कहा है :-

वही धन, वही सामर्थ्य और वही विज्ञान सर्वोत्तम है, जो सुश्रावक साधर्मिक भाइयों के कार्य में व्यय करते हैं। 'श्राद्धदिनकृत्य सूत्र' में भी साधर्मिक भक्ति का वर्णन दो प्रकार से बताया है:-[६०]

द्रव्य से उपरोक्त जानना तथा भावसे धर्मकार्य में जिनपूजा सामायिक प्रतिक्रमण आदि में श्रावक को प्रेरणा देने के लिए निर्देश दिया है।

---

५९. विवाह कलहं चेव सव्वहा परिवज्जइ।
साहम्मिएहिं सद्धिं तु जओ सुत्ते वियाहियं ॥ १
जो किर पहरइ साहमियम्मि कोवेण दंसणमणम्मि।
आसायणं च जो कुणइ निक्किवो लोगबंधूणं ॥ २
आणाए वट्टंतं जो उवदूहिज्ज मोहदोसेण।
तित्थयरस्स सुयस्स य संघस्स य पच्चणीओ सो ॥ ३
श्री अभयदेवसूरि विरचित ''साधर्मिक वात्सल्यकुलक''
(उद्धृत-चर्चर्यादिसंग्रह-पृ.६२)

६०. श्राद्धदिनकृत्यसूत्र-जैन धर्म प्रचारक सभा भावनगर-१०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्री जिनमंदिर में होती आशातनाओं पर विवेचन करते हैं :-

जिनमंदिर में कम मूल्य का अंगलुंछन (वस्त्र), चन्द्रवे, पिछवाई भेट न करें, मूल्यवान वस्तु ही जिनमंदिर में चढ़ाये।

"अणुचियं नट्टं गीयं च रासयं आसणाइ वि" ॥२५॥

अनुचित श्रृंगार रस का पोषण करनेवाले नृत्यगान आदि करना, रासक गरबा (जो वर्त्तमान में डांडियों से खेला जाता हैं), मंदिर में शयन करना, थूक आदि फेंकना इत्यादि ८४ प्रकार की आशातनाएं नहीं करनी चाहिए।

अनुचित नृत्यादि होने पर, उसमें नाचनेवाली तरुण स्त्री और बालाएँ अपने लावण्यरस के प्रसार से प्लावित दर्शकजनों के विवेक को नष्ट कर देती हैं। भगवान वीतराग के सन्मुख किसी की दृष्टि ही नहीं जाती है। अतः दर्शन, नमन, वीतराग के पूजादि का अनादर होता है। अतः उपरोक्त कार्यों का जिनमंदिर में निषेध किया गया है।

इस प्रकार अनुचित नृत्यगीत होने पर भी मन विकृत होने की सम्भावना रहती है। इन्हें श्रवण करने पर श्रोताओं के मन में संसार के प्रति अनुराग हो सकता है।

चैत्यवदंन, ध्यानादि से मन विचलित हो जाता है। इसी कारण से ग्रंथकार ने जिनचैत्य में अनुचित रास, नृत्य-गान का निषेध किया है। तथा जिनमंदिर में थूकना आदि ८४[६१] प्रकार की आशातनाओं का त्याग करें, ऐसी प्रतिज्ञा सम्यक्त्वधारी प्रत्येक श्रावक को करना आवश्यक है।

---

६१. ८४ आशातना-

खेलं केलि कलि कला कुललयं तंबोल मुग्गालयं,गाली कंगुलिया सरीर घुवणं केसे नहे लोहियं।
भत्तो सं तय पित्त वतं दसणे विस्सामणं दामणं,दन्त त्थी नह गंड नासिय सिरो सुत्त छवीणं मलं॥४३९॥
मन्तं मीलण लीलयं विभजनं भण्डार दुट्ठासणं,छाणी कप्पड दालि पप्पड वडी विस्सासणं नासणं।
अक्कंदं विकहं सरत्थघडणं तेरिछसंठावणं, अग्गीसेवणरंघणं परिखणं निस्सीहियाभंजणं॥ ४४०॥
छत्तो वाहण सत्थ चामर मणोणेगत्तमब्भंगण,सच्चित्ताणमवाय चायमजिए दिट्ठीय नो अंजली।
साडे गुत्तरसंगभंगभउडं मोलिं सिरो सेहरं, हुड्डा जिडुहगं डियाइरमणं जोहारचंडक्कियं॥ ४४१॥
रेकारं धरणं रणं विवरणं वालाण पल्लत्थियं, पाऊ पाय-पसारणं पुडपुडी पङ्कं रउं मेहुणं।
जुया जेमण गुज्झ विज्ज वंजणिज सिज्जं जलु मज्जणे,एमाई य सवज्ज कज्ज मुज्जओ वज्जे जिणिंदालए
॥ ४४२॥

(प्रवचन सारोद्धार-जिन मंदिर आशातना-३८ मा द्वार, गाथा-४३९ से ४४२, पृ.१२१ से १२३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन आशातनाओं का सेवन करने से जीव भव-भ्रमण करता है।

अन्त में मांगल्य सूचनार्थ सम्यक्त्वयुक्त श्रावक को गीतार्थ सद्गुरु की व्याख्या बताते हुए कहते हैं-

जो सर्वज्ञ वीतराग भगवान की आज्ञा को माननेवाले, लोकप्रवाह से पृथक रहते हुए, भव्यात्माओं को धर्मोपदेश सुनानेवाले, कपट तथा मात्सर्य भाव से निर्मूल, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर हैं, उन्हींको अपना धर्मगुरु समझे।

ग्रंथ के अंत में आचार्यश्री कहते हैं:-

सद्गुरुओं की आज्ञा से उनके संरक्षण में ही विशिष्ट या सामान्य धर्मकार्य विधि-विधान हो सकते हैं। अतः गुरु सान्निध्य और गुरु आज्ञा सर्वोपरि है।

ग्रंथकार ने अन्त में अपना नाम युक्ति से "जिनदत्तसूरि" निर्देशित किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'चैत्यवंदन कुलक' में वासक्षेप के प्रकार, चैत्यभेद, अभक्ष्य के भेद, धार्मिक भक्ति, जिन चैत्य में होती आशातनाओं का वर्णन और श्रावकों के द्वारा वर्जनीय व आचारणीय विषयों का सुंदर निरूपण किया गया है।

आचार्यश्री ने जैन धर्म का सूक्ष्म ज्ञान गृहस्थ जीवनयापन करने के लिये जनसाधारण को दिया, जिससे जनसाधारण उनके उपदेश पर चलकर, अपना आत्मकल्याण कर सके। इस तरह चैत्यवंदन कुलक ग्रंथ अनेक शिक्षाओं से भरपूर है।

***

१०. संदेह-दोलावली

यह प्राकृत कृति १५० गाथाओं में गुम्फित है। इसमें गाथा छन्द का प्रयोग किया गया है। कृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस कृति की महत्ता इसमें है कि कालान्तर में इस पर अनेक वृत्तियाँ रची गयी हैं।[६२]

---

६२. (क) संदेह-दोलावली-प्रबोधचन्द्रगणि सं. १३२० में ४५०० श्लोक परिमाण बृहद् वृत्ति रची। निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९१८

(ख) संदेह-दोलावली-उपा.जयसागरजी म.सा.ने सं.१४९५ में १५०० श्लोक परिमाण लघुवृत्ति रची। हीरालाल हंसराज, जामनगर.

(ग) चर्चर्यादिसंग्रह - जिन हरिसागरसूरि-भाषान्तर सह-सं.२००४, पृष्ठ ६४ से ९७ तक प्रकाशक-जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार-सूरत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''प्रबोधचन्द्रगणि'' के कथनानुसार-

भटिण्डा की खरतर श्राविका के सम्यक्त्व मूलक प्रेषित प्रश्नों के उत्तर में जिनदत्तसूरिजी ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। इससे पता चलता है कि उनकी अनुयायिनी श्राविकाएँ कितनी उच्चतम उत्तरों की अधिकारीणी थी।[६३]

इसका अपरनाम ''संशय पद-प्रश्नोत्तर'' है।

सम्यक्त्व प्राप्ति, सुगुरु व जैन प्रवचन की पुष्टि के लिये यह कृति उत्कृष्ट मार्ग का प्रदर्शन करती है। तत्कालीन गृहस्थ सद् गुरुओं के प्रति किस प्रकार व्यवहार करें एवं पासत्थों के प्रति किस प्रकार रहें तथा विधिचैत्य व अविधिचैत्य का लक्षण, सामायिकादि करने की विधि, प्रासुक व अप्रासुक जल का लक्षण, व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण करने की विधि आदि विषयों का, जैन-शास्त्रों के अनभिज्ञ पुरुषों के लिये यहाँ विवेचन किया गया है।

जिन भव्यात्माओं को जिन-सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान नहीं है, उनके चित्त में अनेक शंकाए उत्पन्न होती हैं, अतः उन शंकाओं का समाधान करना ग्रंथकार का मुख्य हेतु है। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि भटिण्डा की श्राविका के सन्देह निवारण हेतु प्रश्नोत्तर दिया जा रहा है। क्यों कि ग्रंथकार स्वयं ने कहा है कि गीतार्थ गुरुओं की परम्परा के अनुसार कतिपय प्रश्नों का उत्तर कहुँगा। नहीं तो उनके कहे बिना सांशयिक नामक मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है।

सांशयिक मिथ्यात्व का अर्थ-

''सन्देहों का निवारण न होना'' होता है। उन सन्देहों को युगप्रधान बोधवाले आचार्यों के लिखे हुए वचनों या सिद्धान्तों से मिटाया जा सकता है।

कृति के प्रारंभ में ''वीर प्रभु'' की स्तुति करके सुविहित गीतार्थ गुरुजनों के अनुसार आचार्यश्री संशयों का उत्तर देते हैं, नहीं तो सांशयिक मिथ्यात्व का दोष लगता है। अतः गुरुजनों के सत्संग से धर्माधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है। यहाँ आचार्यश्री धर्म का स्वरूप बताते हुए, धर्म के भेद और परिभाषा बताते हैं:-

धर्म के दो भेद हैं:-

(१) द्रव्य धर्म (२) भाव धर्म

---

६३. संदेह-दोलावली-प्रबोध चन्द्रगणि-प्रस्तावना-पृष्ठ-१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. द्रव्य धर्म :-

द्रव्यधर्म अर्थात् सूत्रविरुद्ध एवं अशुद्ध ऐसा वह शुभाचाररूप धर्म भी द्रव्य-धर्म कहा जाता है। क्योंकि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित जीवों के द्वारा अविचारपूर्ण प्रवृत्ति से गड़रिया प्रवाह की तरह किया गया धर्म है। ऐसा जो धर्म है, जिसमें कि अविधिपूर्वक मंदिर बनाना, पूजन करना आदि कार्य होते हैं। इसके अधिकारी दुष्कर कठोर क्रिया आचरण करके देव-सम्बन्धी आयुष्य , विषय-भोग की तल्लीनता के कारण नरक और तिर्यञ्च गति में बहुत दुःखों को भोगते हैं। उनको मोक्षफल की प्राप्ति नहीं होती; ठीक ही लिखा है कि-भाग्यहीन के घर कल्पवृक्ष नहीं उगता।

२. भावधर्म :-

अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थानक आदि में स्थित जीव द्वारा विचारपूर्वक किया हुआ शुभ अनुष्ठानवाला धर्म भावधर्म है। भाव धर्म के दो भेदः-

(१) साधुओं का शुद्ध भाव धर्म।

(२) गृहस्थों का शुद्ध भाव धर्म।

भाव धर्म के अधिकारी जीव वैमानिक देव होकर सुक्षेत्र और उत्तम कुल में मनुष्य जन्म प्राप्त करके शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अब अधर्म की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि हिंसा आदि १८ पाप स्थानकों का सेवन करने से अधर्म होता है। जो जीव अधर्म करता है, वह तिर्यञ्च और नरक गति में जाता हैं। वहाँ भी आर्त और रौद्र दोनों दुर्ध्यान बने रहते हैं। ऐसे जीवों को स्वप्न में भी स्वर्ग और मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती है। (१ से १६)

पुण्य से ही सद् गुरु की प्राप्ति होती है। जहाँ सद् गुरुओं का विहार नहीं होता, उन भव्यात्माओं के दिल में सद्गुरु के सत्संग बिना सैकडों संदेह उत्पन्न होते हैं। उन संदेहों के निवारणहेतु विशेषरूप से

श्रावकों के लिये आचार-सम्बन्धी, शास्त्र सम्मत निर्देशन करते हुए आचार्यश्री कहते है कि :-

प्रश्न (१) एक श्रावक गीतार्थ गुरु से परिग्रह-परिमाण-व्रत ग्रहण करता है, तो दूसरा श्रावक गुरु के दर्शन करने में असमर्थ हो तो उस स्थिति में जिसने सद्गुरुओं से परिग्रह प्रमाण लिया है तो दूसरा उसकी साक्षी से व्रत ग्रहण कर सकता है ?

उत्तर- ग्रंथकार कहते है कि वह परिग्रह परिमाण सद्गुरुओं से ग्रहण किया है, शास्त्रोक्त है, तो उससे दूसरा परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण कर सकता है। (२२ से २५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब **प्रश्न** है:- द्रव्यलिङ्गी शिथिलाचारियों को नमस्कार करना चाहिये या नहीं ?

कीरइ न वत्ति जं, दव्वलिंगिणो वंदणं इमं पुट्ठं।
तत्थेयं पच्चुत्तरं लिहियं आवस्सयाईसु ॥ ३१
पासत्थाई वंदमाणस्स नेव कीत्ति न निज्जरा होइ।
कायकिलेसं एमेव, कुणइ तह कम्मबंधं च ॥ ३२
जो पुण कारणजाए, जाए वायाइयो नमोक्कारो।
कीरइ सो साहूणं, सड्ढाणं सो पुण निसिद्धो ॥ ३३

द्रव्यलिंगियों के प्रति आवश्यकादि सूत्रों में लिखा है कि-पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वंदन करते हुए श्रद्धालु व्यक्ति को न कीर्ति और न निर्जरा ही प्राप्ति होती है। किन्तु केवल कायक्लेश व कर्मबन्ध ही प्राप्त होता है। किन्ही कारणों के उत्पन्न होने पर भी शिथिलाचारियों से साधु वाचिक नमस्कार करें।

श्रद्धालु श्रावकों के लिये तो उन्हें वाचिक नमस्कार करना भी निषिद्ध है क्योंकि श्रावक आगम सम्मत विशिष्ट विचारों से अनभिज्ञ रहते हैं। (३१ से ३३)

श्राद्धदिनकृत्य सूत्र में कहा है कि:-

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द इन पाँचों से परिचय नहीं करना और नहीं वार्तालाप करना, क्योंकि पासत्थादिक को वंदन आदि करने से अपकीर्ति होती है, निर्जरा नहीं होती केवल कायक्लेश और कर्मबन्ध होता है।[६४]

महानिशीथसूत्र में:-

पार्श्वस्थ आदि पाँचों का संसर्ग, दर्शन, बात-चीत करना, परिचय करना, सहवास करना आदि का निषेध किया है।[६५]

---

६४. श्राद्धदिन कृत्यसूत्र- जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, पृ.१२६

६५. "एयं नाउण संसग्गिं दरिसणालाव-संथवं।
सवासं च हियाकंखी, सव्वोवाएहिं वज्जए॥"
(महानिसीह सुत्तं-सम्पा. दीपरत्नसागर-२/३/४२९, पृष्ठ-३२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धारसूत्र में-

पासत्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द इन पाँचों को जिनेन्द्रमत में अवन्दनीय कहा है।[६६]

उक्त आगमशास्त्रों में भी पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वंदन करने का निषेध किया है:-

शुद्ध धर्मयुक्त उपासकों को शिथिलाचारियों एवं कुतीर्थिकों का त्याग करना चाहिये। जो शिथिलाचारी, चैत्यवादी देवद्रव्य का उपयोग करता है, उसे अनंतकाल तक भवभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार चैत्यवासी शिथिलाचारी, पार्श्वस्थ की मान्यता और प्ररूपणा शास्त्र विरुद्ध होने से त्याज्य और निन्द्य है।

अतः जिनेन्द्र भाषित श्रेष्ठ अनुष्ठान पालन करें। सुविहित साधुओं के प्रति श्रद्धा एवं बहुमान रखें। जिससे सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होती है।

अब गाथा ३४ से ३५ में बताया है कि पौषधशाला में श्रावक जीवविचार, उपदेशमाला आदि की चर्चा आपस में कर सकते हैं। जिस श्रावक ने गीतार्थ गुरु महाराज से भली भांति प्रकरण सुना है वह अन्य श्रावकों को सुना सकता है। श्रावक प्रकरणार्थ को कहते हुए कोई कुछ प्रश्न पूछता है उसे श्रावक नहीं जानता है, तो वह कह दे कि गीतार्थगुरु से पूछकर जवाब दूंगा। (३६-३७)

श्रावक पौषध कब करें उसके विषय में कहते है कि:-

अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा ये पौषध के दिन बताये है, इन तिथियों को श्रावक सम्पूर्ण चारों प्रकार के पौषधों को करता है। (३८)

श्रावक को पर्वतिथि में पौषध करना चाहिये। पौषध शब्द की व्युत्पति बताते है- पौषध शब्द संस्कृत में "उपवषथ" शब्द से निर्मित हुआ है। जिसका अर्थ है- "धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना"

धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास है।

---

६६. "पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो।
अहच्छंदोवि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि॥" (गाथा-१०३)
प्रवचन सारोद्धार भाग-१, वन्दनद्वार-२, नेमिचन्द्रसूरि विरचित-गाथा-१०३, पृष्ठ-३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे शब्दों में कहें तो पौषध का अर्थ :-

"पोषना, तृप्त करना"

हम प्रतिदिन भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं, किन्तु आत्मा भूखी ही रहती है।

इस व्रत से शरीर का पोषण न कर, आत्मा को तृप्त की जाती है। आत्मचिंतन कर आत्मभाव में रमण करना पौषधव्रत है।

गृहस्थ श्रावक को गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों को निभाने के कारण अवकाश नहीं मिलता है, अतः उसे पर्वतिथि आठम, चौदस, अमावस्या, पूर्णिमा आदि के दिन आत्मविकास और आत्मशक्ति की वृद्धि के लिये पौषध करना चाहिये। आगमों और सूत्रों में भी वर्णित है कि पर्वतिथि को श्रावक पौषध करें।

दशाश्रुतस्कन्ध में स्पष्ट वर्णन है कि श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी प्रभृति पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास करें। [६७]

उत्तराध्ययनसूत्र नवमाध्याय की वृत्ति में:-

"पौषधो अष्टम्यादिषु व्रत विशेषः"

ऐसा लिखा है। [६८]

नवपद बृहद् वृत्ति में कहा गया है- अष्टमी, चतुर्दशी, इन पर्व तिथियों को पौषध करना चाहिये। [६९]

दशाश्रुतस्कंधचूर्णि में- उपासक की एकादश प्रतिमा का अर्थ-

"प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष, तप विशेष। श्रावक, श्रमण सदृश व्रत विशेषों का पालन करता है। उपासक की एकादश प्रतिमा में चौथी प्रतिमा "पौषध" है।[७०] तथा श्रावक के बारह व्रत की दृष्टि से पौषध ग्यारहवाँ व्रत है।"[७१]

---

६७. दशाश्रुतस्कन्ध मूल निर्युक्ति चूर्णि-पंन्यासश्री मणिविजयजी गणि ग्रंथमाला-अध्ययन-६, पृ.३३

६८. उत्तराध्ययन सूत्र-महो.श्रीमद् भावविजयगणि विरचित वृत्ति, प्रकाशक-श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, गाथा-४२, पृष्ठ-२२६.

६९. नवपद बृहद् वृत्ति- श्री यशोदेव उपाध्याय रचित बृहद् वृत्ति, गाथा- ११२, पृष्ठ-२७१, प्रकाशक-जीवनचंद साकरचंद झवेरी

७०. उद्धृत-जैन आचार-देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ-२५०

७१. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रत को देशतः पौषध भी कह सकते हैं, पर प्रतिमा में प्रतिपूर्ण पौषध करने का विधान है। आवश्यक सूत्र में पौषध चार प्रकार के बताये हैं।[७२] वह इस प्रकार है :-

(१) आहार पौषध :- आहार को त्याग करना, आहार पौषध है।

(२) शरीर-पौषध :- शरीर को सजाना-संवारना आदि प्रवृत्तियों का त्याग करना, शरीर को धर्म प्रवृत्ति में लगाना, शरीर पौषध कहलाता है।

(३) ब्रह्मचारी पौषध :- सभी प्रकार के मैथुन का त्याग, ब्रह्मचर्य पौषध है।

(४) अव्यापार पौषध :- आजीविका के लिये सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग वह अव्यापार पौषध है।

अतः श्रावक को पौषधोपवास व्रत आत्मअभ्युदय के लिये सर्वोत्तम साधना बतायी है। पौषध में साधक सांसारिक प्रवृत्तियों से मुक्त होकर निरन्तर धर्म जागरण करके आत्म कल्याण करता है।

आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी ने हर प्रश्न का उत्तर लगभग शास्त्र सम्मत दिया है। गाथा ३७-४० में कहते है कि पर्वतिथि में तपस्या आदि करनी चाहिये, और अष्टमी आदि तिथियों का महाकल्याणक से सम्बन्ध हो जाय तो तिथियों एवं कल्याणक सम्बन्धी तप कैसे करें ?

आचार्यश्री कहते है कि-

अष्टमी आदि को व्रत योग होता है। व्रत शब्द से कल्याणक आदि में किया हुआ नियम कहा जाता है, तो पर्वतिथियों में उसके संयोग से एकासन करनेवाले को निवी गुरुत्तर बड़ा नियम करना चाहिये। अर्थात् एकासनवाले को निवी, निवी करनेवाले को आंबिल और आंबिल करनेवाले को उपवास करना चाहिये। क्योंकि एकासन से निवी बड़ी होती है। यहाँ पर आचार्यश्रीने श्रावकों को छोटी बातों का उत्तर बड़ी ही कुशलतापूर्वक दिया है, जिससे श्रावक अपनी समस्या का समाधान कर सकें।

---

७२. "पोसहोववासे चउव्विहे पन्नते तं जहा-आहारपोसहे, सरीरसक्कारपोस हे, बंभचेरपोसहे, अव्वावार पोसहे"
(आवस्सयं मूल सुत्तं-सम्पा.-मुनि दीपरत्नसागर ५/७९, पृ.९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ४३ में इसी बात का पुष्टीकरण किया है कि आलोचना करते समय गुरुमहाराज सज्झाय करने को कहे तब वह सज्झाय हमेशा के नियम से २ हजार श्लोंको के स्वाध्याय करने का अभिग्रह है तो वह सदा से अधिक करें, तभी कर्मक्षय होता है। इसी प्रकार पाँचों तिथि में एकासन करता है तो अभिग्रहित तप से अधिक निवी करे तो आलोचना तप माना जाता है।

इसी प्रकार गाथा ४५ से ५० तक सामायिक विषय में प्रश्न पूछे हैं कि सामायिक में श्रावक-श्राविका को कितने वस्त्र पहनने चाहिये ?

उत्तर :- सामायिक में श्रावक को एक वस्त्र और अपवाद में तीन वस्त्र औढ़ सकता है। क्योंकि सामायिक में श्रावक साधुवत् है।

उसी तरह श्राविका तीन वस्त्र पहनें। अपवाद में ठंडी लगे तो ओढ़ सकती है।

अब आगे कर्मवाद का कारण बताते है :-

प्रश्नः- किसी ने दिशा-परिमाण अधिक चार कोश का रखा है, परन्तु वह एक कोश भी नहीं जाता है तो उसको कर्मबन्ध होता है या नहीं ?

उत्तर :- इस प्रश्न का जवाब देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि चार कोश जाने का परिमाण रखा है, वह जाता नहीं है तो भी उसके अविरति से पैदा होनेवाला कर्मबंध होता ही है। क्रिया से कर्मबन्ध का सम्बन्ध नहीं जितना परिणाम से कर्मबन्धन का सम्बन्ध है।

कर्मबन्धन में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार हेतु बताये हैं। (५२)

वाचकप्रवर उमास्वातिजीने तत्त्वार्थसूत्र में-

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-

ये कर्मबन्ध के कारण माने गये हैं।[७३]

इसिलिए मानव को हर पल, सावधान रहकर कर्मबंध से बचना चाहिये।

अब ग्रंथकार द्विदल के बारे में बताते हैः-

प्रश्न है-

कच्चे दूध, दही, छाछ के साथ द्विदल (दो दलवाला अनाज)खाना चाहिये या नहीं ?

---

७३. "मिथ्यादर्शनाविरप्रिमादकषाययोगा बन्धहेतवः"
तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर-ग्रंथकार कहते है कि गरम किये हुए दूध, दही, छाछ के साथ दाल आदि डालने से विराधनारूप दोष नहीं होता। लेकिन कच्चे गोरस में डालने से जीव-समूर्च्छिम सूक्ष्म त्रस-जीव पैदा होते हैं। (६६)

द्विदल-जिसमें दो दल हो वैसा अनाज द्विदल कहलाता है।

जिसके पिसने से तेल नहीं निकलता उसे द्विदल कहते हैं।

द्विदल अनाज को कच्चे दही, छाछ के साथ मिलाने से बेइन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। फिर उसका भक्षण करने से हिंसा का दोष लगता है। अगर दूध, दही, छाछ को गरम करके अनाज में डाले तो दोष नहीं लगता।

जैसे कि:-

गोबर के कंड़े को धूप में सुका देते है तो कोई जीव उसमें नहीं रहता है। लेकिन उस पर वर्षा गिर जाय तो एकाएक दूसरे दिन उसके अंदर सैकड़ों जीव दिखेंगे। ऐसा क्यों, इसका मतलब यह हुआ कि गोबर के कंडे में वर्षा के पानी का संयोग हुआ, इससे जीवोत्पत्ति हुई। इसी प्रकार द्विदल अनाज में कच्चे दही छाछ आदि का संयोग होने से त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिए द्विदल का उपयोग कच्चे दही आदि के साथ न करें, गरम करके खाद्य सामग्री में उपयोग में लेना चाहिये।

प्रश्नः- आलोचना तप कैसे करें, और उसकी क्या विधि है ?

उत्तरः- उसे आचार्यश्री बताते हैं :-

जिस देश में सद्गुरुओं का समागम नहीं होता है वहाँ के निवासी स्थापनाचार्यजी के सामने आलोचनाविधि कर सकते हैं।

आलोचनाविधि करने के लिये सर्वप्रथम पंच परमेष्टि नवकार मंत्र पढ़कर विधिपूर्वक स्थापनाचार्यजी को स्थापन करें। बाद में खमासमणा देकर मुहपत्ति पडिलेहण का आदेश ले तथा मुहपत्ति पडिलेहण के बाद द्वादशव्रत वांदणा दो बार देवें। तत्पश्चात् आलोचना तप करें। उक्त विधि आलोचना तप की, और स्वाध्याय की बतायी गयी है। (७६-८०)

प्रश्नः- उक्त रीति से तप और स्वाध्याय दोनो करने में समर्थ श्रावक को तप करना चाहिये या स्वाध्याय क्या करना चाहिये ?

उत्तर :- ग्रंथकार कहते है कि:-

श्रावक आलोचनानिमित्त उपवास करें। जो श्रावक उपवास तप में अशक्त हो वही स्वाध्याय करें। आलोचना तप करते समय- प्रासुक आहार, सचित्त का त्याग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्यव्रत पालन और अविभूषा- अर्थात् श्रृंगार त्याग करें।

तथा पन्द्रह [७४] कर्मादानों का, विकथा, उपहास, कलह, प्रमाद, भोगों की अधिकता का त्याग अधिक नींद त्याग, निन्दा और १८ पापस्थानों का त्याग, शुद्ध धर्म क्रिया में प्रमाद का सेवन न करें। आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करें। इस प्रकार आलोचना करनेवाला हमेशा स्वाध्याय करें और पाँच आचारों का पालन करें। आलोचना करनेवाला जघन्य से त्रिकाल चैत्यवंदन, मध्यम से ५ बार चैत्यवंदन और उत्कृष्ट से सात बार चैत्यवंदन करें। [७५] (८२ से ८७)

आचार्यश्री अब आचार और उसके भेद बताते हैं :-

श्रावक के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य- ये पाँच पकार का आचार बताया है, अब

पंचाचार का स्वरूप बताते हैः-

ज्ञान में प्रवृत्ति ज्ञानाचार, श्रद्धा बढाने की प्रवृत्ति दर्शनाचार, सदाचार में प्रवृत्ति चारित्राचार, तपस्या में प्रवृत्ति तपाचार और शासन सेवा में प्रवृत्ति वीर्याचार- इस प्रकार पाँच आचार का स्वरूप ग्रंथकार ने बताया हैं।

अब आचार के भेद उनकी संख्या बताते हैं-

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार प्रत्येक आठ-आठ भेदवाला होता है। तपाचार के बारह भेद हैं। कुल मिलाके छत्तीस भेद होते हैं। वीर्याचार के उपरोक्त छत्तीस भेद होते हैं। (९२-९३)

उपरोक्त कुल छत्तीस भेद पंचाचार के बताये है। पाँच आचार का महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

आचार में प्रथम-

ज्ञानाचारः-

ज्ञानाचार अर्थात् ज्ञान का सार। ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल ये पाँच भेद हैं। और ज्ञानाचार के काल, विनय, बहुमान आदि आठ भेद बताये हैं।

---

७४. देखे-प्रवचन सारोद्धार-भाग-१, गृहस्थप्रतिक्रमण द्वार-६, गाथा-६७-६८, पृष्ठ-७५. कर्मादान का अर्थः-श्रावक पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसायों को जानकर सर्वथा त्याग करता है।

७५. चैत्यवंदन का विशेष वर्णन देखे, चैत्यवंदनकुलक, प्रकरण-४, ब प्राकृत कृतियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनाचार :-

आचार का दूसरा भेद दर्शनाचार है। जिसका अर्थ है सम्यक्त्वविषयक आचरण। सम्यग्दर्शन का अर्थ है सत्य के प्रति श्रद्धा-दृढ निष्ठा। दर्शनाचार के निःशंकित, निष्कांक्षित आदि आठ भेद हैं।

चारित्राचारः-

चारित्राचार का अर्थ है पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आचरण जो सम्यक्त्व चारित्र से उत्पादन और रक्षण का साधनरूप है।

तपाचार :-

जैनदर्शन के अनुसार उपवास या कायक्लेश ही तप नहीं। तप के दो भेद बताये हैः- छ बाह्य और छः आभ्यन्तर। इन बारह प्रकार के तप से जीवन का उत्थान होता है।

वीर्याचार :-

ज्ञान आदि विषय में शक्ति का अंगोपन तथा अनतिक्रम वीर्याचार है। इस प्रकार ज्ञान, श्रद्धा, तप, सदाचार, सत्कर्म ये सभी आचार के भेद माने गये है।

भगवान महावीर ने ज्ञान, श्रद्धा, क्रिया, तप और आत्मशक्ति को आचार की संज्ञा दी है। [७६]

पंचाचार का स्वरूप संक्षिप्त में इस प्रकार का बताया गया है।

पंचाचार का विशेष वर्णन प्रवचनसारोद्धार में देखें। [७७]

अब आगे प्रश्न यह उठता है कि आलोचना-तप किस तरह होता है, उसकी क्या विधि है ?

ग्रंथाकार आचार्यश्री कहते है कि आलोचना तप में अगर एकाशन करना हो तो एक जगह बैठकर भोजन करें। पश्चात् त्रिविध आहार का त्याग करना चाहिये। बाद में तिविहार होता है। (यानि कि केवल गरम पानी खुला रहता है।)

अब निविगय की विधि बताते हैः-

---

७६. जैनाआचार-देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ-१०२-१०३

७७. पंचाचार विशेष वर्णन के लिये देखेः-श्री नेमिचन्द्रसूरि विरचित प्रवचनसारोद्धार-भाग-१, गुर्जरभाषान्तर, पं. हिरालाल हंसराज,-गृहस्थ प्रतिक्रमण द्वार ६, पृष्ठ ७७ से ८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निविगय में विकार-वर्द्धक उत्कृष्ट द्रव्यों का त्याग करके, एक समय भोजन करे उसे निविगय कहा है।

उत्कृष्ट द्रव्य का लक्षण बताते हैः-

दूध, दही, घी, तैल, गुड़ और तली हुई चीजें ये छः द्रव्य को कई लोग विगय भी कहते है। अतः इन उत्कृष्ट द्रव्य का त्याग निविगय में होता है।

आयंबिल :-

आयंबिल तप करनेवाले को उबला एक अन्न और अचित्त पानी अर्थात् उबला पानी ही कल्पता है।आयंबिल में दो द्रव्य ग्रहण करने की विधि बतायी है। दंतशुद्धि के लिये सीली (तीनखा)का उपयोग कर सकते हैं।

उपवास विधि :-

उपवास में असण, खादिम और स्वादिम का त्याग, केवल अचित्त पानी पी सकते है। ऐसी विधि से उपवास करनेवाला परम पद-मोक्ष पद प्राप्त करता है। उपरोक्त आलोचना तप विधि बतायी गयी, इन सभी आलोचनातप में एकासन, आयंबिल, निविगय, उपवास आदि में रात्री के समय जलपान नहीं करना चाहिये। (९५ से १०८)

इस प्रकार उपरोक्त आलोचना तप विधि प्रकार बताये हैं। उन सभी से यह स्पष्ट है कि आलोचना तप वही साधक ग्रहण करता है, जिसका हृदय सरल हो और जिसमें दोषमुक्त होने की भावना हो। दोष चाहे कितना ही बड़ा हो या छोटा उसको दोष से बचाया जा सकता है, क्योंकि मूलतः आत्मा दोषी नहीं है। दोष प्रमाद व कषाय के कारण होता है। इसलिये दोषमुक्त होने के लिये उक्त आलोचना तप विधि की आवश्यकता है।

आलोचना तप विधि के पश्चात् आगे प्रश्न यह है कि कोई शुद्धात्मा अपने पापों की आलोचना के लिये स्वाध्याय करता है, तो वह स्वाध्याय किस प्रकार और कब करना चाहिये ?

आचार्यश्री कहते है कि जो शुद्धात्मा अपने पापों की आलोचना-विशुद्धि करने को चाहता है वह चार कालवेला को छोड़कर स्वाध्याय करें। चैत्र और आसोज की शुक्लपक्ष की सप्तमी, अष्टमी और नवमी इन तीन तिथियों में भी उपदेशमाला, पंचाशक, कर्मविपाक आदि ग्रंथों को नहीं पढ़ना चाहिये। (११०-११८)

स्वाध्याय मन को विशुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ प्रयास है। अपना अपने ही भीतर अध्ययन, आत्मचिंतन, मनन ही स्वाध्याय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय अंधकारपूर्ण जीवनपथ को आलोकित करने के लिये जगमगाता दीपक के समान है। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[७८]

महानिशीथसूत्र में कहा है :-

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं :-

वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ये पाँच भेद है।[७९]

तप के बारह भेद में दसवाँ भेद स्वाध्याय बताया है। स्वाध्याय करते समय उपरोक्त कालवेला के समय स्वाध्याय न करें। स्वाध्याय से कर्मरूपी रोग नष्ट होते हैं और आत्मा पूर्ण स्वस्थ तथा शुद्ध बनती है।

गाथा १०७ में उपवासविधि बतायी थी, उस विधि अनुसार कोई उपवास करने में अशक्त हो तो दूसरे ढंग से उपवासपूर्ति कर सकता है क्या ?

ग्रंथकार कहते है कि जो शुद्धात्मा उपवास करने में अशक्त है तो चार एकासनों से, अथवा तीन नीवियों से अथवा दो आयंबिलों से अथवा बारह पुरिमड्ढों से एक उपवास होता है। अगर ये भी नहीं कर सके कोई रोग आदि के कारण तो दो हजार श्लोक प्रमाण स्वाध्याय करके उपवास पूर्ण करना चाहिये।

महानिशीथ सूत्र में भी कहा है कि- जो शुद्धात्मा आलोचना निमित्त उपवास नहीं कर सकता है तो ४५ नवकारसी करने से, २५ पोरसी करने से, १२ पुरिमड्ढ करने से, दस अवड्ढ से, चार एकासना करने से, दो आंबिल से, तीन निवीसे या एक शुद्ध निर्दोष आयंबिल करने से एक उपवास की गिनती होती है।[८०]

आचार्यश्रीने हर प्रश्न का समाधान शास्त्रों का आधार लेकर दिया है ऐसा प्रश्नोत्तरों से प्रतीत होता है। अतः आप उस समय में आगमों के कितने बड़े ज्ञाता थे यह हमें आपकी कृतियों से जानने को मिलता है।

---

७८. महानिशीथसूत्र-गुर्जरछाया, सम्पा. मुनि दीपरत्नसागरजी ३/६०८, पृ.२७८

७९. प्रवचन सारोद्धार-गृहस्थप्रतिक्रमण-६, पृष्ठ-८०

८०. ता गोयमा णं पणयालाए नमोक्कार - सहियाणं चउत्थं चउवीसाए पोरुसीहिं बारसहिं पुरिमड्ढेहिं दसहिं अवड्ढेहिं तिहिं निव्वीइएहिं चउहिं एगट्ठाणगेहिं दोहिं आयंबिलेहिं एगेणं सुद्धत्थायंबिलेणं ॥

महानिसीहं गुर्जरछाया सम्पा. मुनि. दीपरत्नसागरजी अध्ययन ३, गाथा-६०२, पृ.२७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ६६ में द्विदल की चर्चा चली थी। आगे फिर प्रश्न उठा कि सांगरी और राई को द्विदल नहीं मानते, तो उनको द्विदल मानना या नहीं ?

आचार्यश्री कहते है कि राई भी तिल-सरसों के जैसे तेल छोड़ती है इसलिये गोरस में राई को द्विदल नहीं मानते, लेकिन चवले और चने द्विदल हैं। वैसे ही सांगरी भी द्विदल ही है, सांगरी के बीजों से तेल नहीं निकलता अतः सांगरी द्विदल है, राई द्विदल नहीं है। इसी प्रकार कडुक ग्वार आदि भी द्विदल हैं उसे कच्चे दूध, दही, और छाछ के साथ नहीं खाना चाहिये। (१३६-१४०)

आचार्यश्री ने द्विदल पर बहुत ही जोर दिया है। साथ ही बाईस अभक्ष्य विषय पर भी प्रकाश डालते हैं।

अनंत उपकारी, करुणा के सागर आचार्यश्री जिनदत्तसूरि गाथा १४१-१४२ में बाईस अभक्ष्य के बारें में बताते है कि श्रावक को इन बाईस [८१] पदार्थो का जीवन पर्यन्त सेवन नहीं करना चाहिये। आचार्यश्री ने मनुष्य के हित के लिए बाईस अभक्ष्य जो जैनदर्शन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय है उसका भी विवेचन किया है।

अंतिम श्लोक में ग्रंथकार उपसंहार करते हुए अपना परिचय देते हैं :-

इय कइवय-संसयपय-पण्हुत्त-पयरणं-समासेणं।
भणियं जुगपवरागम जिणवल्लभसूरि-सिसेण ॥१५०॥

इस प्रकार कई संशयग्रस्त प्रश्नों के उत्तररूप इस प्रकरण को संक्षिप्त रूप से युगप्रधान परमगीतार्थ श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज के शिष्य (श्री जिनदत्तसूरिजी) ने फरमाया।

संदेह दोलावली ग्रंथ के अन्तर्गत सुंदर प्रश्नों का समाधान आचार्यश्री ने गुरुगम और आगम सम्मत होकर किया हैं।

इस ग्रंथ में धर्म अधर्म का स्वरूप, पर्वतिथि को पौषध, तप, शिथिलाचारियों को वंदनादि का निषेध, आलोचना तप आदि का निरूपण किया गया है।

जो भी भव्यजीव आचार्यश्री के बताये मार्ग का अनुसरण करेगा, वह शाश्वत सिद्धि को प्राप्त करेगा।

***

---

८१. देखे- चैत्यवंदन कुलक में बावीस अभक्ष्य के विषय में प्रकरण ४ ब प्राकृत कृतियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक (''उत्सूत्रकुलकम्'')

''उत्सूत्रकुलकम्'' नामक ग्रन्थ युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी द्वारा रचित है। इसकी रचना के समय से सम्बन्धित कोई पूर्व निश्चित जानकारी उपलब्ध न होने से रचनासमय के बारे में कुछ निश्चिततापूर्वक नहीं कहा जा सकता है। परन्तु यह तो ध्रुव ही है कि बारहवीं शताब्दी की रचनाओं में ''उत्सूत्रकुलकम्'' का भी अपना स्थान है।

यह प्राकृत भाषा में रची गयी है। इसमें गाथाओं की संख्या ३० है। इसकी प्रथम गाथा में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। २ से ३० पद्य तक गाथा छन्द का प्रयोग है। भाषा की दृष्टि से लोकभोग्य एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है। सामासिक शब्दों का प्रयोग तो है परन्तु कठिनता से रहित है।

अगरचन्दजी नाहटा के अनुसार यह ग्रन्थ श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार से तथा धर्मसागरजी कृत ईयापथिकी ''षड्त्रिंशिका'' पृ.सं. ४० में आगमोदय समिति द्वारा सूरत से मूल कृति प्रकाशित हुई है। अनुवाद भी किया गया है।

जैसा कि कृति के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें कुछ विशिष्ट प्रकार के नियमों का संग्रह होना चाहिए। पुनः आचार्यश्री ने स्वयं इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्र सम्मत शुद्ध आचरण का पालन करने के लिये मार्गदर्शन ही इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। तदुपरान्त ''वसति वसहि'' का मत्तत्व स्थापित किया है। जो समाज के लिए अयोग्य है उस तरफ से दृष्टि ही दूर कर लेनी चाहिए।

अशास्त्रीय तथा उन्मार्ग में ले जाने वाली समस्त प्रवृत्तियों का त्याग होना चाहिए। भले ही उपचार से भक्ति का साधन प्रतीत होती हों, किन्तु जो अन्ततः पतित करनेवाली हैं, वे प्रवृत्तियाँ त्याज्य ही हैं। इस प्रकार इस मार्ग में जो साधु एवं साध्वी तथा श्रावक, श्राविकाओं के लिए हर तरह से उपयोगी एवं पथप्रदर्शक है उन्हें ही इसमें ग्रहण किया गया है। पुनः विषय वस्तु के निरूपण के द्वारा इसका पूर्ण स्पष्टीकरण किया जायगा। जो निम्न प्रकार होगा।

जिन चैत्यों में निम्नालिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि निम्न क्रियाएँ उत्सूत्र हैं। जिन्हें आचार्यश्री ने वर्जित माना है।-

एयंमि हुस्सुत्तं पुण जुवइपवेसो निसाइ चेइहरे।
रयणीए जिणपइट्ठा पण्हाणं नेवेज्जदाणं च ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्रि में वर्जित कर्मो को गाथा सं. ४ के द्वारा इस प्रकार बताया गया है :-

जिन प्रतिष्ठा, स्नान करना, नैवेद्य चढ़ाना, दान देना, आदि श्रेष्ठ कार्य रात्रि में नहीं होने चाहिए।

(१) रात्रि के समय नारियों एवं विशेष करके नवयुवतियों का चैत्यों में प्रवेश निषिद्ध माना गया है। क्योंकि इसके द्वारा चैत्यवासियों के पतन की भूमिका कभी भी तैयार हो सकती है।

(२) कार्तिक अमावस्या को पश्चिम रात्रि में वीर प्रतिमा को स्नान एवं पूजा विधि सम्पन्न होती है। चैत्य में वाजिन्त्र, नृत्य,गीत, लगुड रास (डांडिया रास), रासड़ा, शासन देव का डोला (अर्थात् हिचका)देना, जल क्रीड़ा करना आदि जो नर-नारियों द्वारा किये जाते हैं वे सभी कार्य चैत्य में नहीं होने चाहिए। भक्ति के अभिगमों पर यदि ध्यान दिया जाय तो उपरोक्त सारे साधन बाह्य एवं विकारी प्रतीत होते हैं। विकार अर्थात् संत भगवन्तों के भक्ति मार्ग का अवरोधक। सभी शारीरिक विकारों के साथ केवल चक्षु और श्रोत्र के विकार मात्र ही रह जाते हैं। उनके द्वारा प्रभुभक्ति सम्पन्न नहीं हो सकती है। अतः संयम के स्थान पर उत्तेजक सामग्रियों का सात्विकता की दृष्टि से परिहार होना चाहिए। (१-१५)

पूजा का सर्वसामान्य अर्थ तो होता है कि आदर, सम्मान तथा नियमपूर्वक समर्पण भाव। परन्तु धार्मिक नियमों को धर्म एवं सम्प्रदाय के आधार पर सभी धर्मों ने अपने ढंग से बनाया है। यहाँ पर जब हम चैत्यवास की चर्चा कर रहे हैं तो उसी से सम्बन्धित नियमों को ध्यान में रखकर वर्णन करेंगे। इसलिए 'उत्सूत्र कुलक' में पूजा सम्बन्धी नियमों का वर्णन कुछ इस प्रकार है-

आरत्तियमेगजिणिंदपडिमपुरओ कयं न निम्मल्लं।
परिहाविज्जइ जेणं वत्थेणं तमवि निम्मल्लं॥ २१॥
आरात्तियमुवरिजलं भामिज्जइ तह पयत्तओ पूअं।
तम्मि य जमुत्तरंते तदुवरि कुसुमंजलिक्खेवो॥ २२॥
आरत्तियं धरिज्जइ जयंतरालेऽवि उत्तरंतं तु।
कीरइ नट्टं गीयं वाइयमुवगीय नट्टं च॥ २३॥

जिनेश्वर भगवान की आरती के विषय में बताया गया है कि- प्रथम आरती निर्माल्य नहीं होती परन्तु धारण किया हुआ वस्त्र निर्माल्य (अर्थात् दुबारा नहीं चढ़ाये जाते है।) हो जाता है। आरती प्रज्वलित करके पुण्यदोष के द्वारा उसकी गन्धादि द्रव्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पूजा की जाती है। आरती घुमा लेने के बाद गीत, उपगीत, नृत्य, नाटक एवं कीर्तनादि सुकृत्य किये जाते हैं। जिससे वातावरण परिशुद्ध होता है।

कप्पइ न लिंगिदिव्वं तिहिजिणभवणम्मि सव्वहा दाउं।
सासणसुराण पूया नो कायव्वा सुदिट्ठीहिं॥ २५॥
पव्वज्जागहणुट्ठावणाइ नंदीय वि कीरइ निसाए।
नमिविवाहक्खाडयरहचलणा रायमइ सोगो॥ २६॥

विधि जिनभवन में लिङ्ग द्रव्य (साधु का द्रव्य)नहीं देना चाहिए। सम्यक् दृष्टिवाले श्रावक को जिनभवन में शासनदेव की पूजा नहीं करनी चाहिए। प्रव्रज्याग्रहण, अनुष्ठानादि में नंदी की रचना रात्रि में नहीं करना चाहिए। नेमिविवाह, अखाड़ा वर्णन, रथचलन, राजीमती शोक आदि कार्य जिन भवनों में वर्जित है। अतः इन कार्यों को न करना चाहिए।

गृहस्थों के कर्मो को संक्षेप में वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

पुत्तिं विणावि गिहिणो कुणंति चेलंचलेण किइकम्मं।
पाउरणेणं खंधे कहण जइणो परिभमन्ति॥ २८॥

गृहस्थ लोग मुहपत्ती बिना वस्त्र के आँचल से कृति कर्म कर सकते हैं। कन्धे पर पागरणी (साधु सन्तों के द्वारा उपाश्रय में ओढ़ी जानेवाली छोटी चादर पागरणी कहलाती है)रखकर साधुलोग भ्रमण करते हैं।

प्रस्तुत कृति में चैत्यवासियों की उत्सूत्र बातों का उल्लेख करते हैं। तदुपरान्त आचार्यश्री का कहना है कि जो जिनदत्त आज्ञा को मानते हैं वे विधिमार्गानुयायी एवं जिनसूत्रानुयायी होने से उक्त उत्सूत्र मार्गों का आचरण नहीं करते हैं क्योंकि उत्सूत्र लेशमात्र आचरण भी महान अनर्थ का कारण होता है।

श्रावकों के आचार-मूलक जीवन पर इस कृति के द्वारा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत कृति का "उपदेश रसायन रास" में भाव साम्य द्रष्टव्य है।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. उपदेशकुलक

उपदेशकुलक में ३४ पद्य हैं और गाथा छंद का प्रयोग किया गया है। यह कृति प्रकाशित है। इसका अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।[८२]

उपदेशकुलक के रचनाकाल के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस कुलक के अन्तर्गत आचारांगसूत्र का स्वरूप, युगप्रधानों के नाम, स्वरूप तथा उनके कार्यों का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत उपदेशकुलक में सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में सर्व भयों से रहित भगवान महावीर स्वामी को वंदन करके तत्पश्चात् युगप्रधान पुरुषों और गुरुभगवंतों की संख्या का प्रमाण और उनका स्वरूप बताया गया है।

जैनदर्शन में ग्यारह अंग बताये गये हैं, उसमें प्रथम अंग आचारांगसूत्र है। इसके अन्तर्गत युगप्रधानों का वर्णन करने का संकलन दूसरी गाथा में है।

तीर्थंकर भगवंतों को केवलज्ञान होने के पश्चात् वे द्वादशांगी का प्रवचन देते हैं। उस प्रवचन को गणधर ग्रथित करते हैं (गुंथते हैं), उसी द्वादशांगी का भव्यजन श्रवण कर, आचरण करके परमपद मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

अब आचारांग सूत्र का वर्णन करते हैः-

अट्ठारस पय सहस्सोवसोहिए पवरपंचचूलियाओ।
पढमंगे सेसेसुं पय-संखा दुगुण-दुगुणाउ॥ ६॥

आचारांग प्रथम सूत्र है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन है, इनमें से सातवाँ अध्ययन वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पाँच चूलिकाएँ है, इनमें से चार चूलिकाएँ आचारांग में हैं और पाँचवी चूला "निशीथ" के नाम से प्रसिद्ध है। आचारांग सूत्र में श्रमणों के लिए आचारसंहिता प्रस्तुत की गई है, वह बहुत उग्र है। इस तरह आचारांग में आचार का गहराई से विश्लेषण हुआ है। हुण्डा अवसर्पिणी दुषमकाल में जब भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ था, उस समय भस्मग्रह लगने के कारण, उस समय के साधु-साध्वी की जीवन-चर्या बताते हैं।

८२. (अ) युगप्रधान जिनदत्तसूरि, अगरचंदजी नाहटा, मूल प्रकाशित, पृ.९१
(ब) कुशल निर्देश, मूल और अनुवाद, वर्ष-२, अंक-५, पृष्ठ ३४ से ३९

आचारांग सूत्र में अढारह हजार पद हैं, उसकी पाँच चूलिकाएँ हैं, शेष अंगों की पद-संख्या आचारांग से उत्तरोत्तर दुगुनी होती हैं।
यह बात सभी अंग उपांगादि में बतायी है। (६-७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के साढे बारहसौ वर्ष पश्चात् भस्म राशी के प्रभाव से शिथिलाचारी साधु होने लगे, यथार्थ मार्गस्थ साधु विरले ही दिखाई देते थे।

ये शिथिलाचारी साधु शास्त्ररचना भी करते थे। पर वे शास्त्रोक्त बातों से अनभिज्ञ थे, इसलिए वे विविध भोजनार्थी साधु श्रावकों के पिछलग्गू होते थे। ये शिथिलाचारी षट्-काय जीवों की विराधना हिंसा करने लगे और श्रुत का नाश होने लगा। असत्शास्त्रों का अभ्यास करने लगे। ये सुखशीलिए अर्थात् शिथिलाचारी साधु चैत्यवास-मठवास में रहने लगे। गृहस्थों के गृहवास में रहने लगे। गीतार्थ गुरुओं की आज्ञा से बाह्य और दुष्कर क्रियाशील होने पर भी सूत्र व उसके अर्थ में शंका करनेवाले और गुरु पारतन्त्रय (अर्थात् गुरु संरक्षरता से रहित)रहित उत्सूत्रों का भाषण करने लगे, मिथ्यात्वी और चारित्रगुणों से रहित होने लगे, गुणवान श्रावकों की उपेक्षा करने लगे, इस प्रकार ये शिथिलाचारी साधु बढ़ने लगे। ये ऋषिघातक, गौ घातक, बालघातक पापकर्त्ता से भी अधिक पापी अर्थात् इनकी हत्या करने से जो पाप लगता है, उससे भी अधिक पापी शिथिलाचारी साधु हैं। जो उपरोक्त आचरण करते हैं, वे पापी जीव भयंकर भवार्णव में कोटाकोटी सागरोपम जैसे दीर्घकाल तक मर मर के भ्रमण किया वह तो मात्र उत्सूत्र की आंशिक प्ररूपणा जनित कटु विपाक है। (८ से १८)

इस हुण्डा अवसर्पिणी काल में असयंतपूजा और भस्मराशी ग्रह के प्रभाव के कारण शास्त्रोक्त क्रिया एवं आचार का पालन करनेवाले सुसाधुजन अत्यल्प होने लगे और वेषधारी पार्श्वस्थ-कुशील आदिको की बहुलता बढ़ने लगी। चैत्यवास का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा।

ये चैत्यवासी जिनशासन और प्रवचन के लिए असमाधिकारक होंगे और स्वयं के लिये अकल्याणकारी होंगे। ये शिथिलाचारी असत्शास्त्रों का पठन पाठन करते है, मंदिरों में निवास करते हैं, सिद्धान्त शास्त्र विपरीत आचरण करते हैं। ऐसे शिथिलाचारी समाज को भी उसी गड्ढे में धकेलते हैं जिससे इनके भव-भ्रमण की वृद्धि होगी।

इस प्रकार चैत्यवासी शिथिलाचारियों की मान्यता शास्त्रविरुद्ध होने से त्याज्य और निन्द्य है। वे चैत्यवासी अनन्तकाल तक भवभ्रमण करते रहते हैं। ऐसे चैत्यवासियों का सहवास भी त्यागने योग्य जिनागमों में बताया है।

इस काल में कितने युगप्रधान आचार्य होंगे, उनकी संख्या बताते है :-

इत्थं चायरियाणं पणपण्णं हुं कोडि लक्खाउ ।
कोडि सहस्से कोडि सयए य तह एत्तिए चेव ।। १९ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस काल में पचपन करोड़ लाख, पचपन करोड़ हजार और पचपन करोड़ सो आचार्य होंगे।[८३]

उनमें से कितने तो तीर्थंकर सदृश गुण निष्पन्न आचार्य होंगे। सुधर्मास्वामी से लेकर अन्तिम दुःप्रसह साधु पर्यन्त (इक्कीस हजार वर्ष के दीर्घकाल में) २००४ युगप्रधान आचार्य होंगे।

ये युगप्रधान आचार्य चन्द्र समान मुखवाले, मधुर वाणी वाले, सर्व सूरियों में श्रेष्ठ होंगे।

अतः युगप्रधान आचार्यों की, तीर्थंकरों की विनयपूर्वक सेवा करके उनके बताये मार्ग पर चलकर भव्यजीवों को आत्मसाधक बनना चाहिये। (१९ से २४)

युगप्रधान आचार्यों के स्वरूप का वर्णन करते हैं:-

युगप्रधानाचार्य रागद्वेष से रहित होकर, आगमोक्त आचरण करते हैं, ये स्व और पर का कल्याण करते हैं, सद्गुओं का पारतन्त्र्य (संरक्षता)धारण करते हैं, विधि मार्ग का पालन करते हैं, गुणनिष्पन्न चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका)का सन्मान करते हैं, निर्भयतापूर्वक सत्य वचनों का उपदेश देते हैं, जिनेश्वर और गणधरभाषित मार्ग का (प्ररूपणा)उपदेश देते हैं। ऐसे युगप्रधानाचार्य सौम्य, मधुरभाषी, सर्वथा निष्कलंक, नित्यपरोपकारी, वय की अपेक्षा तरुण होने पर भी गुण वृद्ध और ज्ञानवृद्ध होते हैं। ऐसे युगप्रधानाचार्य के समय में उन्मत्त वादीरूपी अन्धकार का नाश होता है, यदि उनके समक्ष उन्मत्त वादी उपस्थित हो तो भी सम्यग्दर्शन में जरा भी बाधक नहीं हो सकते।

सूर्यास्त होने पर अन्धकार फैलता है और तारे चमकने लग जाते हैं, वैसे ही युगप्रधानाचार्य के दिवंगत होने पर अज्ञानरूपी तिमिर(अन्धकार) फैल जाता है।

उपदेशकुलक के अन्तिम श्लोक में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जिनेश्वरदेवों द्वारा उपदिष्ट सुंदर मुक्ति मार्ग के प्रवासी युगप्रधानाचार्यों का स्वरूप निहित परिमाण "महानिशीथसूत्र" में कहा है। गाथा ३५ के अन्त में रचयिता का नाम "जिणदत्त"[८४]

८३. मूलमहानिशीथ सूत्र-सम्पा. मुनि दीपरत्नसागर-५/१७, पृ. ६४
"एत्थं आयरियाणं पणपन्नं होंति कोडि लक्खाओ।
कोडि सहस्से कोडि सए य तह एत्तिए चेव॥" -गाथा १७

८४. इस कुलक के अन्तिम गाथा के अनुसार जिनदत्तसूरिजी ने महानिशीथसूत्र के आधार पर युगप्रधानाचार्य का स्वरूप वर्णित किया है। इसलिये इस कुलक का नाम "युगप्रधानाचार्य कुलक" होना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी स्पष्ट परिलक्षित है।

इस कुलक के माध्यम से सुधर्मास्वामी से लेकर अन्तिम युगप्रधान दुःप्रसह साधु तक युगप्रधान आचार्य की संख्या का निरूपण किया गया है। तथा शिथिलाचारी साधुओं की जीवनचर्या का और युगप्रधानाचार्य के स्वरूप का सुंदर निरूपण किया गया है। उपदेशकुलक में चैत्यवासियों के प्रति विद्रोहात्मक विचारों को क्रियान्वित किया गया है।

***

१३. शान्तिपर्व विधि

देवाहिदेव पूजाविहि इमो भवियणणुग्गहट्ठाए।
उपदिशति श्री जिनदत्तसूरिभिरामनायतः सद्गुरोः ॥

(ग्रंथाग्र. २६९)

आचार्य जिनदत्तसूरि रचित शान्तिपर्व विधि का हमें केवल एक श्लोक प्राप्त है, वह प्रकाशित है।[८५]

विषय-वस्तु :-

आचार्यश्री ने इस अन्तिम श्लोक में स्वनामोल्लेख किया है। इसमें देवाधिदेव की पूजा विधि वर्णित है।

अन्तिम श्लोक का अनुवाद :-

'भविजनों के उत्कर्ष हेतु यहाँ देवाधिदेव की पूजा में ''जिनदत्तसूरि'' द्वारा सद्गुरु की आम्नाय उपदिष्ट की जाती है।'

प्रस्तुत श्लोक से मालूम होता है कि शान्तिपर्व विधि स्तोत्र में पूजा-विधि सम्बन्धी यह स्तोत्र हो ऐसा उक्त श्लोक से ज्ञात होता है। अन्तिम श्लोक में ग्रंथाग्र संख्या २६९ लिखा है, इससे मालूम पड़ता है कि यह स्तोत्र बड़ा होना चाहिए। इस स्तोत्र के अन्तिम श्लोक की प्रथम पंक्ति प्राकृत भाषा में तथा द्वितीय पंक्ति संस्कृत में है। अतः यह कृति प्राकृत भाषा में होनी चाहिये ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं।

***

---

८५. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.१११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. वाडिकुलकम्

प्राकृत भाषा में रचित है। इसमें २४ पद्य है, गाथा छन्द का प्रयोग किया गया हैं। रचनाकाल के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। यह अप्रकाशित कृति है।परिशिष्ट में मूल एवं अनुवाद क्रमांक-४ पर दिया जा रहा है। [८६]

वाड़ीकुलक कृति में आचार्यश्री ने बताया है कि जीवन में धर्म संरक्षण के लिये कोई न कोई संरक्षक होना चाहिए। अनादिकाल से सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। सुरक्षा शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। सुरक्षा चाहे राजा एवं राज्य से सम्बन्धित हो, देश काल एवं वातावरण से हो, अधर्म से धर्म की हो, दुर्जनों से सज्जनों की हो, वनस्पतियों की पशु से हो, शिष्यों की गुरु से हो अथवा मन्त्रों की दुरुपयोग से हो- अपितु सुरक्षा महत्वपूर्ण है।

राज्य की रक्षा (१) राजा (२) मंत्री, (३) मित्र, (४) कोष, (५) दुर्ग, (६) खाई, (७) और सेना से होती है। एवं सुंदर बगीचों में पल्लवित एवं पुष्पित होनेवाले वृक्षों एवं पौधों की सुरक्षा के लिये माली एवं वाड़ (चार दीवार, तार की वाड़)की व्यवस्था की जाती है। ये सब चीजें तो लौकिक है, तो पारलौकिक अर्थात् भव से छुटकारा पाने के लिये धर्म की सुरक्षा हेतु भी विभिन्न वाड़ों की व्यवस्था आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने अपनी कृति "वाड़ीकुलकम्" में इस प्रकार बताई है :-

तीर्थंकर और युगप्रधानाचार्य ये दोनों सर्वश्रेष्ठ वाड़ के समान हैं, जो पर्वत की भांति प्रलयकाल में भी अपने स्थान से चलायमान नहीं होते हैं। दूसरे धर्माचार्य, वाचनाचार्य, प्रवर्तक स्थविर, साधु-साध्वी ये सभी कंटक वाड़ समान हैं। कंटकवाड़ी के बिना वृक्ष शुभ फल प्राप्त नहीं करते इसी तरह गुरु के लिए भी संरक्षकरूपी वाड़ होनी चाहिए।

प्रसन्न चित्त, अप्रमत्त, सुविहित, शांत और शिष्य-परम्परा से युक्त सद्गुरुरूपी वृक्ष उपदेशस्वरूप सुंदर फल देनेवाले होते हैं। ऐसे सद्गुरु की निश्रा प्राप्त करके अपने आप को बचाना चाहिये।

---

८६. इसकी प्रति पाटण के भण्डार में प्रति नं. ३८९४ में से प्राप्त की है। इसी प्रति पर से शुद्धि करके एवम् सम्पादन करके परिशिष्ट में कृति दी जा रही है। साथ ही साथ हिन्दी अनुवाद भी परिशिष्ट में दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये प्राणी को जीवन में सद्गुरुरूपी वाड़ का सेवन करके, उनका उपदेश आचरण में लाकर मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिये।

आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने इस वाड़ीकुलकम् के माध्यम से यह बताया हैं कि प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन में सद्गुरु रूपी वाड़ अर्थात् सद्गुरु की शरण स्वीकार करके स्वरक्षा एवं आत्मकल्याण करना चाहिए।

***

१५. आरात्रिक वृत्तानि

१२ प्राकृत पद्यों की यह रचना का शीर्षक श्री अगर चंदजी नाहटा ने 'आरात्रिक वृत्तानि' दिया है। कृति उन्होने ही प्रकाशित की है।[८७]

प्रकाशित कृति का पाठ अत्यंत भ्रष्ट होने से उसका अविकल अनुवाद देना संभव नहीं है। किन्तु उस में आरात्रिक याने आरती के रूपक द्वारा बोध दिया गया है।

भाववाही वसंततिलका छंद में बद्ध यह लघु कृति सरस है।

उदाहरण स्वरूप प्रथम गाथा देखें-

लोणेण पिछिय सु(?)नाण सलोणयत्तं,
मत्तो परो वि किमिहत्थि जणे सलोणे।
अप्पा जलंत जलणस्स सुहम्मि खित्तो,
खारानियोनय(?) तहा विहु तेण चित्तो ॥ १ ॥

***

८७. युगप्रधान जिनदत्तसूरि-अगरचंदजी नाहटा, पृ.१०९-११०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) अपभ्रंश कृतियाँ

१. उपदेश रसायन रास

उपदेश रसायन रास अपभ्रंश भाषा में रचा गया हैं। सम्पूर्ण रास में ८० पद्य है, इसमें पद्धटिका (पद्धडिया) छन्द का प्रयोग किया गया हैं। डॉ. दशरथ ओझा के मतानुसार सं. ११७१ में उपदेश रसायन रास की रचना हुई।[१]

उपदेश रसायन रास संभवतः उपलब्ध जैन रासग्रंथों में सबसे प्राचीन है। इस रास में पद्धटिका छन्द का प्रयोग किया गया हैं जो "गीतिकोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयते इति" के अनुसार सभी रागों में गाया जाता है। इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "उपदेश रसायन रास" को जैन परम्परा की प्रारंभिक प्रवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है।[२] उपदेश रसायन रास पर अनेक वृत्तियाँ रची गई हैं और मूल सह संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद किये गये हैं।[३]

श्री जिनदत्तसूरिजी का जैन धर्म में अवतरण बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध अर्थात् संवत् ११३२ में हुआ। उस समय देश की राजनैतिक स्थिति तो खतरे में थी ही इसके साथ-साथ तत्कालीन वातावरण भी अत्याधिक कलुषित हो चुका था। राजा लोग छोटी-छोटी रिसायतों से जुड़ गये थे। देश छोटे-छोटे टुकडों में विभक्त हो चुका था। सुरा और सुन्दरियों के लिए आपसी विद्रोह बढ़ जाता था। ऐसे समय में जो राजा लोग अपनी ही व्यवस्था में सतत लगे रहते थे वे प्रजा की व्यवस्था के विषय में यदि सोचें भी तो कैसे ? अर्थात् राजनैतिक परिस्थिति बिगड़ चुकी थी। राजाओं का असर मात्र प्रजा पर ही नहीं पड़ता है, वह असर तो सर्वग्राही होकर चारों दिशाओं में सब तरह से फैलने लगता है।

---

१. रास और रासान्वयी काव्य-डा. दशरथ ओझा-पृ.३

२. वही, पृ.४८

३. (अ) प. पू. जिनपतिसूरिजी के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने वि.सं.१२९२ में संस्कृत छाया लिखी हैं। अपभ्रंश काव्यत्रयी में यह टीका प्रकाशित है।

(ब) अपभ्रंश काव्यत्रयी- मूल सह संस्कृत छाया पृ. २१ से ६६ - ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा

(ग) चचर्यादि ग्रंथ संग्रह-भाषान्तरसह-आचार्य जिनहरिसागरसूरिजी वि.सं.२००४ सूरत, पृ.१९ से ४३

(घ) रास और रासान्वयीकाव्य-डा. दशरथ ओझा, पृ. ४३३ से ४४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कलुषित वातावरण से तत्कालीन धार्मिक वातावरण अछूता न रह सका। उस समय जैन धर्म का प्रचार प्रसार तो जोरों पर था परन्तु उसमें विभिन्न प्रकार की विकृतियाँ आ चुकी थीं।

उस समय में चैत्यवासी श्रावक-श्राविकाओं द्वारा प्रचलित व अनुसृत अविधि मार्ग अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था। जैन धर्म में विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ प्रविष्ट हो चुकी थी। जैन मुनि अधः पतन के मार्ग पर चलने लगे थे। चैत्यवास तो बहुत पहले से प्रचलित हो चुका था परन्तु आपके आने के समय तक अपनी चरमसीमा तक पहुँच गया था।

चैत्यवास करनेवाले मुनि लोग पूजा करते थे; देवद्रव्य का उपयोग करते थे। देवालय एवं पाठशालाओं को बनवाते थे। शरीर को अंगरागादिक सुगन्धित द्रव्यों से विभूषित कर नृत्य-गान के समय अपनी मर्यादा का भी उल्लंघन कर जाते थे। ज्योतिषियों का काम करने लगे थे परन्तु सच्चाई एवं परोपकार की भावना से नहीं। लोगों के खुशामदी की प्रथा भी चल पड़ी थी। इन बाह्याडम्बरों के साथ चैत्यवासी मुनि लोग व्यापार में भी प्रवृत्त हो चुके थे। इतना ही नहीं चैत्य एवं मठों को अपनी सम्पत्ति मानने लगे थे। उसके उत्तराधिकारी अर्थात् शिष्य बनाने के लिए अबोध बालकों का क्रय भी करते थे।

तत्कालीन चैत्य एवं मठवासी साधु व मुनि लोग तन्त्र-मन्त्र की प्रक्रिया भी करते थे एवं लोगों को भयभीत भी करते थे। लोगों में इनका वर्चस्व "दिन दूना रात चौगुना" के हिसाब बढ़ रहा था। पश्चिम भारत में तो कहना ही क्या था चैत्यवास एवं उसके प्रभाव से सिवा कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता था। संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि उस समय धर्म के नाम देश की धार्मिक दशा अत्यन्त बिगड़ चुकी थीं।

ऐसी विषम परिस्थितियों में "दादा श्री जिनदत्तसूरिजी" का जैनधर्म में अवतरण उस प्रकार हुआ जैसे-आकाश में चारों ओर काले घने बादल छा गये हों, वर्षा की तैयारी हो और कोई प्रचंड 'तूफान' आकर सबको उडा ले जाय-ठीक वैसे ही दादीजी आये और बाह्याडम्बर एवं कदाचाररूपी धार्मिक बुराइयों को उड़ा ले गये। इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आपको कठिन परिश्रम एवं कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में आपने उपदेशात्मक कई कृतियों की रचना की। इनमें "उपदेश रसायन" का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उपरोक्त कृति की रचना बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध समय निश्चित् है।

''युगप्रधान दादा श्री जिनदत्तसूरिजी''तत्कालीन सभी भाषाओं से परिचित ही नहीं अपितु सम्यक् ज्ञानयुक्त थे अथवा यह कहा जाय कि आप तत्कालीन भाषाविद् भी थे। प्रश्न यह उठता है कि संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के पूर्ण ज्ञान के बावजूद भी आपने अपनी रचनाओं के लिए प्राकृत एवं अपभ्रंश को क्यों चुना ?

उत्तर बिलकुल सीधा एवं सरल है कि तत्कालीन प्रजा की भाषा में यदि कोई उपदेश दिया जाय तो ही वह लोक-भोग्य बन सकता है। वहाँ तो विद्वत्ता दर्शाने की आवश्यकता नहीं। उस समय की सीधी एवं सरल भाषा-अर्थात् प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के सहारे ही लोगों को सही मार्ग प्रदर्शन की आवश्यकता थी। क्योंकि ''सर्वोपरि भाषा वही है जो लोक-भोग्य है।''

इस प्रकार तत्कालीन वातावरण एवं परिस्थिति को देखते हुए आपने अपनी कृतियों के लिए प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं को सर्वश्रेष्ठ माना।

यहाँ ''उपदेश रसायन'' को ''अपभ्रंश''भाषा में रचकर आपने प्रजा एवं जैन धर्म को जो उत्तम योगदान दिया है उसके लिए यह समाज हमेशा ऋणी रहेगा। क्योंकि वह लोक-भोग्य होने के कारण सामान्य जन समुदाय भी आपके प्रदर्शित एवं उपदेशों पर चलकर एक उन्नत और सुदृढ़ धर्मयुक्त समाज की रचना कर सकता है।

''उपदेश रसायन'' कृति एक रास प्रकार का काव्य है।

रास के उद्भव एवं विकास पर विचार करने से मालूम होता है कि-यह रास अथवा रासो अपभ्रंश भाषा का ही सुपरिचित शब्द है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो रास शब्द का प्राचीनतम उल्लेख इसु की दूसरी शताब्दी के आस-पास की रचना हरिवंश पुराण में प्राप्त होता है। इससे पहले की रचना भासकृत बालचरित में हल्लीसक का उल्लेख है जो रास का एक प्रकार है।

इस प्रकार पुराण ग्रन्थों में ब्रह्मपुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण आदि में, काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अभिनवगुप्त की भरतनाट्यशास्त्र की टीका में, भामह के काव्यालंकार में, भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण में, शारदातनय के भावप्रकाश में और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में रास का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं रास के साथ हल्लीसक, छालिक्य, रासक्रीडा, रासगोष्ठि, रासनृत्य आदि शब्द भी मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिवंश पुराण के दूसरे पर्व के ८९ वें अध्याय में प्रारम्भ के २२ श्लोक में रास का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। इन श्लोकों में बलराम और रेवती की क्रीड़ा का वर्णन है। उसमें रास शब्द सातवें और बाइसवें श्लोक में है। इस प्रकार रास अर्थात्-हरिवंश पुराण-के उल्लेखानुसार-

(१) "वाद्य संगीत तथा संकीर्तनात्मक कथागीत के साथ हाथ से ताली देकर मनोहर ढंग से और हावभाव के साथ विविध भाषा, आकृति-वेश से युक्त होकर किया जानेवाला ललित नृत्य अर्थात् रास" [४]

(२) ई.स.तीसरी-चौथी सदी के महाकवि भासरचित बालचरित नाटक में भी "दामोदर कृष्ण गोपियों के साथ हल्लीसक खेलने आते हैं।"

(३) हरिवंशपुराण के बाद ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में भी 'रास' और-'रासगोष्ठि'शब्द का उल्लेख मिलता है।

"रास के लिए उत्सुक कृष्ण गोपियों ने शरद की मनोरम चाँदनी का आनन्द प्राप्त किया।"[५]

इसके बाद आठवीं शताब्दी में रचित अग्निपुराण में हल्लीसक एवं रासक ऐसे दो शब्द देखने को मिलते हैं।

(३) भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की टीका के रचयिता अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती ग्रन्थ-१ अध्याय-४ की कारिका २६८-२६९ के उल्लेखानुसार-

"जो नृत्त गोलाकार हो, जिसमें एक ही नायक हो जैसे कि-कई गोपियों में एक हरि उसे हल्लीसक कहते हैं।" तथा "चित्रविचित्र ताल और लयवाली अनेक नर्त्तकियों के द्वारा योजित ६४ युगलोतक सुकोमल और उद्धत प्रयोगवाला नृत्त अर्थात् रासक"[६]

---

४. *चक्रर्हं सन्त्यश्च तथैव रासं तद्देशभाषाकृतिवेषयुक्ताः।*
सहस्रतालं ललितं सलीलं वरांगनामंगलभूताश्चायः॥
हरिवंश पुराण-पर्व-२, अध्याय८९, श्लोक-७

५. *गोपी परिवृत्तो रात्रिं शरच्चन्द्र मनोरमाम्।*
मानयामास गोविन्दो रासारम्भे रसोत्सुकः॥ ब्रह्मपुराण अध्याय-८१, श्लोक-२१.

६. अभिनव भारती अध्याय-४, ग्रन्थ-१
मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमितिस्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् नोवस्त्रीणां यथा हरिर्द्वं॥ २६८॥
अनेकनर्त्तकीयोग्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुः षष्टि युगलाद् रासकं नसृणोद्वतम्॥ २६८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) रास की दो व्याख्याएं शारदातनय केभावप्रकाश के नवम अधिकार में दी गइ हैं उसके अनुसार-

''सोलह, बारह अथवा आठ नायिकाएं पिंडीबंध आदि विन्यास से नृत्य करें उसे रासक कहा जाता है ॥ ''[७]

दूसरी व्याख्या के अनुसार- ''क्षीर समुद्र में से प्राप्त अमृत का पान करके देवोने लताभेद्यक नृत्त तथा पिंडी श्रृंखलायुक्त भिन्न-भिन्न वाद्यों तथा लय ऐसे दो भेद से अलंकृत चारों तरफ से मंडलयुक्त होकर नृत्य किये उसका नाम रासक है।''[८]

(५) कुछ विद्वानों के अनुसार-''रसपूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई'' अपने मत के समर्थन में वे शालिभद्रसूरि विरचित ''पञ्च पाण्डवचरित रास''का उदाहरण देते हैं।

''रासि रसाउलु चरिउ थुणीज्जइ ॥''

(६) श्री प्रभुदास मित्तल रास की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि-

''रसानां समूहो रासः''[९] अर्थात् रस का समूह ही रास है।

श्री पोपट लाल शाह की भी यही धारणा है।

(७) ''निस्संदेह रास रसमय और रोचक काव्य का स्वरूप था। इसी से जैनों ने रसमयी वाणी में धर्मोपदेश देने के लिए ''रासा''की रचना की।''[१०]

(८) श्री के. का. शास्त्री जी 'रास'शब्द की उत्पत्ति पर विचार करते हुए अपनी पुस्तक ''गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन'' में लिखते हैं-

---

७. *षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।*
पिण्डीबन्धादिविन्यासे रासकं तदुदाहृतम् ॥

भावप्रकाश, अधि-८, पृष्ठ२६३.

८. लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणैः पीत्वमृतम् यस्तदा।
चारीखण्डसुमण्डलैरनुगतः सोऽमतो रासकः ॥

शारदातनयकृत भावप्रकाश, अधिकार, ९, पृ. २६५

९. जैन काव्य दोहन-प्रस्तावना-पोपट लाल शाह-पृ. ७

१०. मध्यकाल मां साहित्य प्रकाश-डा. चन्द्रकान्त मेहता, पृ. ३०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत भाषा में मूल धातु 'रस्'है। जिसका अर्थ है ''गर्जन करना'' तत्पश्चात् प्रशंसा करना। गर्जन करने के परिणाम से मेघ से प्रस्फुरित प्रवाही जल के अर्थ द्वारा यावत् प्रवाही पदार्थों का वाचक 'रस' शब्द बना। तदुपरान्त आस्वाद वाचक और इसमें से कविता के रसो में परिणित हुआ। इस धातु से संस्कृत में एक रस् धातु चिल्लाना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस धातु से ''रास'' शब्द बना।[११]

(९) अन्यत्र श्री के. का. शास्त्री के मतानुसार-

''रास अथवा रासो संज्ञा सुनते ही किसी गेय प्रकार की धर्मचरित मूलक रचना रास के रूप में और ऐतिह्यमूलक प्रबन्धात्मक रचना रासा के रूप में कही जा सकती है।''

व्युत्पत्ति की दृष्टि से-के .का. शास्त्री के अनुसार- ''रास'' यह तो रास शब्द के प्रथमा विभक्ति एक वचन का अपभ्रंशकालीन रूपमात्र है। ''रासो'' यह अन्त स्वरवाला ''रासकः-रासओ-अप. रासउ ''द्वारा निष्पन्न रूप हैं।[१२]

इस प्रकार के. का. शास्त्री की दोनों परिभाषाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि-

हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार रासो नाम क कृतियाँ दो प्रकार की हैं। एक तो गीत नृत्य परक हो। और दूसरी छन्द वैविध्य परक हो। नृत्यगीतपरक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात में विशेष रूप से समृद्ध हुई और छन्दवैविध्यपरक धारा पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रवेश में अधिक विकसित हुई।[१३]

इन सब उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि-

अ- आरम्भ काल में रासक नृत्यगीत परक रचना थी।

ब- कालान्तर में उसके निम्न तीनों रूपों का विकास हुआ।

---

११. गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन-श्री के. का. शास्त्री, पृ.२८

१२. ''आपणा कवियो '' खण्ड-१, श्री के. का. शास्त्री, पृ.१४६ पर पादटीप-१.

१३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ. ६५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) रास-गरबा-जो शुद्ध नृत्यगीतमय रचना है।

(२) रास-रहस-जो नाट्यरूपक है और

(३) रासो-काव्यात्मक रासग्रन्थ जो श्रव्यकाव्य और साहित्यिक रूप का बोधक है।

क- रास की उत्पत्ति रासक आदि नृत्य गीतादि से हुई।

उपरोक्त वर्णन के बाद उपरोक्त तीनों प्रकार के रास के विकास पर गौर करें।

डा. दशरथ ओझा के अनुसार दशरूपक में नृत्य के साथ भेदों का नामोल्लेख है किन्तु उन्हें कहीं भी उपरूपक की संज्ञा नहीं दी गयी हैं। इसी प्रकार अभिनवभारती में रासक का उल्लेख है किन्तु उसे उपरूपक नहीं माना गया है। [१४] डा. दशरथ शर्मा के अनुसार रास का तीसरा अंग अर्थात् अभिनय शनैः शनैः विकसित होकर रासक के नाम उपरूपक में परिवर्तित हो गया, यह रास का आदिम नही अपितु विकसित रूप मात्र था। नृत्य और गान उसके आवश्यक अंग थे। [१५]

रास अथवा लास्य केवल रसपूर्ण गीत ही नहीं, इसमें नृत्य, गीत और वाद्य का समावेश होता है। अतः इन तीनों का मधुर त्रिवेणी संगम ही रास के नाम से विख्यात हुआ। [१६]

प्रारम्भ में अभिनय के उद्देश्य से लघु रास रचे गये। कालान्तर में धार्मिक उपदेश की प्रधानता से अभिनय तत्त्व लुप्त होता गया। रास मात्र श्राव्य काव्य बन गये। रास नृत्य के भेद के कारण इस गेय रूपक को भी दो भागों में विभक्त किया गया-

(१) ताला रास। (२) लकुट रास।

(१) तालारास- ताला रास अर्थात् वृत्ताकार घूमते हुए तालियों से ताल देकर संगीत एवं पदचाप के साथ नर्तन किया जाय उसे ताला रास कहा जाता था। जैन सम्प्रदाय में सूरिजी के विशेष पदार्पण और पट्टाभिषेक पर ताला रास खेला जाता था।

(२) लकुट रास- लकुट रास अर्थात् छोटे-छोटे डन्डों को हाथ में लेकर परस्पर एक दूसरे के डंडो पर ताल देना।

---

१४. रास और रासान्वयी काव्य-डा. दशरथ ओझा, पृ.३

१५. साहित्य संदेश-भाग-१३-अंक-१, डा. दशरथ शर्मा, पृ.१४

१६. रास और रासान्वयी काव्य-पृ.४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगरचन्दजी नाहटा के अनुसार-संवत् १३८६ और १३८४ में सिन्ध प्रान्त में श्री 'जिनकुशलसूरिजी' के पदार्पण के समय तथा १३९० में श्री जिनकुशलसूरि के पट्ट पर श्री पद्मसूरि के पट्टाभिषेक के समय तालारास करने व मंगलगीत गाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[१७]

रास सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य में जैन साहित्य का मुख्य स्थान है। इस साहित्य के रचना काल को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि-दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक सैकड़ों जैन रासों की रचना हुई।[१८]

''मुकुट सप्तमी'' एवं संधि-बन्ध ''माणिक्य-प्रस्तारिका'' नामक रासों के अतिरिक्त प्राचीन रासों में ''अम्बिका देवी रास'' नामक रास का दसवीं शताब्दी में उल्लेख मिलता है।[१९]

'उपदेश रसायन रास'के बाद अनेक जैन रासों का वर्णन मिलता है। समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि-रासक, रास एक प्रकार का लोकनृत्य था। इस नृत्य के मूल में मानव की उत्सवप्रियता आनन्द आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। रासक का उद्भव लोकधर्मी तत्त्वों से हुआ है। रास को नृत्य और नाटक दो रूपों में प्रयुक्त किया गया है। अतः रास को जैनाचार्यों ने धार्मिक उपदेशों में गेयकाव्य की स्थिति प्रदान की। इस प्रकार जैन तीर्थंकर, चक्रवर्ती, जैन धर्म में योगदान देनेवाले राजाओं का चरित, श्रावक श्राविकाओं के जीवन के आधार पर रास रचे गये हैं। जैन दर्शन में विरचित रासों में महामुनियों के चरित, गृहस्थों का धर्म, अणुव्रत, महाव्रत, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय आदि के गुणों का वर्णन मिलता है।

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है बारहवीं शताब्दी के समय में देश की धार्मिक परिस्थिति दिन प्रतिदिन अवनति के गर्त में गिरती जा रही थी। चैत्यों एवं जिनालयों की प्रथा में काफी परिवर्तन आ चुका था। ऐसी स्थिति में प्रजा को प्रबुद्ध करना एवं उन्हें पुनः धर्म के प्रति जागरूक करना कोई आसान काम नहीं था। ऐसे समय में ''दादा श्री जिनदत्तसूरिजी'' ने ''उपदेश रसायन'' नाम रास काव्य की रचना की। उपदेश रसायन शब्द का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि-

---

१७. प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा-श्री अगरचंदजी नाहटा, पृ.६७

१८. रास और रासान्वयी काव्य-डा. दशरथ ओझा, पृ.४७

१९. वही, पृ.४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस शब्द का अर्थ है रस से पूर्ण अर्थात् ऐसा धार्मिक उपदेश जिसमें जनता के लिए मधुर मधुर रस प्रवाहित हो रहा हो। जो उसके चतुर्मुखी विकास के लिए अभूतपूर्व औषधि के समान हो। जिस प्रकार रोगी रसायनों को पीकर हृष्ट पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ''उपदेश रसायन रास'' नामक काव्य के श्रवण से, श्रावक श्राविकाएं, समस्त जन समुदाय एवं धर्म विरुद्ध लोग भी धार्मिक बनकर अधर्म एवं कदाचाररूपी रोग से रहित हो जाय ऐसे काव्य को उपदेश रसायन रास की संज्ञा दी जा सकती है।

इस प्रकार जिस में उपदेश रूपी रसायन है ऐसा रास काव्य है 'उपदेश रसायन रास'।

१२ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध धर्म सुधारक आचार्य श्री ने रास को उपदेश का साधन बनाया। रास के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति को सुधारने के लिए एक सुंदर प्रयास किया।

इसके द्वारा चैत्यों, जिनालयों अथवा उपाश्रयों में रहनेवालो में जो विकृतियाँ फैली हुई थी जैसे कि-रात्रि में मन्दिरों में होने वाला रास और अन्य विकार या कदाचार जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है-उसका विरोध श्री दादाजी ने रास के माध्यम से जमकर किया। यद्यपि इस कार्य में ''श्रेयांसि बहु विध्नानि'' अनुसार कई तरह की कठिनाईयाँ भी आई परन्तु मृगेन्द्र की तरह दहाड़ते हुए दादाजी अपने कार्य से कभी विचलित नहीं हुए।

उपदेशों को रास में लेने का दूसरा प्रमुख हेतु यह है कि नृत्य-गान आदि से अभिलसित जनता को यदि अचानक किसी अन्य मार्ग या साधन से दूसरी तरफ मोड़ा जाय तो आकर्षण कम होगा और लोगों को समझाना भी कठिन काम होगा। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दादाजीने रास नामक काव्य प्रकार को ही अपने उपदेश का प्रमुख साधना बनाया। तत्कालीन जन समुदाय की गाथा को भी ध्यान में रखा। इस प्रकार उस समय के देशकाल और वातावरण के आधार पर दादाजीने अपने हेतु की सिद्धि के लिए जो कुछ किया वह समीचीन ही था।

'उपदेश रसायन' के अन्तर्गत लोकप्रवाह में प्रवाहित जीवों को जागृत करने के लिए सद्गुरु का स्वरूप, चैत्य- विधि -विशेष आदि विषयों का निरूपण किया गया है। सर्वसाधारण जनता के लिए जीवनोपयोगी उत्तम शिक्षाएं संसार की नश्वरता तथा सामाजिक विषमता का स्पष्ट वर्णन करके मनुष्य को धर्मोन्मुख करने हेतु 'उपदेश रसायन' रास की आपने रचना की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी रचित "उपदेश रसायन रास" नामक ग्रन्थ को विषय-वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो वह एक उपदेशात्मक कृति है जिसमें भव से छुटकारा पाने के लिए साधन एवं सहायक सद्गुरुओं और नियमों के विषय को कलात्मक एवं सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है। सामान्य तौर पर इसके विषय वस्तु को निम्न भागों में विभक्त करने से विषय स्पष्टीकरण अति सुलभ बन पड़ेगा।

(क) गुरुवन्दना मङ्गलाचरण

(ख) मानव जन्म की सफलता एवं विफलता में सद्गुरुओं एवं कुगुरुओं का सहयोग एवं उनके स्वरूप का वर्णन।

(ग) ज्ञान की विशिष्टता एवं उसका प्रदर्शन।

(घ) जिन उपाश्रयों एवं मन्दिरों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के नियम अथवा तद्सम्बन्धी विवेक।

(ङ) विश्व बन्धुत्व की भावना।

मंङ्गलाचरण की प्रथा कवि की अपनी कोई नवीन कल्पना नहीं है। परन्तु उसमें विषयवस्तु एवं इष्ट के आधार पर जो परिवर्तन होता है वह रचनाकार की अपनी अलग दृष्टि होती है। इस प्रकार "युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरिजी" प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना श्री पार्श्वनाथ स्वामी एवं शासनाधीश्वर श्री महावीर स्वामी की वन्दना सम्बन्धी मंगल श्लोक से प्रारम्भ करते हुए कहते हैं -

पणमह पास-वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण।
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलंतउ पिच्छह॥ १॥

***

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउ तारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह॥ २॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त श्लोकों में श्री दादाजी लोगों को भगवान श्री पार्श्वनाथ एवं श्री महावीरस्वामी की वन्दना के लिए प्रेरित करते हुए मंगल कामना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

हे सांसारिक जीव ! तीर्थंकरों को निर्मल मन से नमस्कार करो और पाप से मुक्त हो जाओ। घर व्यापार में लिप्त होकर जीवन के अमूल्य क्षण को नष्ट मत करो।

इस अमूल्य जन्म के द्वारा अपनी आत्मा को सांसारिक रागद्वेष में लिप्त होने के वजाय उसे मुक्त होने का उपाय करो।

प्रस्तुत श्लोक मंगलाचरण के साथ उपदेश को भी अपने में समेटे हुए हैं। आचार्यजी स्वयं भगवन्त वन्दन के साथ-साथ सभी जीवों को वन्दना के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि- मानवजीवन को प्राप्त करने के लिए कितने ही कष्ट सहने पड़े होंगे। इन सब के परिणामस्वरूप हे भव्य जीवो-इसे पाकर आलस्य प्रमाद एवं कदाचार में मत लगाओ। कुछ ऐसा काम करो जिससे यह जीव सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाकर अमरत्व को प्राप्त कर सके। घर, व्यापार, परिवार एवं दौलत खजाने सब यहीं रह जायेंगे। कोई साथ नहीं देगा। यमराज के आगमन पर यदि कोई साथी बनने को तैयार होगा तो वह है भगवन्तों का वन्दन, शुभ आचरण और अच्छे कर्म। इसलिए अपनी आत्मा को सांसारिक रागद्वेष की परिधि से उपर उठाओ। इसकी संकीर्णता को दूर करो, इसे दुःखी मत होने दो, खुश रहो और खुशियाँ लुटाओ। यही इस जीवन की सार्थकता है। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि इन कर्मों में कहीं धर्म के बजाय अधर्म न होजाय।

अनादि काल से संसाररूपी सागर को पार करने के लिए किसी अच्छे अर्थात् सुगुरु की आवश्यकता होती है। इसका वर्णन सर्वत्र पाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहे तो सुगुरु की महिमा का वर्णन सर्वत्र पाया गया है। इस भव से छुटकारा दिलाने में यदि कोई समर्थ है तो सद्गुरु।

इस प्रकार हमारे ''आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी'' उसी सन्दर्भ में सुगुरु की महिमा का वर्णन करते हुए एवं उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवायि-नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥ ४ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ।
सा संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहि सुक्खह वत्ता पणट्ठी ॥ ८ ॥

जो सत्यभाषी हो, परनिन्दक जिससे दूर भागते हो, अपने ही समान सभी को समझते हैं और सभी को मोक्ष मार्ग प्रदर्शित करते हों वे सुगुरु कहलाते हैं ॥ ४ ॥

सुगुरु जहाज के समान होता है। इसलिए पुण्यहीन व्यक्ति सुगुरु को प्राप्त नहीं कर सकता। पुण्यहिन व्यक्ति चार गति चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। जो सुखहीन हो जाता है ॥ ८ ॥

प्रस्तुत श्लोकों में से चतुर्थ श्लोक में सुगुरु की महिमा एवं उसके स्वरूप को बताया गया है। जैसा कि-हिन्दी काव्य के सुप्रसिद्ध रहीमजी ने गुरु की महिमा बतलाते हुए यहाँ तक लिखा है कि सुगुरु भगवान् से भी सर्वोपरि होता है-उदाहरण स्वरूप-

गुरु-गोविन्द दोउ खड़े काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपणै गोविन्द दियो बताय ॥

अर्थात् सुगुरु का स्थान भगवान से उच्च बताया गया है। सुगुरु हमेशा सत्यवादी होते हैं एवं सत्य बोलने के लिए, सत्याचरण करने के लिए ही प्रेरित करते हैं। दूसरों की निन्दा को पाप बताया गया है। इसलिए परनिन्दक पापी होते है वे हमेशा सुगुरुओं से भयभीत होते रहते हैं। क्योंकि निन्दक का स्वरूप अंधकार के समान है और सुगुरु प्रकाश के समान हैं। इसलिए बिलकुल स्पष्ट है कि प्रकाश से अन्धकार हमेशा दूर भागता रहता है। वैसे ही निन्दक सुगुरुओं से सदैव दूर भागते रहते हैं। दूसरी सबसे बड़ी विशेषता सुगुरु की यह है कि-

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥"

अर्थात् जो अपने लिए अनुकूल नहीं होता है वह दूसरों के लिए कभी भी प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। संक्षेप में कहें तो अपनी इच्छा एवं अनुकूलता के समान दूसरों की भी (इच्छा एवं अनुकूलता)समझना चाहिए। सुगुरु वही है जो मोक्षमार्ग के लिए प्रोत्साहित करें और उस पर चलने का योग्य मार्ग बताये।

सुगुरु के स्वरूप के स्पष्टीकरण के बाद श्लेषात्मक ढंग से अन्यान्य वस्तुओं के साथ तुलना करते हुए कहते हैं कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में विभिन्न प्रकार के नद एवं नदियाँ पायी जाती हैं वे सब विषम प्रवाह के समान हैं उन नद एवं नदियों में से वही बच सकता हैं, छुटकारा पा सकता है जिसके पास सुगुरुरूपी बड़ा जहाज हो। अन्यथा जिस प्रकार नदियों में मगर इत्यादि जलचर प्राणी (हिंसक)रहते हैं वे मानव को निगल जाते हैं उसकी यात्रा समाप्त कर देते हैं। परन्तु याद रखने की बात यह है कि जो बिना जहाज अर्थात् सद्गुरुरहित होगा उसी की वह स्थिति होगी सुगुरु के सम्मुख तो किसी जलचर प्राणी के उपस्थित होने की बात असम्भव है। इस प्रकार जो व्यक्ति पुण्यहीन होता है वह अपना सर्वस्व नष्ट कर डालता है। यहाँ तक कि सद्गुरु के बिना लोक प्रवाह में पड़ा हुआ मानव चार गति एवं चौरासी लाख जीव योनि भ्रमणरूप संसार में पुनः जा गिरता है।

इसलिए सद्गुरुओं की मदद से सांसारिक मायाजाल से मुक्त होकर हमेशा सुन्दर भव की प्राप्ति के लिए प्रयासशील रहना चाहिए। सदाचरण करना चाहिए। जिनाचार्यों के द्वारा नियमित मर्यादा और नियमों का पालन करना चाहिए जो अन्य भव के लिए सुखरूप होता है।

कुपथगामी और सुपथगामी का लक्षण और महत्त्व-

जो व्यक्ति कुपथ का आचरण करते हैं कुपथगामी कहे जाते हैं, वे पुण्यहीन है। जिन्हे सद्गुरु का सम्पर्क नहीं मिलता वे परमात्मा की पहचान नहीं कर सकते। अर्थात् उन्हें तो स्वप्न में भी मोक्षलक्ष्मी नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए ही कहा गया है कि-"संस्कारहीन व्यक्तियों की दुर्दशा ही होती है। कभी-कभी सद्गुरुओं का संयोग मिल भी जाता है तो अपने कर्मदोष के कारण वे सद्गुरुओं का सान्निध्य कर ही नहीं पाते। जिस प्रकार कायर पुरुष धनुष्य धारण करके लक्ष्यवेध नहीं कर सकता उसी प्रकार लोक प्रवाह रूप नदी में पड़ा हुआ जीव संसाररूपी सागर में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसे कुपथगामी जीव धर्म को धारण नहीं कर सकते। अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

कायर (अस्थिर वृत्तिवाले) पुरुषों को किक्काण देश के चपल घोड़े के समान बताया हैं। जैसे कि- किक्काण देश का घोड़ा चंचल होता है, वायुवेग से कूदता हुआ मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर चाला जाता है अर्थात् पथभ्रष्ट हो जाता है। वैसे ही कायर पुरुषों को परम समाधि का संगम नहीं होता है। ऐसे पुरुष उत्तम कुल में जन्म लेने के बाद भी विधि मार्ग का आचरण नहीं करते हैं। यदि गीतार्थ गुरु उनको समझाते हैं तो उनको मारने दौड़ता है। ऐसी स्थिति में गीतार्थ पुरुष को चाहिए कि वह कायर पुरुष का त्याग कर दे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो धार्मिक पुरुष है, जो शास्त्रानुसार आचरण करता है, जो सुपथगामी है, गीतार्थ है, धर्मपरायण है, विधिमार्ग का पालन करता है, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करता है - ऐसे उपरोक्त गुणों से युक्त सुसंस्कारवान सज्जन पुरुष के मनोवांछित धार्मिक कार्य शासन देव पूर्ण करते हैं। वे पञ्चभूतिक शरीर को त्यागकर परमपद को प्राप्त करते हैं।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर धार्मिक और गीतार्थ पुरुषों के शील स्वभाव एवं सद्गुणों का स्पष्टीकरण अच्छी तरह किया जा सकता है।

(६-२६)

आचार्य श्री जिनचैत्य में प्रचलित आशातनाओं पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि-

पूर्व विवरण से स्पष्ट होता है कि-"आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी"के समय से पूर्व चैत्यवास में विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ फैल चुकी थी, आशातनाएं घर कर चुकी थीं जिनसका सामान्य एवं संक्षिप्त विवरण इस प्रकार किया जा सकता है।

जोवणत्थ जा नच्चइ दारी
सा लग्गइ सावयह वियारी।
तिहि निमित्तु साव यसुय कट्टहिं
जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह कि दहिं ॥ ३३ ॥

***

बहुय लोय रायंध य पिच्छहि
जिणमुह-पंकउ विरला वंछहि।

जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ
मरइ सु तिक्खकडक्खिहिं घायहु ॥ ३४ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिज्जहिं
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहि।
तालारासु वि दिंति न रयणिहिं
दिवस वि लउडारासु सहुं पुरिसिहि ॥ ३६ ॥

आचार्यवर्य के युग में रास, रासडा तथा डांडिया रास आदि विविध नृत्यगानों का चैत्यगृहों में विशेष प्रचार था। मंदिरों में नाटक भी खेले जाते थे। तालारासक एवं विविध वादित्रों का भी वादन होता था। विविध प्रकार से लोग अपने भक्ति भावों को प्रदर्शित करते थे। आचार्य श्री का कहना था कि-जिन मन्दिरों में उचित स्तुति, स्तोत्र पढ़े जाने चाहिए जो जिन सिद्धान्तों के अनुकूल हो। श्रद्धायुक्त होने पर भी रात में तालारासक प्रदर्शित नहीं होना चाहिए। दिन में भी महिलाओं को पुरुषों के साथ डांडिया रास नहीं खेलना चाहिए।

अर्थात् "चैत्यगृहों" में उन गीतवाद्यों का प्रेक्षण, स्तुति स्तोत्र, क्रीडा-कौतुकों को वर्जित मानना चाहिए, जिन्हें विरहांक हरिभद्रसूरि ने त्याज्य कहा है। वहाँ (जिन चैत्य)रात्रि में स्नान और प्रतिष्ठा नहीं होती और वहाँ साधु-साध्वी एवं युवतियों का प्रवेश रात्रि में नहीं होता। वहाँ विलासिनी वैश्याओं का नृत्य नहीं होता। जिन चैत्य में रात्रि के समय रथ भ्रमण कभी नहीं कराया जाता और वहाँ लकुटरास करते हुए पुरुषों को भी रोका जाता है। क्योंकि-

जो वारांगनाएं नव यौवना होती है वे श्रावकों को (धर्माध्यवसाय से)गिराने लगती हैं। उससे श्रावक का चित्त विक्षिप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो श्रावक मानसिक ढंग से क्षुब्ध हो जाता है। इस प्रकार समय के साथ वे श्रावक शनैः शनैः पथभ्रष्ट हो जाते हैं। अपने स्थान से उन्नति के बजाय अवनति के रास्ते पर बढ़ने लगते हैं। बहुत से लोग तो रागान्ध होकर उन वारांगनाओं में लिप्त होने लगते हैं। वारांगनाओं के मुखावलोकन में तल्लीन जिनेश्वर के मुखकमल से विरही होने लगते हैं। या जिनेश्वर की तरफ उनकी दृष्टि कम होने लगती है। जो लोग जिनभवन में चित्त-शान्ति के लिए एवं सुख शान्ति के लिए आते हैं वे तीक्ष्ण कटाक्षों के आघात से घायल हो जाते हैं। और उनका कभी भी पतन हो सकता है। इसलिए सूरिजी ने रात्रि में तालारास एवं लकुटरास को भी वर्ज्य माना है। सं. १३२७ के आस-पास जिनेश्वरसूरि के श्रावक जगडू चरित "सम्यक्त्व माई चउपई" में इस मत का समर्थन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जिन चैत्य में ये रास, रासड़ा आदि नर-नारियों द्वारा किये जाते हैं । इनका जमकर विरोध किया गया है। क्योंकि ये बाह्य शक्ति के साधन होते हुए भी अन्त में केवल चक्षु-श्रोत के विकार मात्र ही रह जाते हैं। ये प्रभु भक्ति के वास्तविक साधन नहीं हैं।

पुनः आचार्यश्री तत्कालीन प्रचलित धार्मिक नाटकों का वर्णन करते हुए कहते हैं -

धम्मिय नाडय पर नच्चिजहिं
भरह सगर-निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बलरायह चरियइं
नच्चिवि अंति हुत्ति पव्वइयइं॥ ३७॥

पुनः जो योग्य हैं अर्थात् जिन्हें जिनमन्दिरों में दिखाना चाहिए वे धार्मिक नाटक धार्मिक स्थानों में, समाज में प्रशंशनीय होते हैं जो इस प्रकार हैं-भरतेश्वर, बाहुबली, सगर, बलदेव दशार्णभद्राकि के चरित्र आदि। चरित्र के साथ-साथ भरत बाहुबली का निष्क्रमण दिखाना चाहिए। इनका कथन करना चाहिए। ऐसे महापुरुषों के जीवन दर्शन को नाटक के आधार पर बताना चाहिए, जिनसे प्रव्रज्या के लिए संवेग-वैराग्य उत्पन्न हो। विविध प्रकार के रास गान नृत्य का अभिप्राय मनोरंजन न होकर वैराग्य भावना की अभिव्यंजना हो। इस प्रकार ऐतिहासिक पुरुषों के नाटक देखने वालों के भाव भी वैराग्ययुक्त बन जाते हैं। इसलिए ही धार्मिक नाटकों आ अभिनय होना चाहिए।

जिन चैत्यों में अशास्त्रीय क्रियाओं के निषेध सम्बन्धी बातों को गाथा क्रमांक ३८ एवं ३९ के द्वारा व्यक्त करते हुए लिखते हैं -

हास खिड्ड हुड्ड वि वज्जिज्जहिं
सहु पुरिसेहि वि केलि न किज्जहिं।
रत्तिहिं जुवइपवेसु निवारहिं
न्हवणु नंदि न पइट्ठ करावहिं॥ ३८॥

***

---

२०. प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा-श्री अगरचंदजी नाहटा-पृ. १३८.
तालरासु रमणि बह, देई लउडरासु मूलहु वारेह॥ २१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहमाल-जलकीलंदोलय
ति वि अजुत्त न करंति गुणालय।
बलि अत्थमियइ दिणयरि न धरहिं
घरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥ ३९ ॥

उपरोक्त ३७, ३८ और ३९ गाथाओं के आधार पर अशास्त्रीय तथा उन्मार्ग में ले जानेवाली समस्त क्रियाएँ जैसे कि- माधमाला, (माल रोपण), जल क्रीडा, देवताओं को हिंडोला देना, हँसी मजाक करना, रात्रि में नैवेद्य चढ़ाना आदि प्रवृत्तियाँ वर्जित होनी चाहिए। भले ही वे बाह्यरूप से भक्ति का साधन प्रतीत होती हों, ये सभी क्रियाएं श्रृंगारिक एवं पतित करनेवाली हैं।

इन सब अशास्त्रीय कृत्यों का पूर्णतया निषेध होना चाहिए। इन सब अशास्त्रीय आशातनाओं को देखकर दादाजीने इनके विरोध में जमकर आन्दोलन आरम्भ किया। तथा जो शास्त्र सम्मत एवं जिनमन्दिरों के लिए योग्य नियम हैं उनका विधान किया। आपने जिनमन्दिरों एवं श्रावक-श्राविकाओं की प्रतिष्ठा बढ़े ऐसे विधानों को लागू किया।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय चैत्यवास में प्रसरित सभी कुरीतियों एवं दुर्गुणों का दादासाहेब ने कट्टरता से विरोध किया। जिनालयों की प्रतिष्ठा हेतु हर सम्भव प्रयास के लिए आचार्य श्री हमेशा तत्पर रहते थे। वस्तुतः आचार्यश्री का यह प्रतिपादन शास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

आचार्यवर्य पुनः विशिष्टाचार्य के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि:-

युगप्रधान वे ही आचार्य पद के योग्य हैं, जो विधि चैत्यों में व्याख्यान देते हैं, नन्दी स्थापना एवं मूर्त्ति प्रतिष्ठा के अधिकारी होते हैं। एक काल में एक ही युगप्रधान को मानते हैं जो जिनशासन के योग्य सुसम्पन्न कार्यों का विधान करवाते हैं।

ये युगप्रधान छद्मस्थ होते हुए भी तीनों काल की बातों को जानते हैं, जिनका मन कषायों [२१] से रहित होता है देवता भी उनकी स्तुति करते हैं। तत्त्वार्थ में जिनका मन हमेशा प्रविष्ट रहता हैं, संकट के समय में देवता रक्षा करते हैं। रातदिन युगप्रधान गुरु के चित्त में यही चिन्ता रहती है कि कहीं भी किसी प्रकार से जिनशासन की निन्दा न हो।

---

२१. कषाय चार प्रकार के है - क्रोध, मान, माया, लोभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युगप्रधान की स्तुति करनेवाले बहुत ही कम लोग होते हैं। युगप्रधान हमेशा शुभ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, क्षमाशील होते हैं। युगप्रधान अपनी निन्दा एवं प्रशंशा सुनकर भी समपरिणामी होते हैं, प्राणीमात्र के लिए हर पल कल्याण की कामना करते रहते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि-

युगप्रधान गुरु वही हो सकता है जो पूर्व वर्णित सभी गुणों का सागर हो।

ऐसे युगप्रधान गुरु की सभी प्रशंसा करते हैं।

युगप्रधान श्री दादाजी की भविष्यवाणी के आधार पर कहा जाता है कि-

भगवान महावीर स्वामी का शासन काल इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा; अविच्छिन्न रूप से धर्म का प्रवाह भी चलता रहेगा, दिन-प्रतिदिन नये-एवं योग्य आयामों में प्रचारित एवं प्रसारित होता रहेगा। इस शासन काल के अन्त में आचार्य 'श्री दुप्पसहसूरिजी' एवं 'सत्य श्री' नामक साध्वी होंगे। देशव्रत को धारण करनेवाले नागिल नामक एक श्रावक होगा और फल्गुश्री नामक एक श्राविका होगी। इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भगवान की वाणी इतनी ओजस्वी एवं प्रभावशालिनी थी कि चतुर्विध संघ भी उनका सन्मान करते हैं। (गाथा ५१-५६)

उपरोक्त वर्णनों के बाद आचार्य श्री सद्गृहस्थों के लिए भी पालनीय एवं हितकारी शिक्षाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं-

सम्यक्त्वधारी श्रावक को साधर्मिक भाई के साथ भाईचारे एवं प्रेमपूर्व व्यवहार को अपनाना चाहिए। आवश्यकतानुसार किसी को द्रव्य की जरूरत हों तो देना चाहिए। यदि उस धन की वापसी न हो तो लड़ाई झगड़ा आपस में नहीं करना चाहिए। लड़ाई-झगड़े एवं कलह के वातावरण से धर्म की निन्दा होती है। श्रावक को अपने द्रव्य का सदुपयोग सात क्षेत्र [२२] में करना चाहिए।) जिन शासन का क्षेत्र विस्तृत है। इसमें श्रावक के लिये ७ क्षेत्र बताये हैं। मुक्ति हेतु "प्रत्येक श्रावक को चाहिए

---

२२. भजन पद संग्रह भाग-४, मुनि श्री बुद्धिसागर जी-२६०
सात क्षेत्र-साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, जिनमन्दिर, जिनमूर्ति और ज्ञान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि वह उक्त क्षेत्रों में चंचल लक्ष्मी का सद्व्यय करके परलोक के लिए पुण्यरूपी फसल उत्पन्न करें।''[२३]

इसलोक में प्राप्त बीजवपन का सर्वोत्तम समय व्यतीत होगा तो परभव में क्या सुख शान्ति प्राप्त होंगी ? सुअवसर प्राप्त हुआ है, जिसमें एक का अनेक होनेवाला है। जिनवचनों में विश्वस्त होकर इन सात क्षेत्रों में धन लगाना चाहिए। यहि धन लगाने की शक्ति न हो अर्थात् धनाभाव हो तो धर्म नहीं किया जा सकता ऐसी बात नहीं है। धर्म किया जा सकता है, पुण्य कमाया जा सकता है । प्रश्न उठता है कैसे ?

''अनुमोदन रूपी जल के सिंचन से।''

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि लोगों को धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रति एवं दानादि की प्रवृत्ति में भी भाग लेने के लिए आचार्य श्री ने इस प्रकार के नियमों का भी सर्जन किया है, जागरूक किया है। साधर्मिक-धन से भी सेवा करके जिनशासन के प्रचार-प्रसार सम्बन्धी सहयोग दें यही दादाजी का उद्देश्य था। (५१-६२)

आचार्य श्री लोकव्यवहार का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि

आचार्य श्री के लोकव्यवहार को देखने से पता चलता है कि उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का भी गहरा चिन्तन किया है।

सद्गृहस्थों के लिए भी कतिपय मार्गदर्शित सामाजिक उपदेश दिये है जो इस प्रकार है-

सद्गृहस्थों को रहनसहन सुचार रूप से धार्मिक वातावरणयुक्त होना चाहिए। अन्य कुल में समुत्पन्न हुई कन्या का यदि आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज़, खान-पान पृथक् है तो न कन्या प्रसन्न रह सकती है, और न ही अन्य परिवारिक जन।

आचार्यश्री ने सत्य ही कहा है कि बेटा बेटी का विवाह समानकुल मे विवाह करें जिससे एक दूसरे के जीवन में विषमता न आवे।

---

२३. सप्त क्षेत्रि रासु-रचयिता अज्ञात कवि-संपादक-बुद्धिसागर, वि.सं.१३२७

सप्तक्षेत्रे जिनसासिणहि सघली कहीजई।
अधिरु रिद्धि धनु द्रव्युब्बीजउ तहि पिवानो जह॥
तेहि क्षेत्रि वावेत्रणा थानि कि लाभइ देवलोको। १९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बेटा-बेटी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्मघरि दिज्जहिं
विसमधम्मघरि जइ वीवाहइ
तो सम(म्म)त्तु सु निच्छइ वाहइ। ६३ ॥

गृहस्थ लोग अपने बेटा बेटी समान कुल शील वालों के साथ व्याहतें हैं। श्रावकों को चाहिये कि समान धर्म वालें को लड़की दें। विषम-दूसरे धर्म वाले से अगर विवाह किया जाता है तो उससे निश्चय करके सम्यक्त्व में बाधा पहुँचती है।

बालक बालिकाओं का विवाह अच्छी तरह से एवं अपने ही धर्म में करना चाहिये। जिससे धर्म का उत्तरोत्तर विकास होता है।

गृहस्थ पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता इसलिये उसके अनियन्त्रित जीवन को नियन्त्रित करने के लिए विवाह का विधान किया है।

विवाह का अर्थ- स्त्री पुरूष को जीवनभर के लिये स्नेह और सहयोग के सूत्र में बंध जाना। उस बंधन में केवल काम-भावना की प्रमुखता नहीं होती किन्तु उच्च संकल्प और उच्च ध्येय के साथ जीवन के क्षेत्र में विशिष्टता के साथ वहन करने को विवाह कहा है। वह विवाह हरेक के साथ किया जाये। इसके लिए प्रस्तुत मार्गानुसारी में दो बाते बताई है :-

(१) समान कुल और (२) अन्य गोत्र

आचार्य हेमचन्द्राचार्यसूरि के अनुसार-

समान कुल और शील वाले परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किया जा सकता है।[२४] बालक-बालिकाओं के शादी-विवाह भी अच्छी तरह से एवं अपने ही धर्म वालों में करना चाहिए। जिससे धर्म का उत्तरोत्तर विकास होता है। विषम धर्मवालों के घर सम्बन्ध करने से निश्चय ही सम्यक्त्व की हानि होती है। अर्थात् सम्यक्त्व में विघ्न-बाधाएं उपस्थित होती है।

धन एवं समृद्धि की चर्चा करते हुए आचार्य श्री का कहना है कि-

सद्गृहस्थधर्मी के लिए धन एक मूलभूतआवश्यकता है। धन से अर्थात् स्वल्प धन से भी संसार के सावद्य कार्यों को पूर्ण कर लेना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। विधिपूर्वक एवं धार्मिक धन से ही परिवार संचालन का आग्रह रखना चाहिए। आर्थिक समृद्धि होने पर भी धन का सदुपयोग ही करना चाहिए। उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

२४. *"कुलशीलसमैः सार्धकृतो विवाहोऽन्य गोत्रजै।"* योगशास्त्र-१/४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थ को साधर्मिक भक्ति के साथ-साथ साधु-साध्वी के आहार पानी की व्यवस्था का भी ध्यान रखना चाहिए। साधर्मिक भक्ति, तीर्थंकर, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा रखता है वही सच्चा श्रावक कहलाता है। आचार्य अभयदेव सूरिजी ने अपने ग्रन्थ "साधर्मी वात्सल्य कुलक" में कहा है कि- नवकार मन्त्र का स्मरण करने वाले सभी जैन धर्मी हैं। उनके साथ सगे भाई से भी अधिक वात्सल्य रखते हुए धर्मपथ पर आगे बढ़ना चाहिए।

सद्गृहस्थों की स्त्रियों के गृहस्थ धर्म सम्बन्धी चर्चा का वर्णन करते हुए श्री आचार्यजी कहते हैं कि-रजस्वला स्त्री को तीन चार दिन तक घर के सम्पूर्ण कार्य का त्याग कर देना चाहिए। जो इस नियम का पालन नहीं करती हैं उनका घर अपवित्र हो जाता हैं और देवता से हीन हो जाता हैं। धर्म और धन की हानि होती है। घर सुरक्षा हीन हो जाता है, उस घर में प्रेतों का निवास होने लगता है। अतः रजस्वला स्त्रियों को धार्मिक कार्य, प्रतिक्रमण, गुरुवंदन, देवदर्शन, नवकार स्मरण आदि धार्मिक क्रियाएं एवं सूत्रो का उच्चारण नहीं करना चाहिए। यदि उपरोक्त क्रियाएं रजस्वला स्त्री से सम्पन्न होती हैं तो सम्यक्त्व की हानि होती है। प्रायः यह देखा गया हैं कि आज भी जो धार्मिक लोग हैं उनके घरों में रजस्वला स्त्रियाँ पूर्णरूपेण गृहकार्यों से मुक्त होकर ३-४ दिन अलग ही रहती हैं। श्रावक के जीवन को सुखमय बनाने एवम् घर को स्वर्गमय बनाने के लिए आचार्य श्री जिनदत्तसूरि द्वारा बताए गए सद्गृहस्थ के उक्त धर्मों का पालन करना चाहिए।

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव"

के सूत्र का पालन करना चाहिए। वृद्ध एवं आदरणीय व्यक्ति का सम्मान करना चाहिए। मालिक की आज्ञा में रहकर उसके वचनों को मानना चाहिए। माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि उनका हमारे जीवन पर बहुत उपकार होता है। माता-पिता एवं गुरु की भक्ति करनी चाहिए। मार्गानुसारी का दूसरा गुण माता-पिता की सेवा का है। अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा माता-पिता का सम्बन्ध निकटतम है। सन्तान पर उनके उपकार अगणित और असीम हैं। जैसे माली पौधों की देखरेख करता है, उससे भी अधिक माता-पिता अपनी सन्तान की करते हैं, उनके विकास का हर प्रयास करते हैं। एक कवि ने कहा है:-

पृथ्वी के समस्त रजकण एवं समुद्र के समस्त जलकणों से भी अनंतगुणा उपकार माता-पिता का होता है। आगम साहित्य में भी माता-पिता का स्थान देव-गुरु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान बताया है। माता पर देव के समान श्रद्धा करनी चाहिए। प्रस्तुत बात के द्वारा आचार्य जिनदत्तसूरिजी ने सद्गृहस्थ को प्रेरणा दी है कि वह माता-पिता की सेवा करनेवाला बने।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि १२ वीं सदी के समय समाज में परिवार की स्थिति कैसी थी, गृहस्थों का जीवन कैसा था। आचार्य श्री ने उनके हित के लिए बहुत उपयोगी शिक्षाएं भी प्रदान की हैं।

'उपदेश रसायन रास' ग्रन्थ की अन्तिम गाथा के द्वारा, ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्यश्री अपना नाम ''जिणदत्त'' और ''उपदेशफल'' बताते हुए कहते हैं कि-

इय जिणदत्तुवएसरसायणु
इहपरलोयह सुक्खह भायणु।
कण्णंजलिहिं पियंति जि भव्वइं
ते हवंति अजरामर सव्वइं॥ ८०॥

फलश्रुति बतलाते हुए कहते है कि:-

आचार्य जिनदत्त सूरि द्वारा रचित उपदेश रसायन सञ्जीवनी बूटी के समान है। इस माधुर्यमिश्रित उपदेश को जो भी कर्णरूपी अंजलि से पान करेगा वह इस लोक और परलोक में भी अजर अमर हो जायेगा।

उपरोक्त विवरण के आधार पर मूल्यांकन के रूप में कहा जा सकता है कि-आचार्यश्रीने कहा है कि :-

(१) उपदेशरसायनरास के माध्यम से कुपथगामी और सुपथगामी व्यक्तियों की दुर्दशा का विवरण, धार्मिक नाटकों का अभिनय, युगप्रधान गुरु के लक्षण, संघ के लक्षण, समान धर्म वालों के साथ ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना आदि बातों का स्पष्टीकरण अच्छी तरह से किया है।

(२) पापाचरण युक्त व्यक्तियों की दुर्दशा का भी वर्णन खूब अच्छी तरह किया है। और यह भी बताया है कि ऐसे व्यक्ति कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकते।

(३) कुटुम्ब निर्वाह के सभी पक्षों का समुचित निरूपण किया है।

(४) संसार की नश्वरता तथा सामाजिक विषमता का निरूपण भी अच्छी तरह से किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) माता-पिता और गुरुओं की भक्ति पर विशेष बल दिया है।

(६) जिनेश्वर की आज्ञानुसार ही जीवन यापन करने को कहा है।

(७) गृहस्थ को श्रावक धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख किया है।

(८) मनुष्य को विधिपूर्वक सत्कार्य करके जीवन यापन की शिक्षा दी है। तथा धर्म की महिमा का वर्णन अच्छी तरह से किया है। धर्म से ही इस लोक में समृद्धि एवं परलोक में सुख सम्भव है।

(९) श्रावकों की सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा जिससे वंशबेलि (वैवाहिक धर्मवर्णन)बढ़ती है निरूपित किया है। अर्थात् समान धर्म में वैवाहिक कृत्यों की पुष्टि की है।

प्रस्तुत रास के विषय वस्तु में संसार की नश्वरता सामाजिक विषमता और धार्मिक माहात्म्य आदि का स्पष्टीकरण अच्छी तरह से वर्णित है।

भाषा-

प्रस्तुत ''उपदेश रसायन रास'' में आचार्य श्री ने तत्कालीन प्रचलित लोकभोग्य अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। क्योंकि उपदेश तभी सच्चे अर्थों में उपदेश होता है, जब लोग उसे समझें। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। तत्कालीन जन भाषा के प्रभाव के कारण तत्सम एवं देश्य शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया गया है। भाषा में हकार, णकार एवं ह्रस्व वर्णों के प्रयोग की बहलता दिखाई पड़ती है।

छन्द-

इस रास में आदि से लेकर अन्त तक पद्धडिया (पज्झटिका)छन्द का प्रयोग किया गया है। इस छन्द में ४+४+४+४=१६ मात्राएँ होती है।

रस-

रस की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि जैन रास साहित्य में प्रायः सभी रसों का प्रयोग प्राप्त होता है। किन्तु जैनाचार्य ने ''शान्तरस'' को रसराज पद पर स्थापित किया है। मानव अनेक प्रतिकूल अनुकूल परिस्थितियों में गुजरता है। भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करने के पश्चात् भी वह चाहता है ''शान्ति''। काम, क्रोध, भय, मोहादि संकीर्ण मार्ग से गुजरते हुए उसका लक्ष्य विस्तृत राजमार्ग ''शान्त'' ही होता हैं। जैनाचार्य शान्ति के पथप्रदर्शक रहे हैं। उनकी रचनाओं में अनेक रसों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संमिश्रण 'शान्त' में तिरोहित हो जाता है। जीवन में शम का महत्त्व उन्होंने जाना है, आचरण में अपनाया है और धर्म के आलंबन में निरूपित भी किया है। समस्त रास साहित्य की मुख्य संवेदना ही भौतिक जीवन पर आध्यात्मिक जीवन की विजय है। उपदेश रसायन रास में भी शान्त रस मिलता है।

अलंकार-

अलंकारों में उपमा, रूपक, अनुप्रास, श्लेष आदि का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। गुरुवर्णन में तो उपमा ही उपमा दिखायी पड़ती है।

उदाहरण निम्न प्रकार हैं :-

रूपक अलंकार:-

*"जिणमुह-पंकउ विरला वंछहि।"*३४

मुख कमल अर्थात् कमलरूपी मुख दर्शन सभी करना चाहते हैं। यहाँ पर रूपक अलंकार है।

(२) *इह विसमी गुरुगिरिहिं समुट्ठिय*
लोयपवाह- सरिय कुपइट्ठिय।
जसु गुरुपोउ नत्थि सो निज्जइ
तसु पवाहि पडियउ परिखिज्जइ॥ ६

यहाँ लोकप्रवाह को सरिता का और गुरु को पोत का रूप दिया गया है।

(३) *गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ*
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ।
सा संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहि सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी॥ ८

गुरु-पवहणु	=	गुरु रूपी प्रवहण=जहाज
संसार-समुद्द	=	संसार रूपी समुद्र

श्लेष अलंकार:-

(१) *खज्जइ सावएहिं सुबहुत्तिहिं*
भिज्जइ सामएहिं गुरुगत्तिहिं।
वग्घसंघ- भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होउ सु कूडउ हड्डह॥ १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सावएहिं = (१) श्वापदैः (२) श्रावकैः

यहाँ पर सावएहिं द्वयर्थक होने के कारण श्लेषालंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार :-

(१) *विहिचेईहरि अविहिकरेवइ*
करहि उवाय बहुत्ति ति लेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पयट्टइ॥ २३

यहाँ पर मानों सत्तू में घी पड़ा है इस उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

दृष्टान्त-अलंकार :-

(१) *जिव कल्लाणयपुट्ठिहि किज्जहिं*
तिव करिंति सावय जहसत्तिहिं।
जा लहुडी सा नच्चाविज्जइ
वड्डी सुगुरु-वयणि-आणिज्जइ॥ ३२

यहाँ पर 'जिव' अर्थात् 'यथा' शब्द के द्वारा दृष्टान्त को दर्शाया गया है। अतएव दृष्टान्त अलंकार है।

(२) *धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं*
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बल-रायहं चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं॥ ३७

यहाँ पर नाटकों को खेलने के लिए शिक्षापरक नाटकों का निर्देश किया गया है। उसे दृष्टान्त स्वरूप ग्रहण किया गया है। अतएव यहाँ पर दृष्टान्त अलंकार है।

***

२. चर्चरी

यह कृति अपभ्रंश भाषा में रची गयी है। इसमें ४७ पद्य और रासावलय छंद का प्रयोग किया गया है। इसकी रचना वाग्जड (राजस्थान)देशान्तर्गत व्याघ्रपुर नामक नगर के प्रमुख धर्मनाथ जिनालय में विक्रम की १२ वीं सदी के उतरार्द्ध में की गयी है।[२५] जैन रास साहित्य ग्रंथ के अनुसार-चर्चरी की रचना वि.सं. ११७१ के पश्चात् मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[२६]

---

२५. अपभ्रंश काव्यत्रयी-ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, पृ.११५

२६. जैन रास साहित्य-डा. सनत्कुमार रंगाटिया, पृ.१६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चरी ग्रंथ पर अनेक वृत्तियाँ और संस्कृत छाया सह अनुवाद उपलब्ध हैं।[२७]

आ. श्री जिनदत्तसूरिजी का श्वेताम्बर जैन धर्म के खरतरगच्छ सम्प्रदाय में आगमन ऐसे दुर्दिन के समय में हुआ कि जब समाज में काम, क्रोध, लोभ और मोह का साम्राज्य फैला हुआ था। जैसा कि इतिहास साक्षी है प्रकृति उसका पूरक है-गहन अंधकार के बाद एक अनुपम प्रकाश की अनुभूति, हर रात्रि के बाद सूर्योदय का आगमन होना निश्चित् होता है। इस सिद्धान्त के आधार पर जैन सम्प्रदाय में प्रचलित कदाचार एवं समाजविरोधी तत्त्वों का उन्मूलन होना भी आवश्यक था।

पूर्व चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज में विभिन्न प्रकार के दुर्गुण बड़ी तेजी से बढ़ रहे थे। उन सभी के विनाश के लिए ही दादा साहब का आगमन हुआ।

रास के विषय में पूर्व अध्यायों में चर्चा की जा चुकी है। उसमें आचार्य द्वारा रचित "उपदेश रसायन रास" की चर्चा तो खूब अच्छी तरह की गयी है। उपदेश रसायन रास को ११६१ में रचित माना गया है। और 'चर्चरी'पर "उपदेश रसायन रासः" का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

किसी भी कृति या रचना को भाषा की दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि तत्कालीन भाषा का प्रभाव रचना पर अवश्य होता ही है। रचनाकार की अपनी यह विलक्षणता होती है कि वह अपनी कृति की भाषा को नवीन से नवीन एवं सुदृढ़ रूप दे कि वह समाज के लिए अधिकाधिक कल्याणकारी एवं सुबोध सरल हो। भाषा के नवीन रूप के साथ उसे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कृति जनमानस के लिए कहीं दुरूह तो नहीं हो रही है। विद्वान् की विद्वत्ता उसमें है कि उसके सन्देश सामान्य से भी सामान्य लोगों द्वारा ग्राह्य हों। दुरूह एवं कठिन भाषा के प्रयोग से तो वह कृति या ग्रन्थ जनसमुदाय के लिए बोझस्वरूप बन जाता है।

---

२७. (अ) अपभ्रंश काव्यत्रयी-मूल सह संस्कृत छाया-ओरियंटल इंस्टीट्यूट,बड़ौदा, पृ.१से २७

(ब) प. पू. जिनपतिसूरिजी के शिष्य उपाध्याय श्री जिनपालजी द्वारा संस्कृत में वि.सं. ११९४ में लिखी गयी। अपभ्रंश काव्यत्रयी में यह टीका प्रकाशित है।

(क) चर्चर्यादि ग्रंथ-भाषान्तरसह-जिनहरिसागरसूरि सं. २००४ प्रकाशक-जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, पृ. १ से १८

(ड) रास और रासान्वयी काव्य-मूल और अनुवाद, डा. दशरथ ओझा, पृ.४४५ से ४५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु हमारे "पूज्य बड़े दादाजी" इन बातों को खूब गहराई एवं मार्मिकता से अमल में लाये हैं। अपने सन्देश को जनसमुदाय तक पहुँचाने के लिए "श्री दादाजी" ने उस समय की लोकभोग्य एवं सरल अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। अपभ्रंश भाषा उस समय के समाज में खूब प्रचलित एवं सरल बन चुकी थी।

उपरोक्त बातों एवं लोककल्याण तथा जनसमुदाय की सुविधा की दृष्टि से अपभ्रंश भाषा के नवीन एवं ग्राह्य शब्दों का उपयोग दादाजी ने चर्चरी में किया है।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से चर्चरी ग्रन्थ खूब ही सरल, सुबोध एवं ग्राह्य बन पड़ा है। भाषा के मामले में यह ग्रन्थ अपने-आप में अनूठा है।

रासवर्णन के समय विभिन्न प्रकार के रासों में लकुटरास तालारास आदि रासों का वर्णन किया गया हैं। चर्चरी भी लकुट रास के समान एक प्रकार का नृत्य है।

"चर्चरी" को चच्चरी, चाचरिका, चांचरि, चांचरिका आदि विभिन्न नामों से भी पुकारा जाता है।[२८] चर्चरी के अध्ययन को आगे बढ़ाने से पहले उसके उद्भव और विकास के बारे में एक सामान्य चर्चा करना परम्परा अनुकूल होगा।

चर्चरी विषयक उपलब्ध साहित्य एवं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि कोश ग्रन्थों में चर्चरी शब्द के अर्थों में अलग-अलग धारणाएं एवं विषमताएं पायी जाती है।

(१) "संस्कृत अंग्रेजी कोश" के आधार पर चर्चरी शब्द के सात अर्थ होते हैं-

१. गीत विशेष- A kind of Song.२. संगीत में ताल के लिए ताली बजाना-Striking the hands to beat time (in music). ३. विद्वानों का गीत-The recitation of scholars. ४. वसन्त विषयक-Festive sport, Festive cries or merriment, क्रीडा. ५. उत्सव -A Festival. ६. चापलूसी- Flattering. ७.घुंघराले बाल-Curled hair.[२९]

(२) "पाइयसद्दमहण्णवो" के अनुसार चर्चरी अर्थात्-एक प्रकार का गीत, एक प्रकार का छन्द, ताली की आवाज।[३०]

---

२८. रास और रासान्वयी काव्य-डा. दशरथ ओझा, पृ.६-७

२९. दी स्टूडेन्ट संस्कृत अंग्रेजी (इंग्लिश)डिक्शनरी-वामन शिवराम आप्टे, पृ.सं. २०४

३०. "पाइयसद्दमहण्णवो"- संपा.प्रो. हरगोविन्ददास सेठ, पृ.सं. ११५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) ''सार्थ गुजराती कोश'' के अनुसार चर्चरी शब्द के निम्न अथ हैं-

''आनन्द, उत्सव, एक छन्द, नाटक में प्रवेशान्तक एक गीत''[३१]

(४) ''अभिधान चिन्तामणि'' के आधार चर्चरी और चर्भटी को समानार्थी माना गया है। विशेष में इसकी स्वोपज्ञवृत्ति में दोनों की व्युत्पत्ति क्रमशः इस प्रकार है-

- चारु- चर्यतेऽनया चर्चरी।

- चारु- भट्यतेऽनया चर्भटी।[३२]

(५) ''हिन्दी भाषा कोश'' में चांचर और चांचरी को चर्चरी का समानार्थी बताते हुए निम्न अर्थ दिया गया है-

वसन्त ऋतु का एक राग, होली में गाया जानेवाला गीत, चर्चरी राग, होली के खेल तमाशे उपद्रव, दलबल, हल्ला गुल्ला शोर आदि।[३३]

(६) ''वस्तुपाल प्रबन्ध''के अनुसार- चाच्चर-चौक में गानेवाले चर्चरी गायकों की टोली, उनके प्रमुख नायक को ''चाचरीया''कहा गया है।[३४]

(७) ''समराइच्चकहा''में चर्चरी शब्द गायक टोलियों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[३५]

(८) चांचर शब्द का अर्थ राजस्थान में-विवाह में प्रचलित चांचर क्रिया विशेष से लिया गया है। जिसे-''राजस्थान की नृत्य, वाद्यप्रधान, उल्लासमय अभिव्यक्ति और विवाह में नृत्य करती हुई स्त्रियों का यह एक प्रकार का उल्लास प्रधान होना या क्रियाविशेष को चांचर करना कहते हैं।''[३६]

(९) श्री लक्ष्मीनारायण गणि ने अपनी पुस्तक ''रासलीला एक परिचय''[३७] में लिखा है-

---

३१. 'सार्थ गुजराती जोडणी कोश'-नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद
३२. ''अभिधान चिन्तामणि''- हेमचन्द्राचार्य, पृ.सं.२१८
३३. ''रसाल'' भाषा शब्द कोश-पं. रामशंकर शुक्ल-पृ.सं. ६४५
३४. ''वस्तुपाल प्रबन्ध''-संपा. मुनि श्री जिनविजयजी-पृ.सं.१६७
३५. ''समराइच्चकहा''-प्रो. हर्मन जैकोबी, पृ.सं.५३
३६. ''आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध'' डा. हरीश, पृ.सं. २२२
३७. रासलीला एक परिचय-श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ.१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"ते-ते-गिध बोलों से युक्त ताल द्वारा रास नृत्य किया जाय अथवा चर्चरी ताल के अनुसार चार आवर्त्तन में नर्तन हो उसे चर्चरी नृत्य कहते हैं। जहाँ रास क्रम के अनुसार वाद्य बज रहा हो, युगल रूप में चर्चरी को बार-बार गाती हुई अथवा श्रृंगार वर्णन से युक्त द्विपदी को गाती हुई नायिकाएं (नर्त्तकियाँ)नर्तन करें तो उसे केवल चर्चरी कहते हैं।"[३८]

(१०) श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार-

रास की भाँति ताल एवं नृत्य के साथ विशेषतः उत्सव आदि में उपयोग की जानेवाली रचना को "चर्चरी" संज्ञा दी गयी है।[३९]

(११) श्री जिनदत्तसूरिजी की चर्चरी में उसके टीकाकार श्री जिनपाल उपाध्याय ने लिखा है कि-"भाषा निबद्ध गान-नाचकर गाया जाता है उसे चर्चरी कहते है।"[४०]

(१२) श्री हजूर प्रकाशमणि नामसाहब के अनुसार-

"चाचर एक प्रकार का फगुआ या फाग (होली)का खेल होता है। उक्त खेलों में स्त्री और पुरूष दो दलों विभक्त होकर जय और पराजय की अभिलाषा से पिचकारी और डोलचियों से परस्पर प्रतियोगिता से समाधिक जल-क्रीडा करते हैं।"[४१] वीजक से यह आभास हो जाता है कि चांचर फगुआ से संबद्ध है। फिर बीजक में दो पद चांचर के हैं। दोनों के छन्द अलग-अलग हैं। इससे सूचित होता है कि इसके लिए कोई एक शब्द नियत नहीं था।

(१३) डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी के "जनपद वर्ण" अंक १ के अनुसार-

"चर्चरी में केवल गान का रूप नहीं लिया है। आध्यात्मिक उपदेश में चर्चरी जैसे लोकप्रियगान के प्रिय विषय श्रृंगाररस का आभास देने का भी प्रयत्न है।"[४२]

---

३८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी-वर्ष-५८, अंक-४, पृ.४३१
३९. रास और रासान्वयी काव्य-डा.दशरथ ओझा, पृ.सं. ५२-पद-२१९
४०. अपभ्रंश काव्यत्रयी-प्रस्तावना
४१. हजूर प्रकाश मणि नाम साहब-
"कबीर साहब का बीजक ग्रन्थ" पृ.सं. ३६२
४२. डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, जनपद वर्ष-१, अंक ३, पृ.८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व वर्णित परिभाषाओं, व्याख्याओं एवं विद्वानों के मतों का पर्यालोचन करने के बाद चर्चरी शब्द का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

अ. चर्चरी रास (विशेषतः दंड रास) के समान वासन्तिक समूह नर्तन विशेष है।

आ. चर्चरी होली के अवसर पर दो समूहों (स्त्री-पुरूष)में परस्पर विशेष उल्लास एवं विनोदमय ढंग से प्रतियोगिता के रूप में की गयी जलक्रीडा है।

इ. इसे खेलने व गाने का प्रचलन सामान्यतः निम्न वर्ग के लोगों में था।

ई. राजस्थान प्रदेश में चर्चरी शब्द विवाह के समय किये जाने वाले क्रिया विशेष के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

उ. एक प्रकार का छन्द है। जो विभिन्न ग्रन्थों में शास्त्रीय छन्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ऊ. यह एक प्रकार का लोकगीत विशेष था। एक प्रकार का राग था, जिसको परवर्ती साहित्य में ''चर्चरी राग'' के नाम से अभिहित किया गया है।

उपरोक्त व्याख्याओं एवं वर्णनों के अलावा ''चर्चरी ''का उपयोग छन्द के रूप में भी किया गया है। यह वर्णित छन्दों में सम वृत्त का एक भेद है।

'छन्द प्रभाकर' में चर्चरी छन्द का लक्षण 'र स ज ज म र' गण के योग से बनता है।

जिसका रूप है- ।ऽ। ऽऽ। ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।।। ।ऽ।

आइरगण हत्थकाहल ताल दिज्जहु मज्झवा,
सद्धहार पलंत विण्णा विसव्वोजहिबुज्झिवा।
वेविकाहल हार पूरह संख कंकण सोहणा,
णाअराव भणंत सुंदरि चच्चरी मणमोहणा॥

इस चर्चरी छन्द के प्रत्येक चरन में १८ वर्ण होते हैं।

समग्र विवेचनों की परिचर्या से स्पष्ट होता है कि चर्चरी एक प्रकार का गीत होता है जिसको नृत्य तथा क्रीडापूर्वक गाया जाता है। धीरे-धीरे इसका प्रचलन बढ़ने लगा और १२ वीं सदी में तो चर्चरी का चतुर्दिक बोलबाला हो गया था। कालान्तर में रास के समान ही इसका भी मूलतत्व या अभिनय लुप्त हो गया और यह मात्र गीत का रूप धारण करके अविशिष्ट रहा। तत्कालीन जैन समाज में वासन्तिक उल्लास प्रेरक चर्चरी की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि चैत्यों में भी इसने श्रृंगारिक स्थान प्राप्त कर लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चरी गीत की मधुरता एवं कर्णप्रियताने लोगों को मुग्ध कर दिया। अतः चैत्यगृह भी चर्चरियों से गुंजरित होने लगे, कालान्तर में इस गीत ने विशेष छन्द का रूप धारण कर लिया।

आचार्य जिनदत्तसूरि विरचित ''चर्चरी'' इस बात का सबल प्रमाण है कि उस समय में जैन चैत्यों में श्रृंगार रस पूर्ण चर्चरियाँ चलती थीं। इसके श्रृंगारिक उत्कट रूप से श्रावकों की चारित्रिक शिथिलता की विशेष संभावना थी जिसके विरुद्ध आचार्य जिनदत्तसूरिजीने आंदोलन किया। और लोक कल्याण एवं समाज उन्नति को ध्यान में रखकर ''चर्चरी'' नामक उद्बोधन ग्रन्थ का निर्माण किया। चैत्यवास की विभिन्न आशातनाओं को देखकर धर्म के प्रति हो रही अवहेलनाओं को दूर करने के लिए उन्होने अपनी ''चर्चरी'' में उत्सूत्रभाषियों के त्याग व चैत्यगृह में अपमानद्योतक तथा श्रृंगारिक गीत, वाद्य, नर्त्तन, क्रीडा कौतुक आदि का निषेध किया। चैत्यगृहों में लकुटरास को सर्वथा त्याज्य माना।

तत्कालीन धार्मिक वातावरण तथा पद्धतिओं के अध्ययन की दृष्टि से चर्चरी ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद है। क्योंकि इसने श्रावको के शैथिल्य को दूर करने के लिए तथा जिनचैत्यों में नृत्यादि श्रृंगारिक कृतियों से जैन मुनियों एवं श्रावकों में बढ़ती हुई भावुकता का निषेध करके लोककल्याण एवं समाज सुधार का सराहनीय कार्य किया।

कार्य-कारण का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय हुआ करता है। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय में जैन साहित्य का विपुल भण्डार भरा हुआ था तो ''चर्चरी'' नामक ग्रन्थ की रचना की आवश्यकता दादा साहब को क्यों हुई ?

इसके उत्तर स्वरूप कहा जा सकता है कि विपुल भण्डार के वर्तमान होने पर भी उनसे प्राप्त होने वाले सन्देश वास्तविक संदेश न रहकर खोखले हो चुके थे। वर्तमान जैन साहित्य के उस खोखलेपन को दूर करने के लिए एवं समाज में एक सुन्दर एवं सुगठित धार्मिक समाज की स्थापना के लिए दादाजी ने उपदेश परिपूर्ण ''चर्चरी'' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार सरल, सुस्पष्ट एवं सुन्दर शैली में लिखी यह रचना उस समय के लिए खूब सहेतुक सिद्ध हुई थी।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के बाद क्रमेण ग्रन्थ के विषयवस्तु की तरफ दृष्टि करने से पता लगता है कि चर्चरी की विषय वस्तु भी अत्यन्त स्पष्ट है। अध्ययन की दृष्टि से चर्चरी को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में कुल ४७ गाथाएं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. धर्म एवं जिन स्तुति अर्थात् मंगलाचरण

२. आचार्य श्री की अन्य कवियों से तुलना तथा षड्दर्शन का वर्णन।

३. चैत्य गृहों एवं जिनालयों में बढ़ रहे पापाचरण एवं लास्यादि क्रियाओं का वर्णन।

४. उनके सुधार के लिए किये गये प्रयासों का वर्णन।

५. युग प्रधान गुरु लक्षण, संघ लक्षण, एवं विविध प्रकार के अन्य लक्षणों का वर्णन।

६. जैन धर्मानुयायियों के लिए अर्थात् श्रावक श्राविकाओं के कल्याण के लिए विविध मार्गदर्शन।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य जिनवल्लभसूरिजी की स्तुति करते हुए श्री दादाजीने उन्हें कालिदासादि कवियों से भी बढ़कर बताया है। इनकी विद्वत्ता का तथा उनके द्वारा विधि-विहित वसतिवास की स्थापना का भी विस्तृत उल्लेख है।

अनाचारी चैत्यवासियों के अविधिमार्ग के वर्णन के साथ-साथ श्रावकाचार वर्णन एवं गुर्वावलि आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

आचार्यश्री ने सर्वप्रथम मंगलाचरण स्वरूप धर्मनाथ भगवान को वन्दन करके, गुरुवर्णन में अत्युक्ति से काम किया है। गुरु की प्रशस्ति करते हुए वे कहते हैं कि-

परपरिवाइगइंदवियारणपंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ?॥ २॥

***

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्दु असद्दु वियारइ सुवियक्खणतिलउ।
सुच्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ॥ ३॥

***

सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुह गुरुहु
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु॥ ४॥

***

कालियासु कइ आसि जु लोइहिं वन्नियइ॥ ५॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुकइ विसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सु वि जिणवल्लहपुरउ न पावइ कित्ति कइ।
अवरि अणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं
तक्कव्वामयलुद्धिंहिं निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी अपने गुरु श्री जिनवल्लभसूरिजी के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- गुरुजी के गुणों का वर्णन करना मेरे सामर्थ्य के बाहर है। मैं तो एक मुख वाला हूँ उनके गुणों का वर्णन कैसे करूँ ?

जिनवल्लभसूरिजी षट्दर्शन के ज्ञाता हैं; जैनेतर वादी रूपी गजेन्द्रों को विदीर्ण करनेवाले पञ्चानन हैं। अर्थात् परवादी रूप मदोन्मत्त हाथियों का विदारण करने में पञ्चमुख सिंह के समान हैं। शास्त्रों के ज्ञान-व्याकरणशास्त्र, महाकाव्य, शुद्ध शब्दों के चयन में चतुर, छन्दशास्त्र के व्याख्याता, बृहस्पति की बुद्धि को परास्त करनेवाले, कवि माघ द्वारा प्रशंसित कालिदास, वाक्पतिराज, बाणभट्ट, मयूरादि प्रभृति से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि जब तक लोग जिनवल्लभ का नाम नहीं सुनते तभी तक कालिदासादि कवि कुल कुमुद माने जाते हैं। वाक्पति ने तो केवल प्राकृत भाषा में गौडवधादि प्रबन्ध काव्यों की रचना की है, कालिदास चित्रकाव्य के भी पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं, परन्तु जिनवल्लभ का अधिकार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई भाषाओं पर था। अतः आचार्य श्री इन कवियों में उत्कृष्ट थे। जिन्होंने विविध स्तुति, स्तोत्रपाठ तथा अन्य काव्यों की रचना की है। जिनवल्लभसूरिजी में पांडित्य का सागर प्रवाह पूर्ण था। इस प्रकार उन्हें समग्र विषयों का ज्ञान था जिसके लिए उन्हें प्रकाण्ड विद्वान कहने में कोई अत्युक्ति नहीं हैं। (२-६)

इस प्रकार चर्चरी ग्रन्थ के गाथा क्रमांक १ से लेकर ७ पर्यन्त उनके गुणों, विद्वत्ता का वर्णन खूब अच्छी तरह से किया गया है। जिस प्रकार शिष्यों के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए समर्थ गुरुओं की कल्पना की गयी है, ठीक उसी प्रकार आचार्य श्री जिनवल्लभसूरिजी समर्थ गुरुओं में से एक है। वास्तविक गुरु वही है जो सच्चे अर्थों में लोककल्याण की दृष्टि से सब के कल्याण की कामना के साथ-साथ सतत प्रयत्नशील रहे। आचार्यश्री उसी कोटि के गुरु है।

जिनवल्लभसूरिजी की स्तुति के बाद विधिचैत्यों का वर्णन करते हुए दादासाहब कहते हैं कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेईहरि अणुचियइं जि गीयइं वाइयइ
तह पिच्छण-थुइ-थुत्तइं खिड्डइं कोउयइ।
विरहंकिण किर तित्थुत्ति सव्वि निवारियइ
तेहिं कइहिं आसायण तेण न कारियइ॥ १२॥

देव मन्दिर में अनुचित गायन वादन और अभिनय के द्वारा स्तुति स्तोत्र क्रीडा और कौतुकादिकों को, विरहांक श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजा ने निश्चय करके निषिद्ध कर दिया था क्योंकि ऐसा करने से श्री वीतराग मन्दिर में आशातना लगती है। शिथिलाचारियों द्वारा फिर से प्रवर्तित उन गाने बजाने की प्रमोदजनक प्रवृत्तियों को श्री जिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज द्वारा भी निषेध किया गया हैं।

इस प्रकार गाथा संख्या १२-१३, १४-१५ और १६ में विधि चैत्यों का वर्णन किया गया तथा अकृत्य एवं कृत्यों का वर्णन किया गया है। उस समय में चैत्य गृहों में विभिन्न प्रकार के कदाग्रहियों का प्रवेश हो चुका था। वे कदाग्रही हमेशा धर्मविरुद्ध बातें करके योग्य एवं सज्जनों को भी कुविचारों के जाल में फँसा कर उन्हें धर्मच्युत करने लग गये थे। दिन प्रतिदिन उनका पतन होने लगा था। गाथा संख्या १४ में यह बताया गया है कि श्री जिनवल्लभसूरि ने भ्रष्ट लोगों को भी अपने उपदेशों के प्रभाव से धर्म मार्ग पर लगाया और भ्रष्ट होती हुई धर्मभावना को पुनः जाग्रत करके विधि मार्ग को प्रकाशवान् बनाया।

पुनः अविधि मार्ग से लौटे हुए लोग आचार्यश्री के विधिमार्ग के ज्ञान को प्राप्त कर आनन्द मग्न हो गये। आचार्यश्री विधि का वर्णन करते हुए लिखते है-

निसि न ण्हाणु न पइट्ठ न साहुहि साहुणिहि
निसि जुवइहिं न पवेसु न नट्टु विलासिणिहि॥ १६॥
निसिहिं न नन्दि करावि कुवि किर लेइवउ
बालि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिणपुरउ॥ १८॥

***

लउडारासु जहिं पुरिसु वि दिंतइ वारियइ
जहि जलकीडंदोलण हुंति न देवयह
माहमाल न निसिद्धि कयअट्ठाहियह॥ १९॥

यहाँ पर आचार्यश्री गाथा संख्या १६ से १९ गाथा के द्वारा चैत्यगृहों में होने एवं न होने वाली विधियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधि चैत्यों में आचारकर्म कराता हुआ सुविधि देखने वाला दीर्घदृष्टि लोगों को नहीं दिखाई देता। रात्रि में स्नान प्रतिष्ठा, साधु-साध्वी या स्त्रियों का प्रवेश और विलासिनियों का नृत्य आदि वर्जित है।

इन उपरोक्त कर्मों को न करने का आदेश दिया है, परन्तु समयोचित एवं सुयोग्य आचार्य के देखरेख में जिसने विधि मार्ग का उल्लंघन न किया हो। इन सबके अतिरिक्त सूर्यास्त के बाद नैवेद्य का चढाना, शयन के समय वाद्यों का वादन, रथयात्रा, दांडिया रास आदि का विरोध दर्शाया गया है।

क्यों कि उपरोक्त कर्मो से चैत्यवंदन गृहों में विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ फैलने लगती है जिससे जिनाज्ञा का पालन न होकर, आशातनाएं होती है। जिससे पापाचरण बढ़ता जाता है। और धीरे-धीरे ये कलुषित विचार एवं कलुषित कर्म चैत्यगृहों से निकलकर समाज में प्रदूषण की भाँति फैल जाते हैं जिससे लोककल्याण की जगह पर लोकपतन प्रारम्भ हो जाता है।

इसलिए इन उपरोक्त बातों का विधि-चैत्यों में निषेध किया गया है। इन शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्तियों का आचार्यश्री ने जमकर विरोध किया है।

आचार्यश्री "जिनमंदिर" में निषिद्ध वस्तुओं का वर्णन करते हुए कहते है :-

जहि सावय तंबोल न भकखहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय ॥ २१ ॥

***

जहि न हासु न वि हुड्ड न खिड्ड न रूसणउ

***

मिलिय ति केलि करंति समाणु महेलियहिं ॥ २२ ॥

***

जहि संकंति न गहणु न गाहि न मंडलउ।

***

सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणउ ॥ २३ ॥

***

आरत्तिउ उत्तारिउ जं किर जिणवरह
तं पि उत्तारिज्जइं बीयजिणेसरह ॥ २४ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत श्लोकों के द्वारा "श्री दादासाहब" जिनमन्दिरों में निषिद्ध वस्तुओं के बारे में बताते है कि :-

जहाँ पर अर्थात् जिनालयों में श्रावक द्वारा तांबूल खाना, उत्सूत्र प्रवचन करनेवाले दुष्ट साधुओं का चैत्यों में व्याख्यान तथा सांसारिक वासनाओं की वृद्धि करनेवाले गीत-भजन, श्रावकों द्वारा निन्दित कर्मों का आचरण, धार्मिक पुरुष को कष्ट पहुँचाना, शुद्ध श्रावकों को शस्त्रों[४३] के साथ जिनालयों में प्रवेश, उपहास, मजाक तथा होड़ लगाना, द्यूतादि क्रिया, नटों का चैत्य प्रवेश, संक्रान्ति व ग्रहण के समय स्नान-दान, माघमास में (माघमाला) (अष्टाह्निका पूजा में)मण्डलादि की रचना करना, मलिन वस्त्र धारण या मलिन वस्त्र से जिनेश्वर की पूजा करना, श्राविकाओं द्वारा मूल प्रतिमा का स्पर्श आदि बातों का विधि चैत्यों में निषेध किया गया है।

इन चैत्यों में अविधिमार्गनुयायियों का प्रवेश भी अभीष्ट नहीं हैं। जिन चैत्यों के सान्निध्य में न किये जाने वाले कार्यों का वर्णन इसलिए किया गया है कि-यदि उपरोक्त वर्णित क्रिया-कलाप , हास-विलास अनुपयुक्त भजन आदि क्रियाएं सम्पन्न हों तो वहाँ वास्तव्य श्रावक श्राविकाओं पर कुप्रभाव पड़ता है। जिससे संसर्गदोष उत्पन्न होना सम्भव है, जो उनके शुद्ध विधिमार्ग में बाधक है।

आचार्यश्री ने उपरोक्त बातों का उल्लेख इसलिए किया है क्योंकि उस समय उस समाज में चैत्यवास का प्रभाव था। कुरीतियों एवं कुभावनाओं का प्रभाव हो चुका था। इसी कारण आचार्यश्री को जिनचैत्यों में होती आशातनाओं का निवारण करने के लिए कुछ कटु शब्दों का उपयोग करना पड़ा। जिन चैत्य में अविधि मार्ग पर चलने वालो का प्रवेश निषेध बताया गया है। किन्तु जैनसिद्धान्तों का पालन करने वाले विधि चैत्य में जाने के अधिकारी हैं।

आचार्यश्री जिनवल्लभसूरिजी ने उत्सूत्र बातों का तथा सूत्रानुसारी विधिमार्ग का स्पष्ट निर्देश किया है। केवल उत्सूत्र तत्त्वों का निषेध नहीं किया, किन्तु जिन मन्दिरों में प्रशस्ति रूप में उन्हें लिखवा कर आगे के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया है। २८ ॥

---

४३. इअ पंचविहाभिगओ अहवामुच्चमुच्चंति रायतिण्हाइं।
खग्ग छत्तोवाणह मउडं चामर अ पंचमए॥ २१ ॥
अर्थ :-चैत्यवंदन भाष्य में ५ अभिगमों का वर्णन आता है । जिनमंदिर में जाते समय तलवार (खड्ग) छत्र, पादूका, मुकुट और चामर का त्याग करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस उक्ति के द्वारा भावी पीढी को भी जाग्रत किया गया है। चर्चरी टीकाकार जिनपालोपाध्याय ने इसकी व्याख्या करते हुए प्रशस्तियों में निम्नलिखित निर्देश किया है। [४४]

उपरोक्त बातों के स्पष्टीकरणोपरान्त तीन प्रकार के चैत्य का वर्णन किया गया है :-

उस्सग्गिण विहिचेइउ पढमु पयासियउ।
निस्साकडु अववाइण दुइउ निदंसियउ।
जहि किर लिंगिय निवसहि तमिह अणायरणु।
तहि निसिद्धु सिद्धंति वि धम्मियजणगमणु॥ ३८-३९॥

जिन चैत्यों के वर्णन के साथ-साथ उसमें गमन निर्देश तथा उससे होनेवाले हानि-लाभ का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

१. विधि चैत्य - (अनिश्राचैत्य) जो शास्त्र सम्मत है, आयतन है, जिसमें उपर्युक्त कथित आशातनाओं का अभाव है, शुद्ध धर्म का पालन करनेवाले, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका जाते रहते हैं। जिसमें किसी का ममत्व एवं स्वामित्व नहीं है। जहाँ रात्रि में स्नान, दीक्षा आदि निषेधात्मक कार्य नहीं होते उसे विधि चेत्य कहते हैं। वहाँ जाने से शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त होती है।

२.निश्राकृत चैत्य- पार्श्वस्थादिकों से प्रेरित होकर श्रावक जिन चैत्यों का निर्माण करवाते हैं उसे निश्राकृत चैत्य कहते हैं। इन निश्राकृत चैत्यों में उनकी ममत्व-स्वामित्वभावना रहती हैं। इन चैत्यों का उपयोग (दर्शनार्थ)विधिचैत्य के अभाव में अष्टमी, चतुर्दशी तथा पर्यूषण आदि पर्वों पर श्रावक-श्राविकाओं एवं साधु-साध्वी अपवाद में जिन वन्दन का कार्य कर सकते हैं। इसलिए चर्चरी में स्पष्ट लिखा है -

"विणु कारणि तहि गमणु ण न कुणहिं जिणुसुविहिइं"[४५]

---

४४. असूत्रोत्सूत्र जनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि॥
जातिज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलानि,
व्यासाऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीवीरचैत्यालये॥
इह न लगुडरासः स्त्रीप्रवेशो न रात्रौ।

४५. श्री जिनवल्लभसूरि आगमोद्धार में लिखते हैं :-
अवसन्ना एव तत्रैव यान्ति चैत्यवन्दकाः।
येषां निश्रया तद्भवनं श्राद्धभिरपि कारितम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अनायतन चैत्य-

चैत्य वर्णन के प्रकार में अनायतन चैत्य को तृतीय क्रम पर रखा गया है। इसमें वेशधारी साधु जो शास्त्र विरुद्ध आचरण करने के कारण साधु नहीं है। जनता को साधु प्रतीत होते हैं। अतः उन्हें साध्वाभास भी कहते हैं। ये जिन मन्दिरों में निवास करते हैं। देव-द्रव्य भक्षण करते हैं। जिन मन्दिर में भोजन शयनादि आशातनाओं में लिप्त रहते हैं। ऐसे मन्दिरों में श्रावक साधु आदि को जाने से ज्ञानादि लाभ नहीं होता है। इसलिए इसे अनायतन कहा गया है। ऐसे चैत्यों में विधि-चैत्य के अभाव में भी पर्वादि अवसरों पर नहीं जाना चाहिए। जहाँ शास्त्र विरुद्ध आचरण होता है ऐसे मन्दिर में नहीं जाना चाहिए। ओघनिर्युक्ति एवं आवश्यक सूत्र में भी निश्राकृत चैत्यरूप को अनायतन बताया है। अनायतन में जानेवालों को नरकादि में जाना पड़ता है।[४६] अतः जाने का निषेध किया गया है। (२७-३८)

उपरोक्त वर्णन के अलावा चैत्यों के प्रकार में भी कहीं-कहीं भिन्नता देखने को मिलती है। श्री श्राद्धदिनकृत्य सूत्र में चैत्य चार प्रकार के बताये गये हैं।[४७]

आचार्य वर्य अन्तिम सात गाथाओं के द्वारा वल्लभसूरिजी की महिमा का उल्लेख करते हैं-

तसु पयपंकयउ पुन्निहि पाविउ जणभमरु।
सुद्ध नाग-महु पाणु करंतउ हुइ अमरु।
सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केन समाणु सहि ?॥ ४३॥

---

४६. नाणस्स दंसणस्स य चरणस्स य जत्थ होइ उवघातो।
वज्जिज्ज वज्ज भीरु अणाययण वज्जओ खिप्पं॥
ओघ निर्युक्ति-द्रोणिया वृत्ति-गाथा-७७८ पृष्ठ सं. २२४
उपरोक्त बातों के स्पष्टीकरणोपरान्त तीन प्रकार के चैत्यों का वर्णन किया गया है।

४७. श्राद्धदिनकृत्य सूत्र के अनुसार चार प्रकार के चैत्य है :-
(१) शाश्वत चैत्य - जैसे नंदीश्वर द्वीपादि (२) भक्ति चैत्य (अ) निश्राकृत चैत्य। (ब) अनिश्राकृत चैत्य। (३) मंगल-चैत्य-मथुरा नगरी में घर मन्दिर प्रत्येक घर में होते हैं। (४) साधार्मिक चैत्य - साधर्मिक बन्धु की मूर्तिवाले चैत्य समझना। प्रकाशन जैनधर्मप्रचारक सभा भावनगर, पृ.सं.५०-५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् श्री जिनवल्लभसूरीश्वर महाराजा के चरण कमलों को प्राप्त करके ज्ञानरूपी मधु का पान करता हुआ जन भ्रमर अमर हो जाता है। शुद्ध ज्ञानी होने के कारण समस्तपवित्र शास्त्रों को भी वह जानता है।

गुरु जिनवल्लभ के गुण अपरम्पार हैं। उनके गुणों का वर्णन करना अति कठिन है। जो भव्यात्मा गुरु जिनवल्लभ की आज्ञा का पालन करेगा, उनके सात [४८] भव-भयों का नाश होगा और आत्मलक्ष्मी को प्राप्त करेगा। आचार्य जिनदत्तसूरिजी की गुरुभक्ति अजोड़ थी। प्रत्येक कृति में अपने गुरु के गुणों का वर्णन करने में कहीं भी चूके नहीं हैं। यह उनकी विशिष्ट गुरु भक्ति का प्रमाण है। इस प्रकार उन्होने गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही सर्वोपरि बताया है। यह भी जान लेने की आवश्यकता है कि गुरु प्रदत्त ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य जन्म जन्मांतर के बन्धन से मुक्त हो सकता है। उस ज्ञान के आधार पर संसार के किसी भी कोने में सिंह की भाँति अपने ज्ञान का प्रचार-प्रसार सिंह की दहाड़ के साथ कर सकेगा।

अब गुरु जिनवल्लभसूरिजी की गुरु परम्परा का वर्णन गाथा सं.४४ के द्वारा प्रस्तुत करते हैं-

वद्धमाणसूरिसीसु जिणेसरसूरिवरु
तासु सीसु जिणचंद जईसरु जुगपवरु।
अभयदेउ मुणिनाहु नवंगह वित्तिकरु
तसु पयपंकय-भसलु सलक्खणु चरणकरणु ॥ ४४ ॥

आचार्य युगप्रधान श्री वर्द्धमानसूरिजी के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि, उनके शिष्य नवांगी वृत्तिकार[४९] श्री अभयदेवसूरि, उनके चरणाश्रित जिनवल्लभसूरिजी हुए। जिनके गुणों का अन्त ही नहीं, अपार हैं, असीम हैं। उनकी कृपा से मैं (जिणदत्त)धर्म में स्थापित हूआ हूँ।

इस प्रकार गुरु परम्परा का वर्णन किया गया है।

---

४८. सप्तभय - इहलोकभय - परलोकभय - अकस्मात् भय- आजीवभय - मरणभय-असिभय लोकभय।

४९. नवांगी वृत्ति- जैनों में ४५ आगमों का विभाजन निम्न प्रकार है -११ अंग। १२ उपांग। ४ मूल। ६ छेद। १० पइण्णा अर्थात् प्रकीर्णक। २ चूलिकासूत्र/कुल ४५ आगमश्री अभयदेवसूरि ने ११ अंगों में से प्रथम-द्वितीय आचारांग और सूत्रकृतांग को छोड़कर नव अंग सूत्रों पर टीका लिखी थी। इसलिए नवांगी वृत्तिकार कहे जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार गुरु परम्परा का यहाँ वर्णन किया गया है।

अन्तिम गाथा में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार अपना नाम (श्री जिनदत्त)स्पष्ट करते हैं। पुनः जिनदत्त के द्वारा स्तुति फल का वर्णन निम्न प्रकार है-

इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह,
नायसमयपरमत्थह बहुजणदुल्लहह।
तसु गुणथुइ बहुमणिण सिरिजिणिदत्तगुरु
करइ सु निरुवमु पावइ पइ जिणदत्त गुरु॥ ४७॥

इस प्रकार युगप्रधान ज्ञान सिद्धान्तपरमार्थ, जीवों के लिए दुर्लभ ऐसे श्रीमज्जिनबल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की गुण स्तुति बहुमानपूर्वक, श्री सम्पन्न जिनेश्वर भगवान के दिये हुए शासन के पालन से गुरूता प्राप्त ऐसा जो श्री जिनदत्तगुरु की भव्य स्तुति करता है वह श्री जिनेश्वर भगवान प्रदत्त अर्थात् सिद्धान्त में दिखाए हुए गुरु निरूपम-मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार विवेचन स्वरूप कहा जा सकता है कि संसार की आशातनाओं से बचने के लिए, भव से छुटकारा पाने के लिए यदि कोई रास्ता संसार में है तो वह है श्री जिनेश्वर भगवान प्रदत्त सिद्धान्त एवं सिद्धान्तों के अनुरूप ही चैत्यों एवं जिनमन्दिरों की नियमावली के द्वारा गुरुओं की वन्दना करके एवं धर्म मार्ग पर चलकर परमपद को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयासशील रहना। इस प्रकार चर्चरी ग्रन्थ में गुरु स्तुति करते हुए विधि मार्ग और अविधि मार्ग का निरूपण किया गया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि-

(अ) यहाँ प्राचीन चर्चरी नर्तन में विद्यमान श्रृंगार रस पूर्ण कथानक की अपेक्षा धार्मिक शास्त्र समीक्षा तथा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है।

(आ) चारित्रिक शैथिल्य दूर करने हेतु लकुटरास, नर्तन, वाद्य, क्रीडा, कौतुक आदि को निषिद्ध माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि इस रचना से पूर्ववर्त्तीकाल में जैन चैत्यों में भी श्रृंगाररस पूर्ण चर्चरियों का गुंजार विद्यमान था।

(इ) चर्चरी का साहित्यिक स्वरूप गीति काव्य में विकसित हो गया था। जिसका परवर्त्ती जैन कवियों ने अनुगमन किया है।

(ई) उपाध्याय जिनपाल ने चर्चरी की व्याख्या में (अपभ्रंश काव्यत्रयी-प्रस्तावना, पृ. सं. ११४)लिखा है कि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''यह चर्चरी नृत्य करनेवाले ''प्रथममंजरी''भाषा में गाते थे अर्थात् ''यह भाषा निबद्ध-गान नाच नाच कर गाया जाता है।'' इस प्रकार इस नृत्य गीतात्मक कृति के द्वारा गुरु की स्तुति की है।

प्रारम्भ में भाषा के विषय में विवरण दिया जा चुका है फिर भी उदाहरण की दृष्टि से देखें तो चर्चरी की भाषा तत्कालीन समाज में प्रचलित अपभ्रंश भाषा है। यत्र-तत्र प्राप्त सरल हिन्दी के रूपों से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार अपभ्रंश भाषा विकसित होकर नया मोड़ ले रही थी। सरल हिन्दी के स्वरूप के उदाहरण -

जो वायरणु वियाणइ सुह-लक्खण-निलउ
सदु असदु वियारइ सुवियक्खण-तिलउ।
सुच्छिंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ,
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ॥ ३॥

प्रस्तुत गाथा देखने से ही आचार्यश्री की सरल अपभ्रंश का अनुमान हम कर सकते हैं। आप की भाषा में अनेक तत्कालीन देश्य शब्द भी देखे जाते हैं।

छन्दः-

मात्र एक ही प्रकार का छन्द अर्थात् ''रासावलय'' नामक मात्रिक छन्द का प्रयोग साद्यान्त इस ग्रन्थ में हैं।

रासावलय छन्द में ६+४+६+५=२१ मात्राएं पायी जाती हैं।

उदा. *नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह।*
पायकमलु ससि-निम्मलु सिवगयगामियह।
करिमि जहट्ठिय गुणथुई सिरिजिणवल्लहह।
युगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह॥

(चर्चरी पद्य सं. १)

रस :-

प्रस्तुत ''चर्चरी''नामक ग्रन्थ में जैनधर्म की सैद्धान्तिक चर्चा हुई है। जैन आचार्य शान्तिप्रिय थे और सर्वत्र शान्ति का वातावरण भी प्रसारित करना चाहते थे। इसलिए उनकी रचनाओं में सर्वत्र ''शान्त''रस ही अवलोकनीय है। पुनः गुरु व धर्म के वर्णन में ऐतिहासिक सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व अपने आप में अनूठा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलंकार :-

अलंकारो में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष आदि का प्रयोग किया गया है। गुरु गुण वर्णन में उपमा एवं रूपक की छटा तो देखते ही बनती है-

उदा.

अनुप्रास अलंकार :-

(१) *जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ*
जाणइ जिव निय नामु न तिण जिव कुवि घणइ।
परपरिवाइगइंदवियारण पंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ? ॥ २ ॥

प्रस्तुत गाथा में म, ण, इ और व वर्णों के बार-बार प्रयुक्त होने से इसमें अनुप्रास अलंकार है।

(२) *परिहरि लोयपवाहु पयट्टिउ विहिविसउ*
पारतंति सहु जेण निहोडि कुमग्गसउ।
दंसिउ जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ
वद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरंतरउ ॥ १० ॥

प्रस्तुत गाथा में प, ह और व वर्ण के बारम्बार उच्चारण से अनुप्रास अलंकार है।

उपमा अलंकार :-

नमिवि जिणेसर धम्मह तिहुयण सामियह
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगय गामियह।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणिवल्लहह
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणिदुल्लहह ॥ १ ॥

त्रिभुवन के स्वामी शिवगति में गये हुए जिनेश्वर श्री धर्मनाथ स्वामी के चन्द्र के जैसे निर्मल चरण कमल को नमस्कार करके।

यहाँ पर-

ससि निम्मलु- शशिनिर्मल अर्थात् चन्द्रमा के समान-निर्मल चरण में उपमा अलंकार है। जबकि -

पायकमलु में रूपक अलंकार है। क्योंकि पायकमलु अर्थात् पादकमल दूसरे शब्दों में कहे तो कमलरूपी चरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधाभास अलंकार :-

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ।
परपरिवाइगइंदवियारण पंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ॥ २ ॥

जो अप्रमाण अर्थात् सर्वथा प्रमाण रहित होते हुए भी छह दर्शनों के प्रत्यक्षादि बहुत प्रमाणों को अपने नाम के जैसे जानते है।

जो अप्रमाण अर्थात् सर्वथा प्रमाणरहित होने पर भी बहुत प्रमाणों से युक्त है। इसलिए विरोधाभास अलंकार है।

इक्कवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइ घणइं
किं व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ।
तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
होइ अंतु सुनिरुत्तउ तव्वयणुज्जयह ॥ ४१ ॥

श्री जिनवल्लभ प्रभु एकवचनी होते हुए भी श्री वीरषट् कल्याण-विधि-विषय-पारतन्त्र-चैत्य साधुगत कृत्याकृत-छह हाथ प्रमाण साधु प्रवारण कल्प कषायादि द्रव्याहत जलग्रहणादि बहुत से वचनों को कैसे बोल सकते हैं। एक वचन की शक्तिवाला बहुत वचनों को कैसे बोल सकता है।

यहाँ पर दोनों बातें एक दूसरे से विरोधी हैं इसलिए विरोधाभास अलंकार है।

श्लेष अलंकार :-

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्दु असद्दु वियारइ सुवियक्खणतिलउ।
सुच्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहिं पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

यहाँ पर तृतीय और चतुर्थ चरण में अच्छे यतिविरामवाले नगण-रगण सहित विशिष्ट जगण यगण आदि गणों को छन्दों का उचिततापूर्वक उपयोग किया है। दूसरे अर्थ में सुयति मान्त्र जनहितकारी व्याख्यान के पश्चात् बड़े-छोटे मुनियों को पाकर उनको यथास्थान आचार्यादि पद पर प्रतिष्ठित करते थे। यहाँ द्वि-अर्थकता श्लेषालंकार दर्शाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिशयोक्ति - अलंकार :-

कालियासु कई आसि जु लोइहिं वन्नियइ
ताव जाव जिणवल्लहु कइ नाअन्नियइ।
अप्पु चित्तु परियाणहि तं पि विसुद्ध न य
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

यहाँ पर जिनवल्लभसूरि की प्रभा एवं ऐश्वर्य के सामने कालिदासादि कवियों की कुछ भी पहचान नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि अन्य कवियों की पहचान मात्र तब तक है जब तक जिनवल्लभसूरी का उदय नहीं होता।

यहाँ पर बातों की चर्चा को स्वाभाविकता से उपर उठा दिया गया है अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

***

३. कालस्वरूप कुलक

'कालस्वरूपकुलक' अपभ्रंश भाषा में विरचित लघु कृति हैं। इसमें ३२ पद्य, पद्धटिका (पद्धड़िया)छंद का प्रयोग किया गया है।

इस कृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस कृति पर अनेक वृत्तियाँ और संस्कृत छाया सह हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हैं।[५०]

प्रस्तुत कृति में १२ वीं सदी के समय की सामाजिक स्थिति का विषम स्वरूप दिखलाया गया है। जिसके अन्तर्गत लोगों में धर्म के प्रति अनादर, मोह, निद्रा की प्रबलता और गुरु वचनों के प्रति अरुचि, श्रद्धाहीन लोगों का विपरीत व्यवहार, असंयत की पूजा आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

---

५० (अ) प.पू. श्री जिनपतिसूरिजी के शिष्य सुरप्रभ उपाध्याय द्वारा संस्कृत में वृत्ति लिखी गयी।

(ब) अपभ्रंश काव्यत्रयी - मूल सह संस्कृत छाया, पृष्ठ ६७ से ८०, प्रकाशन- ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा.

(क) चर्चर्यादि संग्रह, सह भाषान्तर- जिनहरिसागरसूरि, पृ.४४-५३, प्रकाशक- जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कृति का विषय पूर्णतः धर्मोपदेश है। जनसामान्य के लिए यह रचना अत्यन्त उपयोगी है। कालस्वरूप कुलक के द्वारा अध्यात्मजीवन की शिक्षा जनसामान्य के हृदयंगम कराना ही मुख्य हेतु रहा है।

श्री जिनदत्तसूरि द्वारा रचित कालस्वरूप कुलक की भाषा के विषय में विचार करने से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ भी बारहवीं शताब्दी का होने के कारण अपभ्रंश भाषा में ही रचा गया है। रचनाओं को विद्वत्तापूर्ण एवं समास के काठिन्य से दूर रखकर व्याकरण के सरल नियमों को ध्यान में रखकर तत्कालीन सामान्य समाज एवं जनसमुदाय तक प्रचलित लोकभोग्य भाषा का प्रयोग ही विद्वत्ता कहलाती है। उस समय समाज में अपभ्रंश भाषा का सर्वाधिक प्रचार प्रसार हो चुका था। युगप्रधान आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी तत्कालीन भाषा के भी मर्मज्ञ थे, इसलिए अपभ्रंश भाषा के साथ रचना में सामान्य देशज शब्दों का भी उपयोग किया है। भाषा में उकार, हकार के बाहुल्य ने उसे ओर भी अलंकृत कर दिया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि "लोकभोग्य अपभ्रंश भाषा के द्वारा आचार्यश्रीने कालस्वरूप कुलक के माध्यम से जन-जन तक अपने उपदेशों को पहुँचा दिया है।"

भाषा आलंकारिक, सरल और लघु समासयुक्त है।

रचना के हेतु की तरफ ध्यानाकर्षण करने से तत्कालीन समस्त परिस्थितियों का अवलोकन करना आवश्यक हो जाता है। जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में कहे तो "आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है।" के आधार पर बारहवीं शताब्दी में चैत्यवास की परम्परा एवं उसमें हो रहे शास्त्र- अविधियुक्त कार्यों से सम्पूर्ण जैन सम्प्रदाय दूषित हो चुका था। जिनालयों और उपाश्रयों तक ही यह दूषण सीमित न रहा। धीरे-धीरे इसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज की तरफ बढ़ने लगा। समाज भी इन कुरीतियों एवं कदाचारों से अछूता न रहा। क्योंकि यदि समाज का रक्षक ही भक्षक का रूप धारण करें तो समाज की रक्षा असम्भव हो जाती है। यदि उपदेशक एवं रचनाकार भी अविधि के मार्ग पर चलने लगे तो उस उपदेशक के उपदेश एवं रचनाकार की रचना समाज के लिए कालस्वरूप बन जाती है।

आचार्य श्री से पूर्व समाज की विभिन्न परिस्थितियों का अवलोकन संक्षेप में इस प्रकार हैं-

ग्रन्थ की दूसरी गाथा के अनुसार शनि के मेष राशि पर आगमन से देश में विप्लवकारी उपद्रव प्रारम्भ हो चुके थे। लोग धर्म से परे होकर देव गुरु की अवहेलना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके दुःखी हो रहे थे। संसारी पुरुष उपदेशों के श्रवण एवं आचरण से दूर भागते थे। साधु लोग भी साधुता के नाम पर कलंक बन चुके थे। बाह्याडम्बर से समाज में चारों ओर व्यभिचारियों जैसा निन्दनीय कार्य करने लग गये थे। एक दूसरे के दुःख से दुःखी न होकर सुख का अनुभव करते थे। दूसरों की उन्नति में हमेशा बाधक स्वरूप बनने लगे थे।

जिनालयों एवं चैत्यों में शुद्ध एवं वास्तविक मुनियों का स्थान नाममात्र हो चुका था। समाज में पारिवारिक समस्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। लोग छोटे-बड़े, ऊँच-नीच के मान सम्मान का भी ध्यान नहीं रखते थे। परिणामस्वरूप समाज एवं देश की स्थिति अजीबोगरीब हो चुकी थी।

ऐसी दयनीय हालत को देखकर "युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरिजी" से न रहा गया। उन्होंने लोककल्याण के लिए देश के उत्थान में बड़ा भारी कार्य जो समाजसुधार का था उसे प्रारम्भ किया और 'कालस्वरूपकुलक' की रचना करके उसके उपदेशों के द्वारा समाज को चेतनायुक्त करके जाग्रत किया।

विषयवस्तु को विस्तृत रूप में निम्न प्रकार देखा जा सकता है -

आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी प्रथम गाथा में अपने गुरु श्री जिनवल्लभसूरिजी का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

पणमवि वद्धमाणु जिणवल्लहु
परमप्पय लच्छिहिं जिणवल्लहु।
सुगुरुवएसु देमि हउ भव्वह
सुक्खह कारणु होइ जु सव्वह ॥ १ ॥

भगवान महावीर को प्रणाम करके और गुरु श्री जिनवल्लभ को प्रणाम करके उनके उपदेश जो जनता के लिए सुखस्वरूप हैं, उसे जनता तक पहुँचाता हूँ।

प्रस्तुत गाथा में आचार्यश्री ने गुरुपरम्परा को विशेष मत्त्व दिया है, एवं विघातक तत्त्वों को दूर करने के लिए महावीर भगवान को प्रणाम करके फिर गुरु को प्रणाम करते हैं। तत्कालीन दुःखी जनता के दुःख को दूर करने के लिए उनके उपदेशों का प्रचार-प्रसार करते हैं।

द्वितीय गाथा के द्वारा उनके ज्योतिषी होने का भी प्रमाण मिलता है। तीसरी, चौथी, पाँचवी और छट्ठी गाथा में समाज में होनेवाले प्रभाव का उल्लेखादि निम्न प्रकार है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीण सणिच्छरंमि संकतइ
मेसि जंति पुण वक्कु करंतइ
देस भग्ग परचक्क पइट्ठा
वड वड पट्टण ते पब्भट्ठा ॥ २ ॥

***

मोहनिद्द जणु सुत्तु न जग्गइ
तिण उट्ठिवि सिवमग्गि न लग्गइ।
जइ सुहत्थु कु वि गुरु जग्गावइ
तु वि तव्वयणु तासु नवि भावइ ॥ ५ ॥

***

परमत्थिण ते सुत्त वि जग्गहि
सुगुरु-वयणि जे उट्ठेवि लग्गहिं।
रागदोस मोह वि जे गंजहि
सिद्धि-पुरंधि ति निच्छइ भुंजहि ॥ ६ ॥

गाथा संख्या द्वितीय में -मीन राशि में शनिचर के संक्रान्त होने से देश की हालत खराब हो चुकी है, उपद्रव बढ़ गया है, बड़े-बड़े शहर भी नष्ट हो चुके हैं।

गाथा संख्या तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम के द्वारा प्रत्येक संसारी का दुःखी होना, धर्म से विमुख होना, द्रव्यप्रेमी होकर गुरु एवं जिनभगवन्तों का अनादर करना, मोक्षमार्ग से दूर रहना उल्लिखित हैं।

सद्गुरु की कृपा का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

अगर परचक्रों का उपद्रव बढ़ जाय तो बड़े-बड़े शहर भी नष्ट हो जाते हैं, महान् उपद्रव होते हैं तो धर्म प्रायः लुप्त हो जाता है। वि.सं. १२ वीं सदीं का सामाजिक वातावरण भी अशान्तपूर्ण था। घरों में सुख का विनाश हो गया था। ऐसी स्थिति में संसारी व्यक्तियों के लिए दुःख निवारण का एक ही साधन था।

वह था सद्गुरुओं का सत्संग। लेकिन संसारी प्राणी-देव, गुरु और धर्म की उपेक्षा करते थे और धन के पीछे दौड़ लगाते थे। सद्गुरुओं के सत्संग से व्यक्ति धर्म का मर्म जान कर आत्मोत्थान कर सकता है।

आचार्य श्री मोहान्ध व्यक्तियों को जाग्रत करते हुए कहते हैं कि-

मनुष्य मोहान्ध होकर संसार में भवभ्रमण कर रहा है, मोह की नींद में सो रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जब तक मोह निद्रा का भंग नहीं होगा तब तक शिव मार्ग पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। यदि कोई मोहान्ध व्यक्ति सद्गुरुओं का उपदेश सुनकर जाग्रत होता है तो वह रागद्वेष पर विजय प्राप्त करके निश्चय ही मोक्ष पद को प्राप्त करता है। निश्चिततापूर्वक वे शिव सुन्दरी को भी भोगते हैं।

आचार्य श्री कुगुरु एवं बनावटी वेशधारी मुनियों के वर्णन के साथ-साथ उनसे सतर्क रहने के लिए गाथा सं.७ से ९ तक के माध्यम से कहते हैं -

बहु य लोय लुंचियसिर दीसहिं
पर राग-दोसिहिं सहुं विलसहिं।
पढहिं गुणहि सत्थइं वक्खाणहि
परि परमत्थु तित्थु सु न जाणहि॥ ७॥

***

तिणि वेसिणि ते चोर रिहिल्लिउ
मुसहि लोउ उम्मग्गिण धल्लिउ
ताहं पमत्तउ किवइ न छुट्टइ
जो जग्गइ सद्धम्मि सु वट्टइ॥ ८॥

***

ते वि चोर गुरु किया सुबुद्धिहि
सिववहुसंगमसुहरसलुद्धिहि।
ताहि वि खावहि अप्प-उपासह
छुट्टइ कह वि न जिंव भवपासह॥ ९॥

***

संसार में नकली साधुओं का वर्णन करते है कि- लुंचित केश वाले एवं मुंडित लोग उस समय बहुत बढ़ गये थे। परन्तु उनमें परमार्थ एवं साधुता की भावना नाम-मात्र की भी नहीं थी।

वेषधारी साधुओं का व्यवहार चोरों जैसा होता था। वे सीधे-साधे एवं भोले-भाले लोगों को गलत मार्ग में ले जाकर उनको ठगते थे।

संसारी लोग भी कुगुरुओं के चक्कर में आ करके सुरा सुन्दरियों के विलास में लग जाते थे। उससे छूटना मुश्किल हो जाता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री भद्र जीवों को बोध देते हुए कहते हैं कि-

वेषधारी साधुओं का सत्संग न करें। संसार में बहुत से लुञ्चित एवं मुण्डित दिखलायी पड़ते हैं परन्तु उनमें ज्ञान कम पर रागद्वेष ज्यादा दिखाई पड़ता है। वे शास्त्र पढ़ते हैं, निवर्चन व्याख्यान करते हैं किन्तु परमार्थ नहीं जानते। ऐसे वेषधारी साधु संसार में रहनेवाले भद्र जीवों को ठगते हैं। इसी कारण ये अपनी अविवेकपूर्ण बुद्धि से संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

कबीर ने भी इसका विरोध करते हुए कहा है-

''मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा,''

अर्थात् वास्तविक साधुता तो आन्तरिक मन के द्वारा ही की जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो मन में रहे हुए कषायों के शमन से मुक्ति प्राप्त होती है। जो मन के द्वारा साधु बनता है, सदाचरण करता है, दुराचार एवं दुराचारियों का विरोध करता है वहीं सच्चा साधु है। जो सम्यक्त्व को प्राप्त करने की इच्छावालें हैं उन्हें सही अर्थों में सुगुरु एवं कुगुरु की पहचान करना आवश्यक है।

आचार्य श्री कुगुरु एवं सुगुरु का अन्तर एक सुन्दर रूपक के द्वारा बतलाते हैं।-

दुद्धु होइ गोयक्किहि धवलउ
पर पेज्जंतइ अंतरु बहलउ।
एक्कु सरीरि सुक्खु संपाडइ
अवरु पियउ पुणु मंसु वि साडइ॥ १०॥

गाय और आक का दुग्ध धवलता में समान होता है। परन्तु आन्तरिक रूप से बहुत ही अन्तर वाला होता है एक तो (गोदुग्ध) मानसिक एवं शारीरिक शक्ति को पुष्ट करता है जबकि दूसरा आक का दूध मनुष्य की शक्ति को विनष्ट कर देता है।

गाय का दूध और आंकड़ेका दूध बाह्य रूप से समान होता है, लेकिन पीने से वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।

गाय का दूध मीठा एवं गुणकारी होता है परन्तु आक का दूध ''तूरा'' लगता है। गाय का दूध शरीर के अवयवों को पुष्ट करता है। तो आक का दूध शरीर का विनाश करता है। इसी प्रकार सुगुरु और कुगुरु बाह्य दृष्टि से समान होते हैं। लेकिन आन्तरिक दृष्टि में बड़ा अन्तर होता है। एक भव्यात्मा को सन्मार्ग में प्रेरित कर मुक्ति पथ बतलाता है तो दूसरा कुमार्ग में प्रवृत्त कर नरकगामी बनाता है। कुगुरु एक प्रकार से आन्तरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्याधि है। यह संसार भी धतूरे के उस फूल के समान सुन्दर और आकर्षित करनेवाला है, जो पौधे में लगा हुआ मनोहर लगता है किन्तु जब उसका दुग्धपान किया जाता है, तब इन्सान भ्रमित हो जाता है। ठीक धतूरे के फूल के समान कुगुरु उपर से अच्छे लगते हैं। लेकिन उनके संग के परिणाम भयंकर आते हैं। जो सद्गुरुओं का सत्संग करते हैं वे परम पद को प्राप्त करते हैं।

आचार्यश्री संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

इय मणुयत्तु सुदुल्लहु लद्धउ
कुल-बल-जाइ-गुणेहिं समिद्धउ।
दस दिट्ठंत इत्थ कर दिन्ना
इहु निप्फलु ता नेहु म धन्ना ॥ १३ ॥

कुल, बल, जाति एवं गुणों से समृद्ध यह मनुष्यत्व बड़े दुःख से मिला है। इसे व्यर्थ में निष्फल मत होने दो।

मनुष्यजीवन अति दुर्लभ है। बड़े पुण्य से यह देह प्राप्त हुई है। साथ में आर्यदेश, उत्तम कुल, उत्तम (वंश)जाति प्राप्त हुई है। सब कुछ अच्छी तरह से मिलने के पश्चात् भी हम इसे सार्थक नहीं बना रहे हैं। क्योंकि मानवमन बड़ा ही चंचल है, आयुष्य क्षणभंगुर है। ये सब कुछ जानते हुए भी जिनेश्वर के बताये अनुसार मार्ग पर चलने वाले भाग्यशाली विरले ही होते हैं। संसारी पापी बहुत से तो ऐसे होते हैं कि वे सद्गुरु का उपदेश सुनते हैं, पढ़ते हैं फिर भी आचरण नहीं करते है। इस प्रकार आचार्यश्री ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर जोर देते हुए लोगों को सचेतन करने का प्रयत्न किया है।

पुनः आचार्यश्री सद्गुरु की पहचान के विषय में कहते है कि

जमणाययणु जिणेहि निदंसिउ
तं वंदहि बहुलोयनमंसिउ।
जे रयणित्थि लोय ते थोवा
अइसउ न मुणवि अंतरु धोवा ॥ १९ ॥

तीर्थंकर देवों ने जो अनायतन बताया हैं, उसको बहुत लोग नमस्कार करते हैं। अनायतन को वंदन करते हैं। ठीक ही कहा है रत्नों के अर्थी वास्तविक ग्राहक थोड़े ही होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि रत्नों के सही ग्राहक कम होते है क्योंकि रत्न बड़े कीमती होते हैं। जौहरी ही शुद्ध रत्नों की पहचान कर सकता है। अर्थात् मानवजीवन का मूल्यांकन मन्द बुद्धिवाले नहीं कर सकते हैं। और नही वे सद्गुरु के उपदेशित मार्ग पर ही चल सकते हैं। क्योंकि इस पंचम काल में मानव अपनी आत्मा की पहचान कम कर सकता है। धर्म की राह पर चलना उसे कठिन लगता है। उसे सच्चे साधु की संगति भी अच्छी नहीं लगती है। क्योंकि सत्य एवं सन्मार्ग बड़ा ही कठिन होता है।

धर्म एवं सुख के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करते हुए गाथा संख्या २३ का उल्लेख निम्न प्रकार हैं-

ईसर धम्म-पमत्त जि अच्छहि
पाउ करेवि ति कुगइहिं गच्छहि।
धम्मिय धम्मु करंति जि मरिसिहिं
ते सुहु सयलु मणच्छिउ लहिसिहिं॥ २३॥

ऐश्वर्य संपन्न लोग धर्म में प्रमादी रहते हैं। वे पाप कर्मों के द्वारा कुगति में जाते हैं। धार्मिक लोग धर्म करते हुए परमात्म पद को प्राप्त कर समस्त सुखों को प्राप्त करते हैं।

जो लोग नियम एवं न्यायपूर्ण धन कमाकर ऐश्वर्यशाली एवं सम्पन्न बनते हैं उन्हें उस सम्पन्नता का दुरुपयोग न करके उसका सदुपयोग करना चाहिए क्योंकि

धनाद् धर्मः ततः सुखम्॥

अर्थात् धन से धर्म में प्रवृत्ति होती हैं, धर्म से सुख की प्राप्ति है। इस प्रकार जो ऐश्वर्यशाली जीव धर्म में प्रमाद करते हैं और पापों में तल्लीन रहते हैं वे पापी जीव मरकर कुगति को प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत जो धार्मिक मनुष्य सच्चे साधु के बचाये हुए मार्ग पर चलता है, धर्म में तत्पर रहता हैं, वह मरकर भी समस्त सुखों को प्राप्त करता है। जिस प्रकार चाहिल[५१] श्रावक धर्म में आसक्त रहकर अपने पुत्रों को योग्य शिक्षा देता रहता

५१. अणहिलपुर पाटन में चाहिल नामक एक श्रावक था। जिसने परीक्षापूर्वक श्री जिनदत्तसूरिजी को धर्माचार्य रूप में स्वीकार्य किया था। उसके चार बेटे थे। कालद्वेष के कारण वे एक दूसरे से अलग रहना चाहते थे। चाहिल श्रावक को पुत्रों के अलगाव की बात पसंद नहीं आयी। अतः गुरु महाराज से प्रार्थना कि आप पुत्रों के हित शिक्षा देवें - ऐसा विनतीपत्र भेजा। आचार्यश्री पत्र के जवाब में यह "कुलक" धर्म देशना गर्भित लेख भेजा था। जिसको पाकर चाहिल सेठ तथा चारों पुत्र प्रसन्नता के साथ संयुक्त परिवार में रहकर विधिमार्ग की आराधना करते रहें। -"चर्चरयादिसंग्रह", पृ.५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। प्रमाद मत करो, दूसरो का परोपकार करो। हर पल दूसरों की अच्छाई में लगे रहों। ऐसा सुन्दर आचरण करनेवाला ही मानव जीवन की कीमत कर सकता है। वह संसार समुद्र से तिर सकता है। अतएव मनुष्य जीवन थोड़ा है उसे गुरुभक्ति और मानवसेवा करके सफल बनाना चाहिए।

सद्गृहस्थों के जीवनयापन का संदेश देते हुए लिखते हैं कि-

जहिं घरि बंधु जुय जुय दीसइ
तं घरु पडइ वहंतु न दीसइ।
जं दढबंधु गेहु तं वलियउ
जडि भिज्जंतउ सेसउ गलिउ॥ २६॥

***

कज्जउ करउ बुहारी बद्धी
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ ?॥ २७॥

परिवार की एकता पर बल देते हुए लिखते हैं कि जिस घर में बन्धु लोग अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं वह घर सम्पन्न न रहकर गिर जाता है। और जहाँ लोग एकाग्र होकर रहते हैं वहाँ बल पौरुष एवं स्थिरता रहती है।

इस प्रकार सद्गृहस्थों को चाहिए कि वे अपने परिवार में प्रेमपूर्व एवं परस्पर सौहार्द से रहें। संयुक्त परिवार में जीवन व्यतीत करना चाहिए। जिस घर में बान्धव अलग-अलग रहे हैं, वैचारिक विषमता रहती है। वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् वह घर बिखर जाता है।

इस प्रकार समाज की तत्कालीन परिवार व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए एकता पर आचार्यश्री ने खूब जोर लगाया है। किसीने ठीक ही कहा है-

Unity is strength.

अथवा

संघे शक्तिः कलौ युगे॥

इसी प्रकार यहीं पर आचार्यश्री ने संयुक्त परिवार को बंधी हुई बुहारी की उपमा दी है। बंधी हुई बुहारी के द्वारा घर को साफ किया जा सकता है। घर को साफ समृद्ध एवं सुसम्पन्न बनाया जा सकता है। परन्तु यदि बुहारी का एक-एक तिनका अलग हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय तो उससे कचरे की सफाई नहीं की जा सकती है। ठीक यहीं हालत कुटुम्ब गाँव एवं देश की है। समाज एवं राष्ट्र के संगठन द्वारा ही देश उन्नति के मार्ग पर लाया जा सकता है। अलगाववादी दृष्टि से समाज, देश और राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। संगठन में ही शक्ति है।

आचार्यश्री के ये वचन मन्त्ररूप हैं।

ये वचन बहुत महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणादायक हैं। अतः हम सभी गुरुदेव के उपदेशों को चरितार्थ करते हुए जिनशासन के एक सूत्र में बंध जावें। ताकि मानवता का सर्वोत्कृष्ट उदय हो सके।

दादा गुरु की श्रावकों के प्रति उपदेश की विशिष्टता :-

इस बुहारी के रूपक के माध्यम से दादाजी कहते हैं कि जो एक साथ रहते हैं पिता की आज्ञा का पालन करते हैं, वे सौम्य है, प्रशान्त हैं, विनयवंत हैं। ऐसे योग्य पुत्र अपने माता-पिता के मन में स्थान प्राप्त करते हैं। फलस्वरूप वे हमेशा सुखशान्ति और समृद्धि को प्राप्त करते हैं। जो उपरोक्त गुणों से विपरीत चलता है वह कभी भी ज्येष्ठपद नहीं प्राप्त कर सकता।

जिस प्रकार नक्षत्रों के साथ ग्रहों का सम्बन्ध क्रम से होता है, अक्रम से नहीं होता है। इसी प्रकार गृहस्थ को उत्तरोत्तर सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए इन गुणों की आवश्यकता होती है।

गृहस्थ को हमेशा न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए। धन का सदुपयोग दानादि प्रवृत्ति में लगाना चाहिए। एक सुन्दर समाजवाद की रचना करनी चाहिए। साथ-साथ ही पंच परमेष्ठी (नवकार मंत्र)का स्मरण करना चाहिए।

आचार्यश्री के उपरोक्त उपदेशों का जो भी पालन करता है उसे कभी भी दुःख का सामना नहीं करना पड़ता है। विशिष्ट उपमा अलंकार के द्वारा विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-

यदि किसी की जन्म कुंडली में गुरु की दृष्टि तीव्र हो बलवान हो तो शनिश्चर खराब है तभी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। अतः जो भी प्राणी संसार में रहते हुए गुरुदेव की शिक्षाओं का अनुसरण करते हैं, अरिहंत भगवान का स्मरण करते हुए जीवनयापन करते हैं, जिस श्रावक के हृदय में परमेष्ठी मन्त्र निवास करता है, उसे कदापि दुःखों का सामना नहीं करना पड़ता है। वे भव्यजीव निर्वाण सुन्दरी के साथ विलास करते हैं, अजरामरपद प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् पुनः संसार में जन्म नहीं लेते हैं। अन्तिमपद में कर्त्ता ने अपना नाम ''जिनदत्तसूरि'' यह सूचित किया है।

'कालस्वरूप कुलक' की विषयवस्तु के स्पष्टीकरण के बाद मूल्यांकन के रूप में संक्षेप में निम्न बातों का ध्यान रखा गया है।

(१) कालस्वरूप कुलक में कुगुरु एवं सुगुरु के भेद को बताया गया है। सुगुरु औषधिरूप है और कुगुरु व्याधिरूप है।

(२) मानवजीवन की मौलिकता का निरूपण किया गया है।

(३) सद्गृहस्थों के जीवनयापन की चर्चा विस्तार से की गई हैं।

(४) सद्गुरु के उपदेशों को सुनकर प्रभुभक्ति और गुरुभक्ति करने का उपदेश दिया गया है।

(५) मानव सेवा ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इन सभी विषयों का निरूपण किया गया है।

(६) आचार्यश्री के द्वारा ज्योतिषशास्त्र का भी यहाँ निरूपण किया गया है इससे उनकी अपूर्व प्रतिभा का परिचय प्राप्त हो रहा है।

छन्द :-

आचार्यश्री ने ''कालस्वरूप कुलक'' में आद्यान्त ''पद्धटिका'' छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द में ४+४+४+४=१६ मात्राएं होती हैं।

कई छन्दशास्त्री चतुर्थ मात्रा का क्रम ।।ऽ मानते हैं। तो कुछ ।ऽ। मानते हैं।

उदा. *लद्धि नरत्ति अणारिय देसेहिं*
को गुण तह विणु सुगुरुवएसिहि ?।
आरियदेस जाइ-कुलजुत्तउ
काइ करेइ नरत्तु वि पत्तउ ॥

(कालस्वरूप कुलक-१४)

रस :-

प्रस्तुत कृति ''कालस्वरूपकुलक'' हितोपदेशमय है। गृहस्थ के लिए योग्य शिक्षाओं से ही यह कृति परिपूर्ण है। संयुक्त परिवार में रहकर सभी सुखमय जीवनयापन करें यहीं कृति का ध्येय है। सामाजिक स्थिति का वर्णन भी किया गया है। कृति में भक्तिभाव का रस तो प्रवाहित हो रहा है। इसलिए ''शान्तरस'' का कवि ने सहारा लिया है। क्योंकि उपदेश तो प्रायः शान्तिपरक ही होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलंकारः-

श्लेष अलंकार :-

(१) *जहिं घरि बंधु जुय जुय दीसइं*
तं घरु पडइ वहंतु न दीसई।
जं दढबंधु गेहु तं बलियउ
जंडि भिज्जंतउ सेसउ गलिउ॥ २६ ॥

यहाँ पर दृढ बन्धु में दो अर्थों को समाविष्ट किया गया है। एक दृढ बंध (मजबूत बंधन) वाला घर,

दूसरा आपसी बन्धु बांधवों का दृढ मेल मिलाप। अतः श्लेषालंकार है।

(२) *पुणवसु हत्थि चडइ सो चित्तइ*
सोमु सुरु पुत्तु वि भावित्तह।
जो किर चित्तह मज्झि न पविसइ
जेट्ठह मूलि सु कहिं किव होसइ॥ २८

प्रस्तुत गाथा में "पुणवसु हत्थि चडइ सो चित्तह॥"

अर्थात् जो पुन्यवशात् सौम्य-प्रशान्त और यशस्वी होता है वही माता-पिता के चित्त में स्थान प्राप्त कर लेता है।

दूसरेअर्थ में पुनर्वसु आदि मूल नक्षत्र ग्रहों के साथ क्रम से रहकर महत्ता को प्राप्त होते हैं। अन्यथा नहीं।

इस प्रकार द्वयर्थक होने से श्लेषालंकार है।

(३) *लोहिण रहिउ पोउ गुरुसायरु*
दीसइ तरंतु जइ वि जडवायरु।
लाहउ करइ सु पारु वि पावइ
वाणियाह धरणिद्धि वि दावइ॥ ३०॥

यहाँ पर लोहरहित जहाज बड़े भारी समुद्र को पार कर जाता है। दूसरे अर्थ में लोभरहित मनुष्य गुरुओं के प्रति आदर भाव वाला होता हुआ संसार समुद्र से पार हो जाता है। अतएव द्वयर्थक होने से श्लेषालंकार होता है। लोह के दो अर्थ है।

(१) लोह = लोहा

(२) लोह = लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टान्त अलंकार :-

(१) *जो धत्तूरयफुल्लु समुज्जलु*
पिक्खिवि लग्गउ तित्थु समुज्जलु।
जइ सो तसु रसु पियणह इच्छइ
ता जगु सव्वु वि सुन्नउ पिच्छइ ॥ १२ ॥

यहाँ पर संसार को धत्तूरे के फूल समान बाहर से खूबसूरत एवं अन्दर से दुःख का कारण बताया गया है। अतएव दृष्टान्त अलंकार है।

(२) *कज्जउ करइ बुहारी बद्धी*
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ ? ॥ २७ ॥

प्रस्तुत गाथा में घर की रचना के लिए बुहारी को दृष्टान्त रूप में ग्रहण किया गया है।

अतः इसमें दृष्टान्तलंकार है।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकरण-५ : उपसंहार

भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। प्राचीनकाल से विभिन्न देशों से नाना प्रकार के धर्म-जाति का आगमन हुआ। उन सबका भारतीय धर्म परम्परा एवं संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी भारत की अनेकता में एकता का दर्शन होता है। भारतीय साहित्य और संस्कृति की आत्मा सन्त तत्त्व एवं सन्त परम्परा है। सन्त परम्परा के द्वारा सांसारिक भव्यात्माओं को सर्वतोमुखी विकास का सुन्दर ज्ञान मिलता है। यह परम्परा ऐसी परम्परा है जो संसार से संलग्न होकर भी अलिप्त अवस्था के माध्यम से स्वार्थ मूलक वृत्तियों को जीवन से निकाल करके जनजीवन के समुन्नयन के लिए समत्व की साधना को सर्वोपरि बनाती हैं। संतों की प्रेरणाप्रदायक वाणी ओज परिपूर्ण व्यक्तित्व आन्तरिक सौन्दर्य को उद्बोधित करने वाली साधना ही मानवोत्कर्ष का सुन्दर मार्ग है। इनका क्षण-प्रतिक्षण लोक कल्याण एवं पावनता में ही व्यतीत होता है। शाब्दिक बल कोई बल नहीं है। जब तक कि उसके पीछे दीर्घ व ज्ञानमूलक अनुभव की सुदृढ़ परम्परा न हो। आत्मीय विभूतियों के सुस्मरण से हृदय में ऐसी उर्मियां उत्पन्न होती हैं जिसके द्वारा व्यक्तिमूलक व राष्ट्रीय चरित्र का विकास होता है। व्यक्ति के वास्तविक विकास पर ही राष्ट्र का नैतिक विकास निर्भर है। वाणी, विचार और व्यवहार का वास्तविक ज्ञान तो मात्र सन्तों से ही प्राप्त होना सम्भव है।

दादासाहब आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी १२ वीं शताब्दी के ऐसे महापुरुष थे जो बुद्धि में प्रखर एवं तेजस्वी थे, जिसके कारण विद्वत् वृन्द उनसे लोहा मानते थे। किसी भी राष्ट्र की वास्तविक धन-समृद्धि उस देश की सन्त परम्परा है। इस संत-समृद्धि के द्वारा ही देश का मूल्यांकन किया जाता है क्योंकि देश की संस्कृति और अध्यात्म सन्तों के अथक परिश्रम का ही परिणाम होता है। आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी उपर्युक्त परम्परा के एक ऐसे ही उदारचेता और व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष थे।

तत्कालीन सन्तों में, साहित्यकारों एवं तत्त्वविदों में आचार्यश्री का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उनके जीवन का मूल मंत्र ही क्रान्ति थी। तत्कालीन विकृति मूलक परम्पराओं का परिष्कार कर सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध कर जैन धर्म एवं सम्पूर्ण मुनि समाज पर आयी हुई विपत्तियों का उन्होंने कुशलता पूर्वक सामना किया। श्री जिनदत्तसूरिजी सत्याश्रित-खरतरगच्छीय परम्पराओं के एक ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व के बल पर, अपनी साधना के बल-बूते पर और प्रकाण्ड पांडित्य के बल पर समाज में जो श्रद्धा का स्थान प्राप्त किया है वह आज भी अमर एवं अनुकरणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यपद प्राप्ति के बाद उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि-शासन का विशिष्ट प्रभाव फैलाने के लिए मुझे किस तरफ प्रस्थान करना चाहिए ? आचार्य के हृदय में यदि इतनी विराट और प्रशस्त भावना का विकास न हो तो उसमें विश्व बन्धुत्व की भावना तो दूर रही वह स्वकल्याण की कल्पना से वंचित रह जाता है।

मात्र उपदेश देना बड़ा सरल काम है। उसे करके बताना कठिन होता है। इसलिए समता और समानता का जयघोष जितना सरल है उतना उसे जीवन में परिणित करना, जीवन में उतारना उतना ही कठिन है। बड़ा दुष्कर एवं दुःसाध्य है यह कार्य। महान पुरुषों के जीवन की सबसे बड़ी सफलता का कारण है उनमें विचार, वाणी और व्यवहार की समानता। उनकी संगठनशक्ति इतनी प्रबल और बुद्धिमत्तापूर्ण थी कि कैसे भी विरोधी को बिना हिचक के अपने समुदाय में सम्मिलित कर लेते थे भले ही उन्हें इस कार्य के लिए समाज का कोपभाजन भी क्यों न बनना पड़े। साहस और नैतिकता का विकास संयमशील जीवन में ही संभव है।

प्रायः प्रत्येक युगपुरुष के जीवन में यह देखने को मिलता है कि वे जन्म से प्रतिभा सम्पन्न होते हैं। साहित्यिक आन्तरचेतना के जागरण में प्रेरणा की आवश्यकता है। चाहे उसका प्राप्ति स्थान, उद्गम स्थल कहीं भी हो। जब प्रेरणाशील व्यक्तित्व ही निर्मित हो जाता है तब उससे प्रभावित मुखरित वाणी भी साहित्य का रूप धारण कर लेती है। जब वह कर्णगोचर होती है तब उसके साहित्यिक सौन्दर्य एवं आन्तरसौन्दर्य का प्रपात लोगों के जीवन में प्रस्फुटित हो पड़ता है और लोगों को सराबोर किए बिना नहीं छोड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संयमशील एवं गुणवान व्यक्तियों की प्रतिभा स्वभावतः भी मुखरित हो उठती है। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं रहती कि साहित्यमात्र युग की अपनी देन है। आचार्यश्री न केवल उच्च कोटि के नेतृत्व सम्पन्न व्यक्ति ही थे अपितु संयमशील साधक होने के साथ-साथ शुद्ध एवं उच्च कोटि के एक साहित्यकार भी थे।

साहित्य के विषय में सामान्य जानकारी के साथ-मानवमात्र उत्तम मूल्यवान विचारों से उत्प्रेरित हो सके, यदि इसे ही साहित्य कहें तो विना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि-श्री जिनदत्तसूरिजी एक उच्च कोटि के साहित्यसर्जक एवं प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है इस दृष्टि से भी आचार्य श्री की कृतियाँ भी माननीय हैं। इन कृतियों में न केवल तत्कालीन जैन धर्म एवं जैन समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों का ही अच्छा आभास मिलता है, अपितु तत्कालीन भारतीय साहित्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषाओं के विकास की परम्पराओं का भी सुन्दर अनुभव होता है। यद्यपि आचार्यश्री की अधिकतर कृतियाँ मानजीवन की नैतिकता को उच्चस्तर पर प्रतिस्थापित करने से सम्बद्ध हैं एवं उस समय के चरित्रहीन चैत्यवासी धर्मगुरुओं के प्रति विद्रोह की चिनगारी है।

आचार्यश्रीने अपने साहित्य में मुख्य रूप से संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं को ही प्रमुखता दी है, जिनका न केवल धार्मिक दृष्टि से महत्त्व है अपितु भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अध्ययन--अध्यापन के लिए तथ्ययुक्त है। जैन मुनियों की परम्परा एवं साहित्य निर्माताओं की एक ऐसी विशेषता रही है कि न केवल उन्होने विद्वत्भोग्य साहित्यसृजन ही किया है अपितु लोकभोग्य साहित्य का भी पर्याप्त प्रमाण में प्रणयन किया है। वे सभी भी पाण्डित्य प्रदर्शन को प्रधानता नहीं देते थे। इस प्रकार भारतीय देश्य-भाषाओं के विकास में जितना योगदान जैन विद्वानों का है उतना अन्य किसी सम्प्रदाय का नहीं है। यद्यपि आचार्यश्री की कृतियाँ देखने में बहुत बड़ी नहीं है परन्तु उपयोगिता की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। या इस प्रकार कहा जाय कि- जीवन, साहित्य, समाज एवं सम्प्रदायादि का कोई कोना आचार्यश्री की पैनी दृष्टि एवं परिमार्जित लेखनी से अछूता नहीं रहने पाया है।

विधिमार्ग का प्रचार तथा जिनधर्म के प्रसार की अपेक्षा भी युगप्रधान आचार्यश्री का जो सर्वोत्कृष्ट कार्य है और जो सदा अमर रहकर उनको भी अमर रखेगा वह है उनका साहित्य-सर्जन। उन्होने मारवाड़, सिन्ध, गुजरात, बागड़, मालवा आदि अनेक देशों में विहार करके जैन शासन को महान सेवा के साथ-साथ लोकहित सम्पादन करने के लिए संस्कृत प्राकृत व अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। वे ग्रन्थ परिमाण में लघुकाय होते हुए भी महत्त्व की दृष्टि से खूब सराहनीय हैं।

उनकी रचनाओं का सामान्य एवं संक्षिप्त सार लेखन निम्न प्रकार है-

(१) श्री जिनदत्तसूरि विरचित **चर्चरी** ४७ गाथाओं से गुम्फित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में युगप्रधान आचार्यश्री जिनवल्लभसूरिजी की स्तुति की गयी है। किन्तु उनकी स्तुति के साथ-साथ जिनवल्लभसूरिजी के अनाचारी चैत्यवासियों के अविधिमार्ग का उच्छेद कर जिस विधि-विहित वसतिवास की स्थापना की उसका भी विस्तृत उल्लेख किया गया है।

चैत्यों के (१) विधिचैत्य (अनिश्राचेत्य)(२) निश्रा चैत्य और (३) अनायतन चैत्य आदि का भेदोपभेद के साथ अच्छी तरह से स्पष्टीकरण के साथ वर्णन किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।

(२) **उपदेश रसायन** एक उपदेशयुक्त ग्रन्थ है, जिसमें लोगों को संसार की निःसारता एवं मानवजीवन की सार्थकता का वर्णन किया गया है। मनुष्य को दुर्लभ मानव जन्म प्राप्त कर व्यर्थ नहीं खोना चाहिए किन्तु सद्गुरु की शरण प्राप्त कर दुस्तर भवसागर को पार करने का प्रयत्न करना चाहिए। कुकर्मो को यदि जिनधर्म की दीक्षा भी प्राप्त हो जाती है तो भी वह यथार्थ साधु न बनकर साध्वाभास ही बनता है। क्योंकि वह अनुचित आचरणों का परित्याग नहीं कर सकता। वह जिनशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण, धर्मशास्त्रों आदि को न जानता हुआ भी स्वयं को उनका ज्ञाता सिद्ध करता है। मिथ्या तप व उपदेश द्वारा तथा उच्छृंखल व्याख्यान द्वारा श्रावकों को पथभ्रष्ट करता है। धार्मिक तथा प्रवाह पतित द्रव्यलिंगी की चेष्टाओं का निरूपण करने के बाद विधि मार्गानुयायी धार्मिक पुरुष द्वारा आचरणीय विधियों का निरूपण किया गया है। इसमें युगप्रधान के स्वरूप का वर्णन किया गया है। युगप्रधान आचार्य वह है जो विधि चैत्यों में जिनसूत्रों की यथार्थ व्याख्या करता है। इसमें उत्तम श्रावकों के धर्म बतलाये गये हैं। जिन धर्मों के पालन करने से श्रावक अपने व्यावहारिक जीवन को शांतिमय तथा सुखमय बना सकता है। साथ-ही साथ वह दूसरे भव को भी सुधार सकता है।

(३) **चैत्यवंदन कुलक** में सर्वप्रथम तीन वासक्षेपों का विवेचन किया गया है। ये वासक्षेप श्रावक गुरु बनाते समय गुरु से ग्रहण करता है। सर्वप्रथम वासक्षेप दो प्रकार के हैं १. द्रव्य वासक्षेप, २. भाववासक्षेप। पुनः द्रव्य-वासक्षेप के दो भेद होते हैं- ग्रास वासक्षेप तथा प्रवाह वासक्षेप।

भव्यात्माओं के मोक्षपद के प्राप्ति हेतु अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य और अनन्त सम्यक्त्व इन पाँच प्रकार के वासक्षेपों का मूल भाववासक्षेप बतलाया गया है। तथा तीन प्रकार के चैत्य-विधि चैत्य, निश्राकृत चैत्य तथा अनायतन तीन प्रकार के चैत्यों में विभक्त करके प्रथम को तीन भागों में बाँटा है। आयतन, अनिश्राकृत और विधि चैत्य। जिसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्रादि गुणों का लाभ होता हैं, उसे आयतन कहते हैं।

इसके बाद सम्यक्त्व स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए आचरणीय धर्मों का निर्देश किया गया है। सम्यक्त्व स्वीकार करने वालों का कर्तव्य है कि-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँचों अणुव्रतों का पालन करें तथा सर्वज्ञ वीतराग भगवान तीर्थंकर देव के मत को मानने वाले लोकप्रवाह से पृथक् रहते हुए भव्यात्माओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को धर्मोपदेश सुनानेवाले, कपट तथा मात्सर्य भाव से निर्मुक्त ज्ञान दर्शन व चारित्र्य में अग्रणी आचार्यों के वचन पर पूर्ण श्रद्धा करें उन्हीं को अपना धर्म गुरु समझें।

(४) **कालस्वरूप कुलक** में सम्यक्त्व प्राप्त करने वालो के लिए बताया है कि उन्हें कुगुरु एवं सुगुरु की पहचान अच्छी तरह करना चाहिए। इस ग्रन्थ में चाहिल के पुत्रों को एकता व परस्पर मिलकर रहने का उपदेश दिया है। एकता व परस्पर मिलकर रहने का उपदेश प्रत्येक के लिए अनुकरणीय. अत्यन्त मार्मिक तथा कवित्व दृष्टि से अनूठा है। इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के अलावा इस लघुकाय ग्रन्थ में ज्योतिष शास्त्र, विभिन्न अलंकारों का एवं कवि की चमत्कारिक भाषा का सुन्दर समन्वय मिलता है।

(५) **सन्देहदोलावलि** यह एक प्रकार की प्रश्नोत्तरी है। श्रावकों के क्रिया कलाप से उत्पन्न संशय को दूर करने के लिए सभी प्रश्नों के उत्तर उसमें भरे पड़े हैं। पौषध अनुष्ठान पर्व तिथियों में होता है। अथवा हमेशा अविधि -चैत्य में जाना चाहिए या नहीं। शीलादि का पालन करने वाले आचार्य के पास ही आलोचनादि तप करना चाहिए अथवा इससे विरुद्ध आचरण करने वाले आचार्य के पास भी ये तप किये जा सकते हैं ? १५० गाथाओं वाली कतिपय पद प्रकरण नामक ग्रन्थ का निर्माण किया गया था, वही ग्रन्थ बाद में 'संदेहदोलावली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में विधि चैत्य व अविधि चैत्य का लक्षण, सामयिकादि करने की विधि, आलोचना, तपस्याओं के करने के प्रकार, प्रासुक व अप्रासुक जल के लक्षण, व्रत प्रत्याख्यान आदि के ग्रहण स्वरूप पार्श्वस्थ शिथिलाचारी आचार्यों को वन्दन न करना तथा उत्कृष्ट द्रव्यादि के लक्षणों का अनेक विधियों का, जैन शासन के प्रामाणिक व मौलिक ग्रन्थों के अनभिज्ञ मन्द बुद्धिवाले को अनायासपूर्वक ज्ञान के लिए विवेचन किया गया है।

(६) **उपदेशकुलक** में जैनसिद्धान्त के मूलभूत द्वादशांग का वर्णन है। प्रत्येक काल में एक-एक युगप्रधान आचार्य जिन के समान होता है। जो जिनागतसिद्धान्तानुसार अनुसरण करता है। रागद्वेष मोहादि के वशीभूत होकर नहीं रहता है अर्थात् इनसे मुक्त रहता है। गुणी एवं विद्वान गुरुजनों द्वारा प्रणीत पदों का व्याख्यान एवं कथना करता है। दूसरों से संचालित न होकर वह स्वयं संचालन कर्त्ता होता है। उसके (युगप्रधान आचार्य के) विद्यमान रहने पर मत्तवादि रूप तिमिर स्वतः नष्ट हो जाता है। उसकी सद् दृष्टि का कभी बाधक नहीं होता है।

(७) **उत्सूत्र पदोद्घाटन कुलक** में बतलाया गया है कि जिस चैत्य में लिङ्गी शिथिलाचारी साध्वाभास निवास करते हैं उसे सूत्र ग्रन्थों में अनायतन कहा गया है। उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यों में जाने से भव्यात्मा श्रावकों की ज्ञानवृद्धि नहीं होती है।

(८) **गणधर सार्धशतक** में गौतम से लेकर श्री जिनवल्लभसूरि तक गणधरों के गुणों का निरूपण है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से प्रतीत हो रहा है। इसमें कुल १५० गाथाएँ है।

(९) **गणधर सप्ततिका** में गणधरों की स्तुति की गयी है। गणधर सार्धशतक और गणधरसप्ततिका में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(१०) **विघ्नविनाशी स्तोत्र** में जिन धर्मानुयायी संघ के विघ्नविनाश तथा मंगल प्राप्ति के लिए स्तम्भन पूजित श्री पार्श्वनाथ से अनिष्ट विनाशक श्री वर्धमान, गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी आदि गणधरों से इन्द्रादि देवताओं से अप्रतिचक्रा आदि प्रमुख शासनदेवियों से सत्यपुर निवासी वर्धमान स्वामी जिन भक्त ब्रह्मशान्तियक्ष से, चक्रेश्वरी से अन्य क्षेत्रादि स्थानों में रहनेवाले देवी-देवताओं से तीर्थपति वर्धमान सूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि एवं जिनवल्लभसूरि आदि से तीर्थ वृद्धि के लिए भी प्रार्थना की गयी है।

(११) **सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र** नामक ग्रन्थ में गणधरों देवताओं, षोडश विद्यादेवियों, यक्षिणी गौमुख मातङ्ग गजमुख आदि यक्षों, चक्रेश्वरी वैराट्या आदि २४ शासन देवियाँ, दस दिक्पालों, क्षेत्रपालो, नक्षत्रसहित नव ग्रहों तथा धरणेन्द्र शक्रादि से संघ के अमंगलनाश तथा मंगललाभ के लिए प्रार्थना की गयी है।

(१२) **सुगुरु पारतन्त्र्य** नामक ग्रन्थ में सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य- इन तीन रत्नों की तरह विधि विषय तथा सुगुरु पारतन्त्र्य को भी मोक्ष का अंग माना गया है और यह भी बताया गया है गुरु पारतन्त्र्य स्वीकार करने से ही मनुष्य को जय प्राप्ति हो सकती है।

(१३) **श्रुतस्तव** में गणधरों एवं अन्य आचार्यों द्वारा विरचित शास्त्रों का निरूपण किया गया है। इसमें जैन सिद्धान्तों का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है। इसके अलावा अन्य सूरियों द्वारा विरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

(१४) **महाप्रभावक स्तोत्र** प्राकृत भाषा में रचित स्तोत्रावलि है। इसमें विभिन्न प्रकार के ज्वर और अन्य विभिन्न प्रकार की व्याधियों को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। इससे ज्वरों के प्रकार का पूर्ण ज्ञान भी होता है।

(१५) **सर्वजिन स्तुति** में ग्रन्थकार ने श्री ऋषभादि २४ वर्तमान जिनों की स्तुति की है। उनकी स्तुतियाँ प्रजा के लिए बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१६) **वीर स्तुति** नामक ग्रन्थ में महावीर सहित २४ जिनों की स्तुति है। साथ ही सिद्धान्तों एवं शासनदेवताओं की प्रार्थना अमंगल परिहारार्थ की गयी है।

(१७) **चक्रेश्वरी स्तोत्र** में श्री चक्रेश्वरी यक्षिणी की स्तुति की गयी है।

(१८) **अजित शान्ति स्तोत्र** में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ और १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान की सुललित पद्यों में भावगर्भित स्तुति की गयी है।

(१९) **पदव्यवस्था** गीर्वाणवाणी निबद्ध इस पुस्तक में युगप्रधानाचार्य द्वितीय स्थानीय सामान्याचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य आदि के नगर प्रवेश आदि के समय किस प्रकार प्रवेश विधि आदि करना चाहिए इत्यादि बातों का निरूपण दिया गया है।

(२०) आचार्य जिनदत्तसूरि द्वारा कई ऐसे भी ग्रन्थ हैं जो अप्रकाशित हैं और अन्य जो अत्यन्त लघुकाय हैं उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है।

आचार्य जिनदत्तसूरिजी मात्र जैनागमों के ही अद्वितीय व मार्मिक विद्वान न थे अपितु न्याय, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, छन्द, अलंकार, ज्योतिष आदि विषयों के प्रौढ़ विद्वान थे। साहित्यिक दृष्टि से उनकी रचनाएं अत्यन्त प्रौढ़ एवं उदात्त हैं। उनमें न केवल शास्त्रान्तरों के तत्त्वों का ही दिग्दर्शन हुआ है किन्तु साहित्यिक विशेषताओं की उपलब्धि भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। जनता के कल्याण के लिए तथा जनता के प्रचलित उत्सूत्र व अविधिमार्ग के उच्छेद का विधिमार्ग के प्रचार के लिए ही इन ग्रन्थों की रचना हुई है। जिन सिद्धान्तों को सरल व सुबोध भाषा में उपस्थित करना इन रचनाओं का उद्देश्य रहा है। धार्मिक विषयों का प्रतिपादन करते हुए अश्वघोषादि कवियों की कृतियों में साहित्यिकता व कवित्व की अभिव्यक्ति हुई है। एकान्ततः धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी उनमें साहित्यिक व शास्त्रीय तत्त्वों की उपलब्धि ग्रन्थकार के प्रतिभा वैलक्षण्य व पौढ़ पाण्डित्य की ही परिचायिका है। अनुप्रास, रूपक, काव्यलिङ्ग, समासोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, श्लेष आदि अलंकारों का भी समावेश है। छंदो के विषय में कहा जाता है कि प्रायः गाथा छन्द का प्रयोग किया गया है।

अलंकारशास्त्र में भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिए माधुर्य ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणों का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। सर्वत्र शान्तरसकी प्रधानता है। ज्योतिषशास्त्र के तत्त्वों का निरूपण भी है।

इनकी रचनाओं में उन तत्वों का प्रतिपादन हुआ है जो किसी दर्शन विशेष, सम्प्रदायविशेष, जातिविशेष या देश विशेष के लिए ही उपयोगी नहीं है किन्तु मानवमात्र के लिए है। आप जैन धर्म के प्रचारक और चैत्यवास के विरोधक थे। आपके जीवन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान लक्ष्य था जैन धर्म का प्रचार प्रसार करना- इसी कारण उनकी प्रत्येक कृति उसी लक्ष्य की पूर्ति की और अग्रसर थी।

१२ वीं शताब्दी में भारतीय जनता में भारतीय साहित्य में प्रधानतया तीन भाषाएँ प्रचलित थी- संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। प्राकृत जैन धार्मिक साहित्य की प्रधान भाषा थी। अपभ्रंश भाषा उस समय की लोकभाषा थी। धर्मप्रचार से लिए प्रचलित लोकभाषा का उपयोग किया गया है। रचनाओं के माध्यम से इस बात का पता चलता है कि आचार्यश्रीका तीनों भाषाओं पर पूर्ण प्रभुत्व था। प्रत्येक भाषा की प्रैढ़ता, प्राञ्जलता, सरलता व सुबोधता स्पष्ट परिलक्षित होती है। तीनों भाषा में अनेक ग्रंथो की अनेक विषयों पर रचनाएं हैं।

शैली सरल, सरल, सुबोध तथा प्रसादगुण परिपूर्ण है। सर्वथा समासाभाव या अल्प समासता आपकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है।

छन्दों में चर्चरी, पद्धटिका, आर्या, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि का प्रयोग पाया गया है।

अपभ्रंश व प्राकृत की विशेषता एवं भाषाविज्ञान की दृष्टि से इनका महत्त्व अपने आप में अनूठा है।

अन्ततोगत्वा-दादासाहब युगप्रधान धर्मगुरु एवं धर्मशोधक थे। धर्म प्रचार-प्रसार की दृष्टि से उन्होने काव्य रचना की थी। तथापि उनके ग्रन्थ काव्य-विशेषताओं से भी परिपूर्ण है। नाना अलंकारों, विशिष्ट शैलियों, प्रमुख वृत्तों और माधुर्य एवं प्रसाद गुणों से समन्वित उनकी रचनाएं जहाँ धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए भवसागर उद्धारक का कार्य करती हैं, वहाँ साहित्यिक दृष्टि से रसिक लोगों को रसार्णव में मग्न करने वाली भी हैं। एतदर्थ वे सर्वतोभावेन स्तुत्य हैं।

दादा जिनदत्तसूरि इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के खरतरगच्छ एवं जैन धर्म के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के महान् धर्मपुरुषों में अपना अमर स्थान बनाये हुए हैं।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

आचार्य जिनदत्तसूरि विरचित अप्रकाशित कृतियों का संपादन एवं कतिपय अननुवादित कृतियों का अनुवाद

[आचार्य जिनदत्तसूरिजी की कई कृतियाँ अप्रकाशित हैं और कई प्रकाशित हैं उनमें अशुद्धियाँ हैं। अनेक कृतियों का भाषांतर नहीं हुआ है। यहाँ पर ऐसी अप्रकाशित या अशुद्ध कृतियाँ शुद्धि के साथ दी जा रही है। मेरे अध्ययन समय एक कृति वाडिकुलक का संशोधन-संपादन मैंने किया और कई का हिन्दी अनुवाद भी किया । ये कृतियाँ निम्न दी गई हैं।]

संख्या	कृति का नाम	कृति की भाषा	
१.	सुगुरु संथव सत्तरिया-	प्राकृत	मूल एवं अनुवाद
२.	श्रुतस्तव-	,,	,,
३.	उत्सूत्र-कुलकम्	,,	,,
४.	वाडिकुलक-	,,	,,
५.	अजितशान्तिस्तव	संस्कृत	मूल
६.	सर्वजिनस्तुति	,,	,,
७.	महावीरस्वामीस्तुति	,,	,,
८.	चक्रेश्वरीस्तोत्र	,,	,,
९.	अपूर्णस्तोत्र श्लोकत्रयी	,,	,,
१०.	सप्रभावस्तोत्र	प्राकृत	,,
११.	स्तंभनपार्श्वनाथ स्तवन	,,	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सुगुरु गुण संथव सत्तरिया

(गणधर सप्ततिका*)

गुण-मणि-रोहण-गिरिणो रिसहजिणंदस्स पढम-मुणि-वइणो
सिरि उसभसेण-गणहारिणोऽणहे पणिवयामि पए ॥ १ ॥
अजियाइ जिणंदाणं जणियाणंदाण पणय-पाणीणं
थुणिमो दीणमणोहं गणहारीणं गुरुगणोहं ॥ २ ॥
सिरि-वद्धमाण-वरनाण-चरण-दंसण-मणीण जल-निहिणो
तिहुयण-पहुणो पडिहणिय-सत्तुणो सत्तमो सीसो ॥ ३ ॥
सुयनाण जस्स पईव-सन्निहं हसिय-हंसकर-पसरं
विप्फुरइ जणमणोगिहसंसय-तिमिर-हरणंमि ॥ ४ ॥
जंति तिरिय-मणुय-दाणव-देविंद-नमंसियं महासत्तं
तं नाणसिरि-निहाणं गोयम-गणहारिणं वंदे ॥ ५ ॥
जिण-वद्धमाण-मुणिवइ-समप्पिया सेस-तित्थभरधरणे (?)
पडिहव-पड़िवक्खेणं जयंमि धवलाइयं जेण ॥ ६ ॥
तं तिहुयण-पणय-पयारविंद-मुद्दाम-काम-करिसरहं।
अणहं सुहम्म-सामिं पंचम-ठाणं ठियं वंदे ॥ ७ ॥
जस्सन्न तारुण्णे तरल-तारय-हत्थि(?अच्छि)पेच्छिरीहिं पि।
अयंपि मणोरमणीहिं भावियं मुणिय भव-भावं ॥ ८ ॥
जह तणु-दिणावसाणे मिहिरो अत्थइरि सिहरमारुहइ।
तस्सऽवसाण दिणंते नाण-दिणिंदो तहत्थमइ ॥ ९ ॥
तं जंबुनाम-नामं सुहम्म-गणहारिणो गुण समिहं।
सीसं सुसीस-निलयं गणहर-पय-पालणं वंदे ॥ १० ॥

---

* यह कृति जेसलमेर के बृहद् ज्ञानभंडारस्थ ताड़ पत्रीय प्रति से श्री हरिसागरसूरिजी की की हुई नकल के आधार से प्रकाशित की जाती है। इसकी एक अन्य प्रति थाहरूसाह के भंडार (जेसलमेर) में भी प्राप्त हुई थी, जो कपड़े पर टिप्पणकार में थाहरू साह के लिए लिखी हुई थी। उपर्युक्त ताड़पत्रीय प्रति से इस प्रति का पाठ बहुत भिन्नता रखता है, कहीं कहीं तो गाथाएं भी सर्वथा भिन्न हैं, गाथाओं का क्रम भी अस्तव्यस्त है इसलिए हम प्राचीन ताडपत्रीय प्रति को ही प्रामाणिक समझते हुए उसीके पाठ को प्रकाशित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपन्न-वर-विवेयं जं गिहगय जंबुनाम-वयणाओ।
पालिय पवज्जं तं पभवायरियं सया वंदे ॥ ११ ॥
कट्ठमहो परमेयं तत्तं न मुणिज्ज इत्तिसो (?)
जणा सेज्जंभवं रुवउ विरत्तचित्तं नमंसामि ॥ १२ ॥
संजणिय-पणय-रुद्दं जसभद्दं मुणिगणाहिवं सगुणं
संभूयं सुह-संभूई-भायणं सूरिमणुसरिमो ॥ १३ ॥
जिण-समय-सिंधुणो पारगामिणो वर-विवेय-नावाए।
सिरिभद्दबाहु-गुरुणो हियए नामक्खरे धरिमो ॥ १४ ॥
सो कह णु थूलभद्दो लहइ सलाहं मुणीण मज्झंमि।
लीलाइ जेण हणिउं सरहेण य मयणमायाउ ॥ १५ ॥
कामपईव-सिहाए कोसाए बहु-सिणेह-भरियाए।
घणदढजणपयगाई जीए जो सामिओ नेया ॥ १६ ॥
सोवि अपुव्व-पयंगेणं जयहरे सप्पहं पयासंती।
पडिहणिय-पहा विहिया मोह-महातिमिर-हरणेण ॥ १७ ॥
तस पच्छिमं चउद्दसपुव्वीणं चरणनाणसरिसरणं।
सिरिथूलभद्द समणं वंदेहं मत्त गय गमणं ॥ १८ ॥
विहिया अणिगूहिय-विरिय-सत्तिमा सत्तमेण संतूलणा।
जे अज्ज महागिरिणा समइक्कंते वि जिणकप्पे ॥ १९ ॥
तस्स गणिट्ठं लट्ठं अज्जसुहत्थि जण पणयं।
अवहत्थिय-संसारं सारं सूरिं च अनुसरिमो ॥ २० ॥
अज्जसमुद्दं गंभीरिमाए वंदे समुद्दगंभीरं।
तह अज्जमंगुसूरि अज्जसुधम्मं च धम्मरयं ॥ २१ ॥
मण-वयण-काय-गो (गु?) भद्दगो (?गु) त्त-गणनाहं
छम्मासिउविसजूवभावओ(?)गहिय-पवज्जो ॥ २२ ॥
धणगिरिणो नंदाए तणओ णग(र)णहयरिंद-पहुपणओ
पढमुप्पत्तिपयं पिव संवेग्गसिरीए संविग्गो ॥ २३ ॥
सिरिअज्जसीहगिरिणो गुरुणा विहिओ गुणाणुरागेणं।
सेसजईणं लहुओ विजो गुरु नाणदाणेणं ॥ २४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्धरिया जेण पयाणु-सारिणा गयण गामिणी विज्जा।
सुमहापयन्नपुव्वाओ सव्वहा पसमरसिएणं ॥ २५ ॥
सुरराय्चाय विज्जमभमुहा धणुमुक्कनयणवाणाए।
कामग्गि-समीरण-विहिय-पत्थणा वयण-घडणाए ॥ २६ ॥
लट्ठंग-पईट्ठाए सिद्धिसुयाए विसिट्ठचिट्ठाए।
गुणगणसमणाओ जेसि दंसणुक्कंठियमणाए ॥ २७ ॥
निय-जणय-दिन्न-धण-कणग-रयण-रासीए जो न कण्णाए।
तुच्छं पि मुच्छिओ जोव्वणे वि धणियं गुणट्ठाए ॥ २८ ॥
जलण-गिहाओ माहेसरीए कुसुमाणि जेण आणेउं।
तच्च नीयाणमाणो मलियो संपुण्णई विहिया ॥ २९ ॥
दुब्भिक्खंमि दुव्वालस-वारसीय-सीयमाण-संघंमि।
विज्जाबलेणमाणियमन्नं जेणन्नछिन्नाओ ॥ ३० ॥
नमह दसपुव्वधरं धम्मधराधरणसेसमणिविरियं।
सिरि-वइरसामिसूरिं वंदे थिरयाइ मेरुगिरिं ॥ ३१ ॥
निय-जणणि-वयण-करणंमि उज्जओ दिट्ठिवाय-पढणत्थं।
सुगुरु-समीवंमि गओ ढड्ढर-सद्दाणुमग्गेणं ॥ ३२ ॥
सद्दाणुसारओ विहियं सयल-मुणि-वंदणो य जो गुरुणा।
अकयाणुवंदणो सावयस्स एवं समणु भणिमो ॥ ३३ ॥
को धम्मगुरू तुम्हाणमेत्थ तेणावि विणय पणएणं।
गुरुणो निदंसिओ सो ढड्ढरसद्दो वियड्ढेण ॥ ३४ ॥
अकगुरु(?)निण्हवेणं सूरिसयासंमि जिणमयं सोउं
परिविज्जिय सावज्जं पव्वज्जगिरि समारूढो ॥ ३५ ॥
सीहत्ता निक्खंतो सीहत्ताए विहरिओ जो उ।
साहिय नवपुव्वसुओ संपन्न पसन्नसूरिपओ ॥ ३६ ॥
सुरवरपहु बुद्धेणं महाविदेहंमि तित्थनाहेणं।
कहिउं निगोय-जीवाण जाणओ भारहे सूरी ॥ ३७ ॥
जस्स सयासे सक्को मोहणरूवेण पुच्छइ एवं।
भयवं फुडमन्नेसिय मह केत्तियमाउयं कहसु ॥ ३८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सक्को भवंति भणिओ मुणिउं जेणाउयप्पमाणेणं।
पुट्ठेण निगोयाणं पि वन्नणा जेण निद्दिट्ठा ॥ ३९ ॥
हरिणा हरिसियचित्तेण संथुओ जो तवो महासत्तो।
जेण समयंमि ठवणा विहियागुणपक्खवाएणं ॥ ४० ॥
तं सूरिमज्जरक्खियमक्खयपयपावणंमि पाणीणं।
पड़िहत्थमतुच्छमहं वंदे निद्दलियदुरिओहं ॥ ४१ ॥
विहिय जिण समय सम्मय सुदेसणा जणिय जणमणाणंदा।
अण्णे वि चरणगुणरयणजलहिणो जे जए जाया ॥ ४२ ॥
परवाइवारवारणं वियारणा जे मियारणो(?) गुरुणो।
ते सुगहियनामाणं सरणं मह हुंतु पणयपया ॥ ४३ ॥
अन्नाणनीरपउरे सत्ता संसारसायरे पड़िया।
करुणाए जेहि ठविया जिण-पवयण-जाणवत्तंमि ॥ ४४ ॥
पालियसीलंगाणं संगहिय-समग्ग-समय-साराणं।
चउदय-सय-पगरण-देसणेण संपन्न-कीत्तीणं ॥ ४५ ॥
जिणसमय-संजयाणं मुद्धाकिरिया परूविया जेहिं।
तेणमहं तेसि नमो हरिभद्द-मुणीसराणं पि ॥ ४६ ॥
आयार वियारण-वयणचंदिमा-निहय-मोहतिमिरभरे।
सीलंको हुयण-नहंगणंमि हरिणंक-संकासो ॥ ४७ ॥
तं तिहुयण-पहुपय-कमल-जुयलभसलं भवारिविहियभयं।
जीवाणमभयदाणंमि पच्चलं निच्चलं वंदे ॥ ४८ ॥
सुपसत्थ-वीरजिण-तित्थ-संभवो भव्वजण-मणोहरणो।
सिरि-वद्धमाणसूरी जोगपसंगोतयं-वंदे ॥ ४९ ॥
पुरओ दुल्लह-महिवल्लहस्स अणहिल्लवाडयपुरंभि।
सुविहिय-विहार-पक्खो पयडीओ समय-जुत्तीए ॥ ५० ॥
अपडिबद्ध-विहारेण विहरिया जे पणट्ठ-पड़िवक्खा।
ताणं जिणेसरसूरीण संपयं पणिवयामि पए ॥ ५१ ॥
सिरि-सूरिजिणेसर-वयणपंकए महुयर व्व जे लीणा।
नाणगुणलद्धिनिलए आसाइय-समय-मयरंदा ॥ ५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरि-वीर-जिणेसर-समय-रयण-कोसोवएस-रयणाई।
पुणपरिवज्जिएहं कयाइनो पन्न पुव्वाइ ॥ ५३ ॥
कय-करणाहिं काउं नवंग-वित्तीउ तेहि दिन्नाइं।
अविवेय-रोरयालिंगियाण जंतूण जियलोए ॥ ५४ ॥
जइ केइ नाण-चरणेहिं सालिणो आगमेसिणो गुरुणो।
संपइ पुण त गुणतुल्लयाए लोए न दीसंति ॥ ५५ ॥
भवकूव-निविड़ियाणं पाणिणं पाणिदाणदुल्लिया।
सिरि-अभयदेव-गुरुणा विवरण-करणेण विक्खाया ॥ ५६ ॥
नाण-महुपाण-लालस-सुसीस-भसल-उल-संकुले विमले।
तेसि महं तिक्कालं चरणंबुरुहे पणिवयामि ॥ ५७ ॥
जे समय-पाढया समय-जाणया समय-भासया सम्मं।
समए समएण समं मुणिऊण कुणंति किच्चा ॥ ५८ ॥
कालाइणं भवणं भवियाण विबोहणं भवविणासं।
तेसि महं नाणीणं तं नाणगुणं पणिवयामि ॥ ५९ ॥
जे सपरपक्खविसयं देवगयं गुरुगयं च मिच्छत्तं।
सुहगुरुसंपत्तीए मोत्तुं सम्मत्तमणुपत्ता ॥ ६० ॥
निस्संकियाइ गुणरयण-रोहणं दोसपणगपरिहीणं।
निरुवम सुहतरुपीयं दंसणमिणमो पणिवयामि ॥ ६१ ॥
इरियासमियाईण पणगं मण-वयण-कायगुत्ति-तियं।
कुड्डंतर वसहिंदिय निसिज्ज कह पुव्व रमिएहिं ॥ ६२ ॥
पणिया परमियभोयण विभूसणादोसदूसियं जए णे।
तेसिं सिवसिरिसरणं चरणं तिविहेण पणमामि ॥ ६३ ॥
बज्जाब्भंतरदुद्धरतवो विहाणुजयाय जिणधणियं।
समयाणुसारि किरिया पवत्तिनिरया नमो तेसिं ॥ ६४ ॥
भत्तं पाणं वत्थं वसहिं च विसोहिऊण जयणाए।
नियसत्तिं पयडंता विहरंति सया नमो तेसिं ॥ ६५ ॥
इय जे पंचपयारं आयारं आयरंति आयरिया।
उवज्झाया वि य जे केइ साहुणो तेसि पणमामि ॥ ६६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुढवाइं जीव नवभेय जाणए देसए य तत्ताणं।
सयमेव पालणाए कारए य समयाणुवित्तीए ॥ ६७ ॥
आउढिदप्पकप्पप्पमाय परियाणए जिणाणाए।
अणवज्जभासणे सईसमुज्जए चरणकरणेसु ॥ ६८ ॥
पुव्वावरेण मुणिउं अविचलचित्तेहिं समयसुत्ताई।
दव्वाईणं भणिया पक्खा निरवेक्ख-सावेक्खा ॥ ६९ ॥
पत्तमपत्तं नाउं कुणंति जे देसणं महासत्ता।
मग्गपवन्ना मग्गंमिट्ठावणाट्ठाइ पाणीणं ॥ ७० ॥
जे दुज्जणदुव्वयणं सोऊण न माणसंमि ठावेंति।
फरुसंभणिया वि न जे परप्प(प्फु)संमि वट्टंति ॥ ७१ ॥
जइ कहवि पमायवसा सम्मं सयमेव नो पयट्टंति।
तहवि हु जिण भणियं जहठियं जे परूवेंति ॥ ७२ ॥
उप्पएण परमकरुणाहि जेहि मह कम्मसत्तुणो सव्वे।
पड़िहयपसराउ कया देउं चउरंगबलममलं ॥ ७३ ॥
उम्मग्गओ मग्गंमि ट्ठाविंति सुगुणसंठिएहिं पय।
सिरिधम्मगुरूण महं तेसिं वयणे पणियाणि(मि) ॥ ७४ ॥
इय सुहगुरू-गुण-संथव-सत्तरिया सोमचंद-जुन्ह व्व।
भव-भक्खर-ताव-हरा भणिज्जमाणा लहुं होउ ॥ ७५ ॥

*** इय सुगुरु गुण संथव सत्तरिया समाप्तः ***

सुगुरु-संस्तव सप्ततिका (भाषान्तर)

१. गुणरूपी रत्नों को उत्पन्न करने में रोहणाचल समान श्री ऋषभदेव के प्रथम मुनिपति श्री ऋषभसेन गणधर के पवित्र चरणकमल में नमस्कार करता हूँ।

२. नमस्कार करनेवाले प्राणियों को आनंद देनेवाले, अदीन मनवाले, श्रेष्ठ गुणों वाले अजितादि तीर्थंकरों की और उनके गणधरों की स्तुति करता हूँ।

३. श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूपी रत्नों के समुद्र समान त्रिभुवनस्वामी, शत्रुओं (रागद्वेषरूपी)को नाश करनेवाले श्री वर्धमानस्वामी के श्रेष्ठ शिष्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. सूर्य किरणों के प्रसार को तिरस्कृत करनेवाले, दिपक की भांति जिसका श्रुतज्ञान जनता के मनरूपी घर में रहे हुए संशय तिमिर को हरने में प्रभावशाली रहता है ऐसे,

५. तिर्यञ्च, मनुष्य, दानव, देवेन्द्रों से नमस्कृत और ज्ञानरूपी लक्ष्मी के निधान, महासत्त्वशाली गौतम गणधर को वंदन करता हूँ।

६. वर्धमान स्वामी ने जिसको समग्रतीर्थ का भार वहन करने के लिए मुनिगणों को समर्पित किया और प्रतिपक्षिओं (राग-द्वेष)का विनाश करने से जिसने जगत को प्रकाशित किया है,

७. तीन जगत जिसके चरणों को नमस्कार करते हैं, कामदेवरूपी हस्ती को जीतने में अष्टापद समान पंचम गणधर सुधर्मास्वामी को नमस्कार करता हूँ।

८. चपल चक्षुवाली, मन को हरण करनेवाली (मनोहर) रमणियों ने भव-स्वभाव को जानकर भी (लग्न किया)ऐसा (भावित किया)-सोचा कि-

९. जैसे छोटे दिन के अन्त में (शरीर के अन्तमें तन>अभ्य, शरीर) सूर्य अस्ताचल के शीखर पर आरुढ होता है उसी तरह अवसानरूपी सायंकाल में ज्ञानरूपी सूर्य अस्त होता है।

१०. सुधर्मा गणधर के शिष्य, गणधरपद को पालन करनेवाले, शिष्य के लिये आश्रयभूत गुणवान् जम्बू को वंदन करता हूँ।

११. दीक्षा अंगीकार करने की इच्छावाले, जंबूस्वामी के उपदेश से प्राप्त हुआ है उत्तम विवेक जिसको, युगप्रधान पदवी को पालन करनेवाले ऐसे श्री प्रभवस्वामी को मैं सदा वंदन करता हूँ।

१२. ''अहो कष्टं परं एतत् तत्त्वं न ज्ञायते''

(अहो यह कष्ट है, फिर भी तत्त्व नहीं जानते)ऐसा उपदेश सुनने से जिनका चित्त संसार से विरक्त हुआ है वैसे श्री शय्यंभवसूरि को वंदन करता हूँ।

१३. रौद्रतत्त्व को जिन्होने प्रणयवान् किया। (स्नेहवान)सुख और विभूति के पात्र गुणवान यशोभद्रसूरि गणधर का स्मरण करता हूँ।

१४. श्रेष्ठ विवेकरूपी नाँव से जैनसिद्धान्त पारगामी श्री भद्रबाहु गुरु के नामाक्षरों को हम हृदय में धारण करते हैं।

१५. वह स्थूलिभद्र मुनियों के बिच में प्रशंसा क्यों न पावे ? कि जो लिलामात्र में अपने उत्साह से कामदेव को मारकर वापिस आये,

१६. कामरूपी प्रदीप की शिखा समान स्नेहभरी कोशा वेश्या के कारण भी जिनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामाग्नि प्रज्वलित नहीं हुई।

१७. और विश्वरूपी ग्रह में अपूर्व सूर्य से अपनी प्रभा को प्रकाशित करते हुए जिन्होंने मोह रूपी महा तिमिर के नाश से प्रभा फैलायी (विस्तृत की)ऐसे,

१८. अन्तिम चर्तुदशपूर्वी, चारित्र और ज्ञानरूपी लक्ष्मी के निवास स्थान गजगामी स्थूलिभद्रमुनि को वंदन करता हूँ।

१९. जिनकल्प के व्यतीत होने पर भी आर्य महागिरी ने अपने आत्मबल को छिपाये बिना जिनकल्प की तुलना की।

२०. उनके लघुबन्धु को सुखार्थी लोगों ने नमस्कार किया है और संसार को छोड़कर संयम स्वीकार किया है ऐसे सुहस्तीसूरि का हम स्मरण करते हैं।

२१. गंभीरता की अपेक्षा से समुद्र जैसे गंभीर आर्य समुद्र को वंदन करता हूँ। और आर्य मंगु तथा धर्म में रत आर्य सुधर्म को वंदन करता हूँ।

२२. मन, वचन और काया के अशुभ योगों का गोपन करनेवाले, जिन्होंने छः महिने की उम्र में भावतः प्रवज्या ग्रहण की,

२३. आप धनगिरि और नंदा के पुत्र थे, आपको विद्याधर और इन्द्र प्रणाम करते थे, प्रथम उत्पत्ति के स्थान की भांति वैराग्यलक्ष्मी ने आपको वरण किया था,

२४. अन्य साधुओ को ज्ञानदान देने के कारण (वज्रस्वामी) उम्रमें छोटे होने पर भी आपको आर्य सिंहगिरी गुरु ने वाचनाचार्य बनाये,

२५. सर्वथा उपशम में रसिक आपने महापरिज्ञा अध्ययन वाले पूर्व से पदानुसारी और आकाशगामिनी विद्या उद्धृत की।

२६-२८. इन्द्रधनुष जैसे विद्युत की तरह भौंहों से नेत्रकटाक्ष करनेवाली, अपने मुँह से कामाग्नि को पवन देनेवाली, प्रार्थना के वचनों की घटनावाली, तथा पुष्ट अंग की प्रतिष्ठा (सुन्दरता)वाली, श्रेष्ठ चेष्टाओंवाली, गुणों को सुनकर मिलने के लिए उत्कंठित मनवाली, अपने पिता द्वारा दिया गया धन, सुवर्ण, रत्नों के समूह अर्थात धनराशी वाली कन्या के साथ, युवावस्था को प्राप्त व्रजस्वामी अल्प भी मोहिन न हुए।

२९. माहेश्वरी नगरी के पास हुताशन नामके वन में से पुष्पों को लाकर जिन्होंने तीनो वर्ण के लोगों का और बौद्धों के मान को म्लान करके संघ की उन्नती की ऐसे,

३०. बारह वर्ष के दुर्भिक्ष में भी संघ परेशान हो रहा था तब विद्याबल के द्वारा दूसरे देशों से अन्नपूर्ति करी,

३१. ऐसे धर्म की धरा को धारण करने में शेषनाग की मणि के समान पराक्रमी और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिरता में मेरु पर्वत समान दशपूर्वधारी आचार्यश्री वज्रस्वामीसूरि को आप सभी वंदन करें।

३२. अपनी माता के वचनों का पालन करने में तत्पर ऐसे (आर्यरक्षित), दृष्टिवाद सूत्र पढने के लिए जो सद्गुरु के पास ढड्ढर नाम के श्रावक के साथ गये,

३३. और ढड्ढर श्रावक के अनुसार आचार्य और मुनियों को वंदन किया। उसके बाद श्रावक को वंदन नहीं किया। तब गुरु ने पुछा कि-

३४. यहाँ पर तुम्हारे धर्मगुरु कौन है ? तब चतुर आर्यरक्षितने विनयपूर्वक नमस्कार करके ढड्ढर श्रावक को बताया ये मेरे गुरु है।

३५. इस प्रकार सद्गुरु का अपलाप न करते हुए जिन्होने आचार्य के पास जिनमत सुनकर सावद्य का त्याग करते प्रव्रज्या पर्वत पर आरुढ हुए।

३६. सिंहवत् संसार में से निकलकर सिंहवत् चारित्र का पालन किया और साढेनव पूर्व का श्रुतज्ञान प्राप्त किया और आचार्य हुए।

३७. महाविदेह में इन्द्र के पूछने पर तीर्थंकर भगवंत ने कहा कि भरत क्षेत्र में निगोद का स्वरूप जाननेवाला (आर्यरक्षित)है।

३८. ऐसा सुनकर ब्राह्मण के रूप में इन्द्र जिस आचार्य को पूछता है कि हे भगवान मेरा आयुष्य कितना है आप प्रगटरूप में जानते हो तो बताओ।

३९. उसके बाद आचार्य ने आयुष्य का प्रमाण जानकर कहा कि आप शक्र हो, और निगोद जीवों की प्ररूपणा की।

४०-४१. तब प्रसन्न मनवाले इन्द्र ने जिस महातप सत्त्वशाली के तप की स्तुति की, और पक्षपात से सिद्धान्त में उसकी स्थापना की और प्राणियों को जो अक्षयपद (मोक्षपद)देने में अत्यन्त जिम्मेदार है, ऐसे पाप कर्मो को नाश करनेवाले आर्य रक्षितसूरि को मैं नमस्कार करता हूँ।

४२-४३. जगत् में जो भी जिन सिद्धान्त की सम्यग् देशना करनेवाले (सिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले)चारित्र गुण के सागर, नवपूर्व आदि जानकार (अन्य मती)हाथियों के लिए सिंह समान, जनमन को आनंद देने वाले जो भी सुगृहित नामधेय गुरु भगवंत हुए उन सभी का मुझे शरण हो।

४४. अज्ञानरूपी जल से प्रचुर संसारसागर में पड़े हुए प्राणी गणों को जिन्होने करुणा से जिनप्रवचन द्वारा जिनमत में स्थापित किये,

४५. शिलांगों का पालन करके, समग्र सिद्धान्तों के सार को चुनकर, जिन्होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४०० प्रकरणों की रचना करके कीर्ति को प्राप्त की,

४६. जिन्होंने जिनेश्वर के सिद्धान्त द्वारा यतियों की शुद्ध क्रिया की परूपणा की ऐसे हरिभद्रसूरीश्वर मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ !

४७. आचारांग की विचारणा के वचन (वृत्ति)रूपी चन्द्र से अज्ञान अंधकार को नाश करने वाले शीलांकाचार्य चन्द्र समान हैं।

४८. और जिनेश्वर के चरण-कमल में भ्रमर सम, और भवरूपी शत्रुओं को भय पैदा करानेवाले, जीवों को अभयदान देने वाले उस शीलांकाचार्य को नमस्कार करता हूँ।

४९. वीर जिनेश्वर के प्रशस्त तीर्थ में हुए और भव्य प्राणियों के लिए मनोहर, श्री वर्धमानसूरि को मैं वंदन करता हूँ।

५०-५१. अणहिलपुर पाटण में दुर्लभराजा की सभा में सिद्धान्त की युक्तियों से सुविहित मार्ग को प्रकट किया और अप्रतिबद्ध विहार से प्रतिपक्ष का घात किया ऐसे जिनेश्वरसूरि के चरणों में वंदन करता हूँ।

५२. यहाँ भी जिनेश्वर सूरि के मुख कमल में भ्रमर की तरह लीन हुए, ज्ञानगुण की लब्धी के धारक सिद्धान्त पराग (रहस्य)को जाननेवाले,

५३-५५. वीर जिनेश्वर के सिद्धान्तरूपी खजाने के रत्नों को जिन्होने पुनः प्रकाशित किये और अविवेकी प्राणियों को नवांगी वृत्ति का दान दिया, ज्ञान चारित्रशाली आगम के अभ्यासी कोई भी गुरु संप्रति गुण तुलना में उनके समान दिखते नहीं हैं, और वृत्तिकार्य से प्रख्यात ऐसे अभयदेवसूरि ने भव कूप में पड़े हुए प्राणिगणों को हस्तालंबन देकर उद्धार किया।

५८-५९. जो साधु सम्यक् प्रकार से सिद्धान्त को पढते हैं, जानते हैं, बोलते हैं, और समय पर सिद्धान्त को जानकर क्रिया करते हैं। काल आदि के स्थान भूत-भविजन को बोध देनेवाले, भव का नाश करनेवाले ऐसे ज्ञानी गुरुभगवंत के ज्ञान गुण को नमस्कार करता हूँ,

६०. जिन्होने स्वपक्ष और परपक्ष के बारे में देवगत मिथ्यात्व और गुरुगत मिथ्यात्व को सद्गुरु की प्राप्ति से छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त किया है।

६१. "निशंकित" आदि (सम्यक्त्व के)गुणरत्नों के लिए रोहणाचल समान और (सम्यक्त्व)के पाँच दोष को नाश करनेवाले, निरुपम सुखरूपी वृक्ष के बीज समान दर्शन गुण को नमस्कार करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२-६३. इर्यासमिति आदि पाँच, मन, वचन और कायगुप्ति आदि तीन, कुड्यंतर, वसति, इन्द्रिय, निषिधा, पूर्वकथा, पूर्व क्रीडा, स्निग्ध और परिमित आहार, विभूषणा से जिसकी अष्ट प्रवचन माता दूषित नहीं हुई है ऐसे शीवश्री (मोक्ष)के आश्रयभूत चारित्र को त्रिविधेन नमस्कार करता हूँ।

६४. जिसका बाह्य और आभ्यंतर तप दुष्कर विधान रूप है, जिनकी सिद्धान्तानुसारी क्रिया-प्रवृत्ति है उसको नमस्कार करता हूँ।

६५. जो जयणा से आहार, पानी, वस्त्र और वसति (उपाश्रय)को शुद्ध करके अपनी शक्ति को प्रगट करते हुए विचरते हैं उसको नमस्कार करता हूँ।

६६. ऐसे पंच प्रकार के आचार को आचरने वाले जो कोई आचार्य, उपाध्याय और साधु है, उनको नमस्कार करता हूँ।

६७. जीवादि नव-तत्त्व के भेद को जाननेवाले, उसका उपदेश देनेवाले और सिद्धान्तानुसार स्वयं आचार को पालन करनेवाले,

६८. जिनाज्ञा से गर्व और प्रमाद को त्याग करने वाले, अनवद्य निष्पाप बोलनेवाले, चरण-करण में प्रयत्नशील,

६९. स्थिर चित्त से पूर्वाचार्यों के आचार से सिद्धान्तसूत्रों को जानकर द्रव्य आदि के निरपेक्ष और सापेक्ष पक्षों को कहनेवाले,

७०. महासत्त्वशाली वे गुरु, प्राणियों के मार्ग में आये या नहीं ऐसा जानकर देशना देते हैं और मार्ग में स्थिर करते हैं।

७१. और वे (गुरु)दुर्जन के दुर्वचनों को सुनकर भी अपने दिल में नहीं रखते हैं, कठोर वचन सुनने पर भी दूसरों को कठोर वचन कहते नहीं,

७२. यद्यपि कभी प्रमादवश स्वयं आचरण नहीं कर पाते तो भी जिनवचन को यथास्थित रूप से प्ररूपित करते हैं,

७३. जिन गुरुभगवंतो ने परम करुणा से चतुरंग बल देकर मेरे सब कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट किये हैं,

७४. और सद्गुण संस्थित को भी उन्मार्ग से जो सन्मार्ग में लाते हैं, ऐसे श्री धर्मगुरु के वचन को मैं नमस्कार करता हूँ।

७५. इस तरह ''शुभ गुणसंस्तव सप्ततिका'' जो कोई पढता है उसको ''सोमचन्द्र'' अर्थात चन्द्र की ज्योत्स्ना की तरह भव भाखर के ताप को हर लेती है।

*****

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. सुयत्थव

निम्महिय-मोहमाएण कणयकाएण विगयराएण।
उवलद्ध -विमल-केवलनाणेण विसुद्धझाणेण।
लोयालोयं मुणिजण जेण तित्थप्पवत्तण-खणंमि।
चउविहं देव-विणिम्मियउ सरणे तिजयजियसरणे ॥ २ ॥
सरणागय-जणरक्खण खमविरइय पवर-वयण-लक्खेण।
सम्मं जिणवीरेणं भवदनीरेण धीरेण ॥ ३ ॥
सयमित्थ पसत्था जा पयासिया अत्थउ गणहरेहिं।
विहिया दुवालसंगी सपरेसि सुत्तउ विहिया ॥ ४ ॥
तत्थायारोरोविय पंच-विहायार-वत्थु-वित्थारो।
वित्थारिया मुणिगणि गणसारो संसारमवहरउ ॥ ५ ॥
सूयगड़ो सुत्तिय सुत्त-सियवड़ो पवर-वयण-फल-गमउ।
भवजलहि-पारगामी जसहइ सत्ताण पोउच्चा ॥ ६ ॥
नीसेण पयत्थाण ठाणं ठाण पहाणमिहनाणं।
वं देहं समवायं पड़िहय-संदेह-समवायं ॥ ७ ॥
तं नमह पंचमंगं जं नमिउं पंचमं गइं जीवो।
पावइ पाव खयाउ भगवइनामं च नामं च ॥ ८ ॥
नायाधम्मकहाउ कयभवविरहाउ निहयवाहाउ।
हरिसुल्लसंतपुलउ वंदेह मुवासगदसाउ ॥ ९ ॥
तह अंतगड़दसाउ अणुत्तरोवाइयाण दसाउ।
पण्हावागरणंगं जयइ जणे जणियभवंभंगं ॥ १० ॥
सुह-दुह-विवागसूयगमित्तोदसमं विवागसुयमंगं।
हयसेणदुट्ठ दिट्ठिप्पवाय सह दिट्ठिवायं च ॥ ११ ॥
उप्पायसुद्धमग्गेणियं च विरियाणुवायमिह तइयं।
अत्थिन्नत्थिपवायं नाणपवायं च पंचमयं ॥ १२ ॥
सच्चप्पवाय मायप्पवाय कम्मप्पवायमट्ठमयं।
पच्चक्खाणं विज्जाणु-वाय कल्लाणनामं च ॥ १३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तह पाणाउं किरिया-विसाल-मह लोग-बिंदुसारं च।
उवाइय रायपसेणइज्ज जीवाभिगम नामं ॥ १४ ॥
पण्णवणोवंग सूरचंदपण्णत्ति जंबूपण्णत्ति।
वंदामि निरियावलिया सुयखंधं चेह पंचण्हं ॥ १५ ॥
इह जे जिणवीरेणं सयं च पव्वाविया य सिक्खविया।
तेहिं कयाइं चउदस-सहसाणि पइण्णगाणं च ॥ १६ ॥
दसवेयालियमावस्सयं च तह ओह-पिंड-निज्जुत्तिं।
पज्जुसणकप्प व कप्पकप्प पणकप्प जियकप्पो ॥ १७ ॥
वंदे महानिसीहं उत्तरज्झयणे वायगकयाणि।
पसमरइ-पमुह-पयरण-पंचसयाइं महत्थाणि ॥ १८ ॥
जुगपवरागम हरिभद्दसूरि-रइयाणि चउदस-सयाणि।
सद्धम्म-सत्थ-मत्थयमणि-पयरण-पभिइ चित्ताणि ॥ १९ ॥
नंदिमणुओगदारप्पमुहं सुत्तं मित्थ सुमहत्थं।
अत्थि सुपसत्थ-वित्थर-भणण-समत्थं पसत्थं च ॥ २० ॥
आसज्जत मणवज्जं जुगपहाणागमेहिं सूरिहिं।
गुणगणभूरीहिं कयं वंदे तं पयरणाइं वि ॥ २१ ॥
जुगपवरगुरु-जिणेसरसूरीहिं अभयदेवसूरीहिं।
सिरि-जिणवल्लहसूरीहिं विरइयं जमिह तं वंदे ॥ २२ ॥
कलिकाल-कुमुइणी-वणसंकोयणकारि सूरकिरण व्व।
इह सुत्तासुत्त पयाव भासणुल्लासिणो जेसिं ॥ २३ ॥
ठाणट्ठाणट्ठियमग्ग नासि संदेहि मोहतिमिरहरा।
कुग्गहिवग्ग-कोसियकुल-कवलिय-लोयणा लोया ॥ २४ ॥
तेहिं पभासियं जंतं विहड़इ नेय घड़इ जुत्तीए।
वंदे सुत्तं सुत्ताणुसारि संसारि-भय-हरणं ॥ २५ ॥
गुरु गयणयल-पसाहण पत्तपहो पयड़ियासमदिसोहो।
हयसिवपहसंदेहो कय भव्वंभोरुहविबोहो ॥ २६ ॥
सूरू व्व सूरि जिणवल्लहो य जाउ जए जुगपवरो।
जिणदत्त गणहर पयं तप्पयपणयाण होइ फुडं ॥ २७ ॥

*** इति विश्रुतश्रुतस्तव समाप्तं ***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतस्तव (भाषान्तर)

श्लोक १. मोह और मान का मंथन करनेवाले वीतराग, विशुद्ध ध्यान से निर्मल केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाले, स्वर्णमय देह को धारण करनेवाले,

२. लोकालोक को जानकर तीर्थप्रवर्तन के समय पर चतुर्विध देवगण से निर्मित त्रिलोक शरण्य समोसरण में (विराजकर),

३. शरणागतजनों के रक्षण में समर्थ, प्रवचन के रचयिता और भवरूपी दावानल के लिए जल समान धीर ऐसे वीर जिनेश्वर,

४. स्वयं ने द्वादशांगी को अर्थ रूप में प्रकाशित की है- और गणधरों ने सूत्र से उसकी रचना की हैं,

५. उस द्वादशांगी में आचारांगसूत्र प्रथम है:- जिसमें पंच विध आचार का विस्तृत विचार समर्पित है, ऐसा मुनिगुणगण को प्रकाशित करनेवाला आचारांग सूत्र- उस भव (संसार)को दूर करो।

६. ग्रथित (सूत्रित)किये हुए सूत्रों के शितपट्ट वाला, श्रेष्ठ वचन रूपी फलकवाला, सूत्रकृतांग रूपी पोत प्राणियों को भवजलधि को पार कराने वाला हो।

७. समग्र पदार्थों के स्थानभूत प्रधानज्ञान और संदेहसमूह को नाश करनेवाले समवायांग को वंदन करता हूँ।

८. उस पंचम अंग को नमस्कार करो जिसको नमस्कार करके प्राणी पंचम गति प्राप्त करता है। पापक्षयकारी पंचम अंग का दूसरा नाम भगवती है।

९. ज्ञाताधर्मकथा भव विरह (मोक्ष)देनेवाला अंग है और उपासकदशांग को मैं हर्ष से पुलकित होकर नमस्कार करता हूँ।

१०. जगत् में भव भ्रमण का नाश करनेवाले अंतकृत्दशांग, अनुत्तरोपातिक दशांग और प्रश्नव्याकरण सूत्र जयवंत हैं।

११. सुख दुःख के विपाक को दर्शानेवाला विपाकसूत्र ग्यारहवाँ अंग है। और जहाँ पर दुष्टों की दृष्टि का प्रवाद नष्ट होता है ऐसे दृष्टिवाद को नमस्कार करता हूँ।

१२-१३. उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद यह तीसरा, अस्तिनास्तिप्रवाद और पांचवाँ ज्ञान प्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, आठवाँ कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद प्रवाद, कल्याण प्रवाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४-१५. प्राण प्रवाद, क्रिया विशाल प्रवाद, लोक बिन्दुसार प्रवाद (यह चौद पूर्व के नाम हैं) (अब उपांग के नाम बताते है) औपपातिक, राजप्रश्नीय, जिवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बू प्रज्ञप्ति, निरयावलिका यहाँ आदि पाँच श्रुतस्कन्ध है। (अर्थात् निर्यावलिका = पाँच उपांग, उनके नाम पुप्फिया, पुप्फवडंसिया, देविंदत्थओ और चंदाविज्जय)

१६. (प्रकीर्णक के नाम)वीर जिनेश्वर के हाथों से दिक्षित और शिक्षित स्थविरों ने चौदह हजार प्रकीर्णक की रचना की है।

१७. दशवैकालिक, आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिंड निर्युक्ति, पर्युषणकल्प, बृहद्कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प,

१८. महानिशीथ सूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र इन सब आचार्यकृत आगमों को वंदन करता हूँ। प्रशमरति आदि महाअर्थवाले पाँच सौ प्रकरण को वंदन करता हूँ।

१९. युगप्रधान हरिभद्रसूरि रचित चौदहसौ ग्रंथ शुद्ध धर्म प्ररूपक शास्त्र मस्तक पर मणियों की भांति आश्चर्यकारक हैं।

२०. नंदि और अनुयोगद्वार प्रमुख और महान् अर्थवाले हैं, ये सूत्र विस्तृत प्रशस्त अर्थ को कहने के लिए समर्थ और श्रेष्ठ हैं।

२१. गुणवान युगप्रधान आचार्यों द्वारा रचित अनवद्य प्रकरण को वन्दन करता हूँ।

२२. युगप्रधान और गुरुभगवंत जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि और श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा विरचित ग्रंथों को वंदन करता हूँ,

२३. जिसके सूत्र सूर्य किरणों की तरह कलिकालरूपी कुमुदिनि वन को संकुचित करनेवाले और सुसुप्त प्रजाजन को जागृत करनेवाले हैं।

२४. जगह-जगह मार्गनाशक संदेह और मोहरूपी अंधकार को हरनेवाले हैं, और कदाग्रहिरूपी उल्लुओं के लोचनप्रकाश को कवलित करनेवाले हैं।

२५. उन सूत्रों से जो प्रकाशित अर्थ है, वह युक्ति से भी टूटता नहीं है। इसलिए संसारभय को हरनेवाले (आगम)सूत्रों का अनुसरण करनेवाले (प्रकरण)सूत्र को वंदन करता हूँ।

२६. गुरु जनरूपी गगनतल के प्रसाद से (कृपा से)प्रभावक बने हुए और अपूर्व शोभा को प्राप्त करनेवाले, मोक्षमार्ग के संदेह को हरनेवाले, भव्यजनरूपी कमल को बोध करनेवाले,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. ऐसे जिनवल्लभसूरि बृहस्पति की तरह (प्रज्ञावान्) जगत् में युगप्रवर हुए। उनके चरणों में नमन करने वालो को जिनदत्त-जिनों का दिया हुआ-उत्तम पद प्राप्त हों।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. उस्सुत्तपओग्घाडणकुलयं

लिंगी जत्थ गिहि व्व देवनिलए निच्चं निवासी तयं,
सुत्तेऽणाययणं न तत्थ उ जओ नाणाइवुड्ढी भवे।
निस्सानिस्स जिणिंदमंदिरदुगं तल्लाभहेउं तयं,
सिद्धंतम्मि पसिद्धमेव तहवी खिसंति ही बालिसा॥ १॥
चेइयमढेसु जइवेसधारया निच्चमेव निवसंति।
तमणाययणं जइ सावगेहिं खलु वज्जणिज्जं ति॥ २॥
उस्सुत्तदेसणाकारएहिं केहिं तु वसइवासीहिं।
पंडिवोहिअसावयचेइयं पुमो होइऽणाययणं॥ ३॥
एयंमि हुस्सुत्तं पुण जुवइपवेसो निसाइ चेइहरे।
रयणीए जिणपइट्ठा ण्हाणं नेवेज्जदाणं च॥ ४॥
पूएइ मूलपडिमं पि साविया चिइनिवासि सम्मत्तं।
गब्भापहारकल्लाणगंपि न हु होइ वीरस्स॥ ५॥
कीरइ मासविहारोऽहुणावि साहूहिं नत्थि किर दोसो।
पुरिसित्थीओ पडिमा हवंति (वहंति) तत्थाइमा चउरो॥ ६॥
कंडुयसंगरियाओ न हुंति विदलंति विरुहगाऽणंतं।
न य सिंचियवेराइ सच्चित्तं सिंधवो दक्खा॥ ७॥
इरिआवहियं पडिकमिय जो जिणाईण पूयणाइ पुणो।
कुज्जा इरियं पडिकमिय कुणइ कीकम्मदाणाइं॥ ८॥
विधिचेइयनामं पि हु न जुत्तमेयं जमागमेणुत्तं।
निस्साकडाइ जिणचेइयाइं लिंगीहि विजुयाइं॥ ९॥
तित्तियमित्तं कुज्जा जित्तियमित्तं जलाइ भुंजिज्जा।
अजियजलाहारगिही पाणागारे समुच्चरइ॥ १०॥
उग्गए सूरे सूरुग्गमे य भणियम्मि नत्थि किर दोसो।
एगजुगे जुगपवरा दस पंच हवंति न हु एगो॥ ११॥
वत्तीसं देविंदा चउसट्ठी नेय हुंति जिणपयडा।
पूया अट्ठवियप्पा पाससुपासा न नवतिफणा॥ १२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खीरधएहिं ण्हाणं जिणपडिमाणं न काउं जुत्तमिणं।
दव्वत्थओत्तिकाउं गिहीणमुचिआ जिणपइट्ठा ॥ १३ ॥
कत्तियऽमावासाए पच्छिमरयणीएँ वीरपडिमाए।
कीरइ ण्हाणं पूया वाइयमहनट्टगीयं च ॥ १४ ॥
लइडारासो वि दिज्जइ विहिजिणभवणम्मि सावएहिं पि।
सासणसुराणमंदोलणं च तत्थेव जलकीलं ॥ १५ ॥
माहे मालारोवणमिह कीरंतं च साहए सिद्धिं।
मालग्गहणे ण्हाणे जिणाण रयणीएँ को दोसो ? ॥ १६ ॥
ण्हवणयरसिहाबंधो मुद्दाकलसेसु वासखेवाइ।
सूरी विणा पइट्ठं कुणइ य उस्सुत्तमाईयं ॥ १७ ॥
गिहिणोऽवि दिसाबंधो कीरंतो धम्मसाहगो होइ।
चेइवसइनिवासी वि साहुवेसट्ठिया पूज्जा ॥ १८ ॥
जिणबिंबमणाययणं न होइ निवसंति ते जहिं स मढो।
सो सुविहियसाहूहिं परिहरणिज्जो न य गिहीहिं ॥ १९ ॥
मेरुगिरिम्मि तियसाहिवेहिं जिणजम्मण्हाणमवि करियं।
आरत्तियमुत्तारिय मंगलदीवं कयं नट्टं ॥ २० ॥
आरत्तियमेगजिणिंदपडिमपुरओ कयं न निम्मल्लं।
परिहाविज्ज्इ जेणं वत्थेणं तमवि निम्मल्लं ॥ २१ ॥
आरत्तियमुवरिजलं भामिज्ज्इ तह पयत्तओ पूअं।
तम्मि य जमुत्तरंते तदुवरि कुसुमंजलिक्खेवो ॥ २२ ॥
आरत्तियं धरिज्ज्इ जयंतरालेऽवि उत्तरंतं तु।
कीरइं नट्टं गीयं वाइयमुवगीयं नट्टं च ॥ २३ ॥
जिणपुरओऽवि फलक्खयपमुहं जं ढोइयं तु पूयट्ठा।
तमवि न कप्पइ निम्मल्लमित्थं काउं पुणो दाउं ॥ २४ ॥
कप्पइ न लिंगिदव्वं विहिजिणभवणम्मि सव्वहा दाउं।
सासणसुराण पूया नो कायव्वा सुदिट्ठीहिं ॥ २५ ॥
पव्वज्जागहणुट्ठावणाइनंदीवि कीरइ निसाए।
नेमिविवाहक्खाडयरहचलणा-राइमइसोगो ॥ २६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धंतसुत्तजुत्तीहिं जमिह गीयत्थसूरिमायरियं।
न कुणंति तं पमाणं पयडंति य समयमाहप्पं ॥ २७ ॥
पुत्तिं त्रिणावि गिहिणो कुणंति चेलंचलेण किइकम्मं।
पाउरणेणं खंधे कहण जइणो परिभमन्ति ॥ २८ ॥
कुगुरुकयपारतंता सुत्तुत्तं विसयमवि यऽयाणंता।
विहिपडिकूला संतो जं मुणसु तमुसुत्तं ॥ २९ ॥
गणणाईया लोया उस्सुत्ताणं निदंसिया समए।
इह जे **जिणदत्ता**णं मन्नंति कुणंति ताणि न ते ॥ ३० ॥

इत्युत्सूत्रपदोद्घाटनकुलकं कृतं श्रीजिनदत्तेन ॥

उत्सूत्रपदोद्घाटनकुलक (भाषान्तर)

श्लोक १. जहाँ पर देवमन्दिर में गृहस्थ की तरह वेषधारी साधु निवास करते हैं उसको सूत्र में देवमन्दिर नहीं कहा क्योंकि अनायतन में ज्ञानवृद्धि नहीं होती। निश्राकृत और अनिश्राकृत मन्दिर लाभ के हेतु हैं। सिद्धान्त में भी प्रसिद्ध है फिर भी बालजीव गृहा करते हैं।

२. जिन-चैत्य और मठों में यतिवेषधारी निवास करते हैं उसका निश्चय ही श्रावकों को त्याग करना चाहिये।

३. उत्सूत्रदेशना के द्वारा वसतीवासी साधु श्रावकों को प्रतिबोध करे तो वह चैत्य अनायतन होता है।

४. रात्रि में युवतियों का चैत्यप्रवेश, जिनप्रतिष्ठा, स्नान करना, नैवेद्यदान यह सब उत्सूत्र हैं।

५. श्रावक चैत्यवासी मूल प्रतिमा को पूजते हैं और वीर जिनेश्वर का गर्भापहरण कल्याणक नहीं होता है।

६. अभी भी साधुओं के मासकल्प विहार में दोष नहीं है। श्रावक और श्राविकाएँ प्रतिमा वहन करते हैं। इसमें चार प्रतिमाएँ हैं।

७. (कंडुक संगरिका)कडुय सागरिया द्विदल नहीं होती है, ऐसा कहनेवाले अनंत काय के विराधक होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. ईर्यापथि को पढकर जिनेश्वर का पूजन आदि करते हैं। और ईर्यापथिकी पढ़कर ही दान आदि कर्म करते हैं।

९. विधि चैत्य नाम भी युक्त नहीं है। क्योंकि आगम में कहा कि लिगिंयों को निश्राकृत जिनचैत्य सहित (युक्त)

१०. जितनी मात्रा में जल का उपभोग हो सकता है उतना ही जल आदि का उपभोग करना चाहिए। अचित्त जलाहारवाला गृहस्थ पानी का आगार रखता है।

११. 'उग्गेसूरे' या 'सूरेउग्गे' बोले तो कोई दोष नहीं है। एक युग और युगप्रवर इन शब्दों से दश या पांच अर्थ होता है, एक नहीं।

१२. इन्द्र बत्तीस होते हैं चौसठ (६४) नहीं। जिनेश्वर की पूजा अष्टप्रकारी होती है। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के नवतिफणा* नहीं होती हैं। [नवति का अर्थ-(९०, २७)अथवा (९,३ नव, तीन)]

१३. जिनप्रतिमाओं को क्षीर, घृत से स्नान उचित नहीं है। जिनप्रतिष्ठा द्रव्यस्त्व है, इसलिए गृहस्थ को उचित है।

१४. कार्तिक अमावास्या की पश्चिम रात्रि में वीर प्रतिमा को स्नान पूजा होती है। वाजिंत्र, नृत्य और गीत होते हैं।

१५. विधि चैत्य में (जिन भवन में)श्रावकों द्वारा लकुडारास (डांडियारास)किया जाता है। और शासनदेव को दोला (हिचका)दिया जाता है और जल क्रीडा की जाती है।

१६. माघ में मालारोपण करने वाला सिद्धि को (साह् का अर्थ करता या कहता है)प्राप्त करता है। रात्रि में मालाग्रहण से जिनस्नात्र में कौनसा दोष होता है ?

१७. स्नात्रकार के द्वारा शीखाबन्ध, मुद्राकलश में वासक्षेप और आचार्य के बिना प्रतिष्ठा उत्सूत्र है।

१८. गृहस्थ को भी दिशाबन्ध करनेवाला चैत्यवासी भी धर्मसाधक होता है। और साधुवेष में रहे हुए वे चैत्यवासी भी पूज्य हैं।

१९. जिनबिंब अनायतन नहीं होता है। वे (द्रव्यलिंगि) जहाँ रहते हैं उसको मठ कहते है, ऐसे मठवासी को सुविहित साधु छोड़ देते हैं, लेकिन गृहस्थ नहीं छोड़ते।

---

*टिप्पण :- विचारसागग्रंथ के अनुसार :- पार्श्वनाथ के नव, सात और पाँच फण और सुपार्श्वनाथ के तीन और पाँच फण होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. मेरु पर्वत पर इन्द्रों जिनजन्म स्नात्र (जन्मोत्सव)किया और आरती, मंगल दीपक उतारा और नृत्य किया।

२१. जिनप्रतिमा के आगे एक आरती की वह निर्माल्य नहीं है। जो वस्त्र पहनकर आरती उतारी जाती है, वह वस्त्र भी निर्माल्य हो जाता है।

२२. आरती के उपर पानी घुमाया जाता है तथा आरती की पूजा की जाती है। जब आरती उतारते है तब पुष्पक्षेप किया जाता है।

२३. जब आरती उतारते है तब उसको रोककर गीत, उपगीत, नृत्य, नाटक किया जाता है।

२४. जिनेश्वर के आगे फल, अक्षत वगैरह जो पूजा के लिए रखे जाते हैं उसको भी निर्माल्य नहीं करते, दुबारा नहीं दे सकते।

२५. विधि जिनभवन में लिंगि द्रव्य (साधु का द्रव्य)नहीं देना चाहिये। और सम्यक् दृष्टि श्रावक को जिनभवन में शासनदेव की पूजा नहीं करनी चाहिए।

२६. प्रव्रज्या ग्रहण, अनुष्ठान आदि में नंदी की रचना रात्रि में नहीं की जा सकती है। नेमि विवाह, अखाड़ा का वर्णन, रथचलन, राजीमतीशोक (जिनभवन में वर्णित नहीं किया जाता हैं।)

२७. यहाँ पर गीतार्थ आचार्यों ने सिद्धान्तसूत्रों के आधार पर जो कुछ भी आचरण किया उसको प्रमाण नहीं करते और समय के प्रभाव को प्रगट करते हैं।

२८. गृहस्थ लोग मुहपत्ती बिना सिर्फ वस्त्र के आँचल से कृतिकर्म करते हैं। और कंधे पर पागरणी (साधु लोग उपाश्रय में छोटी चादर ओढते है उसे पागरणी कहते है)रखकर साधु घूमते हैं।

२९. कुगुरु के पारतन्त्र्यवाले, सूत्रार्थ के विषय को नहीं जाननेवाले, जो साधु विधि के प्रतिकूल करते हैं, उसको उत्सूत्र जानना।

३०. जो जिनदत्त आज्ञा (अथवा जिन द्वारा दी गइ आज्ञा) मानते हैं वे शास्त्रों में जिसे उत्सूत्र कहा गया है ऐसा आचरण नहीं करते हैं।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. वाडिकुलयं

भवकारागारगयं भव्वजणं लोहसंकलावडियं
जो मोयाविए ठाइ परमपए जयइ सो वीरो ॥ १ ॥
वाडीउ सत्त जाणसु जाओ रक्खंति पवयणारामं
चउरंग संघ-गुरु-साहिसंगयं सुट्ठु-नट्ठ-भयं ॥ २ ॥
भन्नइ दुवालसंगी वि पयरणं सुदिट्ठीहिं
कीरइ जत्थ गएहिं निव्वुइ-नयरंमि भव्वेहिं ॥ ३ ॥
जो कुणइ दंत-भंगं समयाणमिहऽन्नतित्थि-हत्थीणं
सव्वुत्तमो य सेलो सालसमो चलइ सो वि कहं ॥ ४ ॥
मूले सिलाहिं बद्धो तदुवरि पक्किट्ठ-निम्मिओ सालो
रक्खंती सा दुइया कयाइ तब्भंग-संभवओ ॥ ५ ॥
पक्किट्ठाहिं विहिओ पायारो खाइयं विणा तइया
एसुत्तमा जहन्ना परतित्थि-गयाण जं गम्मा ॥ ६ ॥
कच्चिट्ठाहिं विहिओ सालो तं चेव रक्खइ चउत्थी
एसा वि होइ जं मज्झिमोत्तमा भिज्जइ जडेहिं ॥ ७ ॥
चिक्कण-चिक्खलकया खंव(?वंद)लिया सा विरक्खाइ तयं पि
हवइ हु जहन्न-मज्झंमि उत्तमा जमिह जडगम्मा ॥ ८ ॥
बहु कट्ठेहिं विहिया रक्खइ छट्ठी वि सिसुपसूहिंतो
दुव्वयण-वण्हिणा सा डज्झंती तंपि निद्दहइ ॥ ९ ॥
किंकिरि वेरी ज्झंखरय साहिया सत्तमी जहन्नेसा
सगुणतणुऽछेकरी सकंटया डहइ डज्झंती ॥ १० ॥
सव्वुत्तम-वाडि-समा तित्थयरा सूरिणो जुगप्पवरा
पलय-समए वि न चलंति ते वि सेल व्व सट्ठाणा ॥ ११ ॥

---

५. यहाँ साधुओं का संदर्भ हैं इसलिये सुरीवरसम = (अर्थात् श्रेष्ठ आचार्य समान)पद होना चाहिये।

६. यहाँ ''जिनदत्त'' शब्द से ग्रंथाकार का नाम सुचित किया गया हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मत्थिणो तदन्नेवि सूरिणो जे ठिया तदाणाए
ते सुसिलिट्ठा सालोवमा य दुइयानगयस्सग्गे (?)॥ १२ ॥
सग्गइव नाय वण्हिणा जेसि नो मइं पक्का
ते कविट्ठासालऽत्थाणीया, वायणायरिया [मुणिअव्वा] ॥ १३॥
जे रायणिया थेरा पवत्तया ते वि पक्कखंधसमा
भिज्जंति घणजलेहिं कयावि तं ते न रक्खंति ॥ १४ ॥
सामन्न-साहुओ साहुणी वि गुरुरक्खगं विणा ते वि
दुव्वयण-हुयासेणं डज्झंता कट्ठवाडिसमा ॥ १५ ॥
तं कंटय-वाडिसमा नाम जई नामसावया
जे उ तं-मज्झगओ छुट्टइ साहारतरु व्व साहारो ॥ १६ ॥
जह सो तीए कंटय-वाडिए विरहिए लहइ न सुहं
सुहफलं जणउ तह सुगुरु वि नो निव्वुइमुवेइ ॥ १७ ॥
अविसाई अपमाई साहासहिओ य सुविहिओ संतो
निव्वुइ-कर-दित्तुवएस-वर-फलो रहइ सुगुरू तरू ॥ १८ ॥
केनावि न खंडिज्जइ नो छिज्जइ भिज्जइ न खज्जइ य
संतावागमकए तच्छायं सेवए लोओ ॥ १९ ॥
घणकंटयावि वाडी कारिज्जा जेण मुल्लमवि दाउं
सधणस्स रक्खणाकय(एहिं)रक्खिज्जइ सा वि जत्तेण ॥ २० ॥
तम्मज्झगओ वि जणो अप्पाणं रक्खए पयत्तेण
जो इह सुहत्थी सो सगुणच्छेयं पि रक्खंतो ॥ २१ ॥
जो तमवि भज्जमाणं न वारए परजणेहिं सो दुहिओ
होइ लहुं परगम्मो हम्मइ पसुणा वि तेणेह ॥ २२ ॥
ता दुस्सहावि वाडी सकंटया रक्खिया सुहं जणइ
जो तमुवेहइ सो होइ नो सुही सुरवरसमो वि ॥ २३ ॥
*इय **जिणदत्तु**वएसेण जे उ वाडीउ सत्तयं सत्ता*
जाणिय सेवंति तयं कहंति ते निव्वुइं जंति ॥ २४ ॥

॥ वाडिकुलकं ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाडिकुलक (भाषान्तर)

१. भवरूपी काराग्रह में केदी बने हुए, लोभरूपी [१] लोह श्रृंखला में बंधे हुए, भव्यजनों को जो मुक्त करके परम पद में स्थापित करते हैं वे वीरजिन की जय हो।

२. चतुर्विध संघ और गुरुरूपी सात प्रकार की वाड़ को देखिये, जो जिनप्रवचनरूपी उद्यान की रक्षा करती हैं। उद्यान में बड़े बड़े वृक्ष लगे हुए है, और जिस प्रवचन से भयों का नाश होता है।

३. प्रवचन को द्वादशांगी भी कहते हैं, जहाँ आये हुए सम्यक् दृष्टिवंत भव्य जीव निवृत्तिनगर में प्रचरण करते हैं। (निवृत्तिनगर की ओर चल पड़ते हैं।)

४. जो प्रवचन (अन्य मतोरूपी)मदोन्मत्त हाथियों का दंत भंग करता है, वह किला समान प्रवचन कैसे चलायमान होगा ? जो सर्वश्रेष्ठ आत्माओं के लिये पर्वत समान हैं।

५. जिसकी निंव शिलाओं से रखी गयी हैं, और इसके उपर पक्की हुई ईटों से किला बनाया गया है, उसका भी भंग कभी हो सकता है, इसलिये दूसरी वाड़ उसकी रक्षा करती है।

६. पक्की हुई ईटों से बना हुआ किला खाई के बिना भंग होना संभव है, इस लिये खाई तीसरी वाड़ है, जो परतीर्थी रूपी हाथियों से उपद्रवित हो सकती है, इसलिये ये जघन्य वाड़ हैं।

७. चोथी वाड़ कच्ची ईटों से बना हुआ किला है, यह वाड़ जडत्व [२] रूपी पानी से भेदित हो सकती है, इसलिये ये वाड़ मध्यम-उत्तमा हैं।

८. चिकने कादव से बनी हुई वह प्रवचन को (वंदलिया)[३] नाला भी उसका रक्षण करती है, यह जघन्य वाड़ जड़ गम्य और जलगम्य होने के कारण जघन्य मध्यम वालों की श्रेणी में उत्तम है।

---

१. लोह = १. लोहा, २. लोभ

२. जड़ = अज्ञानी और पानी। **डलयो एक्यम्** इस सिद्धान्त से संस्कृत में लकार का डकार हुआ है। जल = जड़

३. वंदलिया = नाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. काष्ठ और कांटों से बनी हुई छठ्ठी वाड़ (अज्ञानी)बालजीवोंरूपी पशुओं से बचाती हैं, यह वाड़ दुर्वचनोंरूपी अग्नि से जलती हुई उसको भी जलाती है।

१०. कंकर वेरी.....झंडि से बनी हुई यह सातवी वाड़ जघन्य है, कंटकयुक्त होने के कारण आत्मगुणरूपी शरीर में छेद करनेवाली है, स्वयं जलती है और जलाती हैं।

११. सात वाड़ो का उपनय =

तीर्थंकर, युगप्रधान आचार्य ये दो सर्वश्रेष्ठ वाड़ समान हैं। जो पर्वत की भांति प्रलयकाल में भी अपने स्थान से चलायमान नहीं होते हैं।

१२. अन्य भी जो धर्माचार्य उनकी आज्ञा में रहते हैं, वे गड़े हुए किले की तरह है।....(?)

१३. जिसकी मति वादरूपी वहिनसे सग्गई [४](?)....अपरिपक्व है, वे वाचनाचार्य कपित्थ वृक्ष के समान हैं।

१४. जो रत्नाधिक प्रवर्तक स्थविर है, वह पेड़की पक्की हुई शाखा के समान हैं, वे कभी भारी अज्ञानी जीवों से छेदे जाते हैं, वे प्रवचन का रक्षण नहीं कर सकते।

१५-१६. सामान्य साधु-साध्वी दुर्वचनों रूपी अग्नि से गुरुरूपी रक्षक के बिना जलाये जाते हैं। वे लकड़ी की वाड़ समान है। जो नामधारी साधु और श्रावक कंटक वाड़ समान है, उसकी एक शाखा के अंदर रहे हुए दूसरी शाखा छूट जाती है। (छुटइ = अलग हो जाती है)

१७. यथा इस कंटक वाड़ी के बिना वृक्ष सुख (शुभ)फल प्राप्त नहीं करते हैं, इसी तरह शुभ फल के जनक सुगुरु भी निवृत्ति को नहीं पाते हैं। (इसी तरह गुरु को भी संरक्षक रूपी वाड़ होनी चाहिये।)

१८. प्रसन्न चित्त, अप्रमत्त, सुविहित, शांत और शिष्य परम्परा से युक्त सद्गुरु रूपी वृक्ष, निवृत्तिदायक उपदेश स्वरूप श्रेष्ठ फल देनेवाले होते हैं।

१९. ऐसे सद्गुरु रूपी वृक्ष किसी से भी खंडित नहीं होते हैं, काटे नहीं जाते है, छेदे नहीं जाते हैं, नष्ट नहीं किये जाते हैं, क्षय नहीं किये जाते हैं। इसलिये लोग संताप दूर करने के लिये उसकी छाया का सेवन करते हैं, अर्थात् सद्गुरु की निश्रा प्राप्त करते हैं।

२०. इसलिये मूल्य देकर भी कंटको की गहरी वाड़ करनी चाहिये और निजधन (संयमधन)की रक्षा के लिये प्रयत्नपूर्वक उस वाड़ी का रक्षण करना चाहिए।

---

४. सग्गई = सद्गति, स्वगति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. क्योंकि वाड़ के मध्यमें रहा हुआ साधुजन प्रयत्नपूर्वक आपको बचाता है, जो यहाँ (सुख का अर्थी)सुखार्थी वह निजगुण में रहे हुए छिद्र को भी बचाता है, (छिद्र को दूर करता है)

२२. जो अन्य लोगों से काटी जाने वाली वाड़ को बचाता नहीं है, वह अन्यों से आक्रान्त होकर (परगम्य)जल्दी से दुःखी होता है। और पशु से भी (दुर्जनों से भी)नष्ट होता है।

२३. इसलिये दुःसह्य रखी हुई कंटक वाड़ सुख/शुभ (सुह)देने वाली है, उसकी उपेक्षा करनेवाला इन्द्रसमान होने पर भी सुखी और शुभवान् नहीं होता है।

२४. इस तरह जिनदत्त उपदेश से (आचार्य जिनदत्त के उपदेश से अथवा जिनों द्वारा दिये गये उपदेश से) जो प्राणीगण इन सात वाड़ो को जानकर सेवन करते है, उसका उपदेश देते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. श्री अजितशान्तिजिनस्तवनम्।

शक्रः सहस्रनयनोऽपि गुणावसानं
द्रष्टुं क्षमोऽस्ति न ययोर्जगदेकपत्त्योः
वाचस्पतिप्रभृतयोऽपि ययोरशेषान्
वक्तुं गुणानिह नहि प्रभविष्णवः स्युः ॥ १ ॥
स्तोतुं तयोर्जडमतिः किमहं क्षमोऽस्मि
निर्मेरनिर्मलगुणानसमानशेषान्।
त्वत्पादकम्पितफलप्रदपादप्राप्तेः
पूर्वं प्रसूनमिति भाविफलं तदग्रे ॥ २ ॥
अजितमजितं रागेणागःप्रणाशनपण्डितं
स्फुटमनिकटीभूतः श्रीणां स यो न विनौति तम्।
सुरजनबन्धूनेत्रानन्दक्षणक्षणदाकरं
करणवशगो न स्वं नान्यं प्रवेत्ति स मूढधीः ॥ ३ ॥
विनमदमरराजीमौलिमालाग्रभाग-
प्रवरमरकतालीभृङ्गसंसर्गशोभि।
यदमलपदपद्मद्वन्द्वमद्वन्द्वन्द्यं
प्रतिदिनमनवद्यं मौलिनाऽहं वहामि ॥ ४ ॥
जिनवरमजितं करोमि भक्त्या
कृतकृतिविनुतिं कृपाकृपाणी।
कृतकुमतभिदं हृदन्तराले
नयविनययुतोऽहमेव देवम् ॥ ५ ॥
वन्दे शान्तिं दत्तविश्वैकशान्तिं
भ्रान्तं भूयस्तैर्न यैराश्रितोऽसौ।
संसारेऽस्मिन् दुर्निवारान्तरारि-
च्छेदच्छेकं मूर्तिमत्कल्पवृक्षम् ॥ ६ ॥
कासश्वासाङ्गहृासादशननखमुखाक्षिक्षयग्रन्थिशोषा-
तीसारश्लेष्मापित्तज्वरपवनकटीककण्ठविष्टाग्रहाश्च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्वालावालेयलूताश्रवणजठरजाऽपानकुष्टाङ्गदाहा-
न स्युस्तस्यामया योऽजितमतिविनयान्नौति शान्तिं च भक्त्या ॥ ७ ॥
तृष्णोष्णे न पयो न मारिरपि न द्वीपी न दन्ती च नो
सिंहो न ज्वलनो न पन्नगभवा भीतिर्न भूतास्तु न ।
शाकिन्यो न विनायका न तु विषं नारातयो नाजयो
न क्षेत्राधिपगोत्रपाः प्रतिभयं कुर्वन्ति तोस्तौति यः ॥ ८ ॥
यज्जन्मस्नात्रकृत्यक्षणमिलदमरश्रेणिराजैः सहर्षं
कुम्भैः सच्छातकुम्भैरमृतघृतपयः पूरपूर्णैरपूर्णम् ।
स्वणाद्रौ कर्ममुद्राभिदभिमतपदप्राप्तुमेवाप्तकामैः
स्नात्रं चित्रं पवित्रं निजनिजपरिषत्सङ्गतैः संव्यधायि ॥ ९ ॥
स्नात्रं विधाय विधिना सुकृतार्थता नः
स्वर्गाधिपत्यपदवी सुरता च नीताः ।
इत्थं प्रमोदभरनिर्भरभाज्यमान-
गात्रा मुदा ननृतुरिन्द्रगणाः सदाराः ॥ १० ॥
शुचिसमयसमुत्थस्थूलकालाम्बुदाली-
स्तनितमधरयन्तो ध्वानतः किञ्चिदुच्चैः ।
मदमलिनकपोलालीनमत्तालिमाल-
द्विरदपतितुरङ्गक्काणमेके च चक्रुः ॥ ११ ॥
उत्फुल्ललोचनलसल्लधुलास्यलीला-
सस्मेरसस्मरमुखप्रजिताब्जभासः ।
पीनोन्नतस्तनभरैर्विनताङ्गभागा-
श्चञ्चद्वलित्रयविराजिततुच्छमध्याः ॥ १२ ॥
त्रिदशपतिपुरन्ध्र्यो हावभावाङ्गभङ्ग-
प्रभवकिरणकेलीकीलिताशेषलेखाः ।
यदतिरुचिररूपं प्रेक्षमाक्षेपवत्यः
सदृगभिनयनृत्यं यत्पुरो हीत्यकार्षीः (र्षुः) ॥ १३ ॥
अमानबाधारहितं जिनाजित-
ममानबाधारहितो जनोऽजितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनत्य शान्तिं भवतीरराजितं
विनत्य शान्तिर्भवतीरराजितः ॥ १४ ॥
इत्युद्दाममकामकामितफलान्यादातुकामः शमी
सानन्दं पठति स्तवं शमशठोऽकुण्ठः सदा कर्मठः ।
या व्याजेन विनाऽनयोस्स जिनयोः पक्षादिपर्वस्वमुं
स्वर्लब्ध्या **जिनदत्त**नम्रजनता शर्मास्तकर्मा भवेत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमदजितशान्तिजिनस्तवनम् ।[१]

---

१. 'जैन स्तोत्र सन्दोह' में से साभार उद्धृत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सर्वजिनस्तुति

शक्तो जिनस्तुति कृतौ न सुदेवसेव्यः
शक्रोऽपि कस्तदपरः प्रकरोति तास (?)।
यद्वा जिनस्तुतिकृतेः किल केवलश्री।
लाभो भवत्यपि वसावभवेन्न सेव्यं ॥ १ ॥

श्रीनाभिजातमजितं जिनसम्भवञ्च।
वन्देभिऽनन्दनजिनं सुमतिजिनेशं।
पद्मप्रभं शुभकृतेस्मिनतः सुपार्श्वं।
चन्द्रप्रभं च सुविधिं जिनशीतलञ्च ॥ २ ॥

श्रेयांसमीशमनघं जिनवासुपूज्यं।
भक्त्या नमामि विमलं जिनमर्घनन्तं।
धर्मं च शांतिजिनकुंथुमरिं च मल्लिं।
श्री सुव्रतं नमिजिनं च सनेमिपार्श्वं ॥ ३ ॥

वन्दे जिनं गुण गुरुंगुणवर्द्धमानं।
सुरिं जिनेश्वरमिहाभयदेवमेव।
याचेतनोतु जिनवल्लभमादरेण।
ज्ञानादिमेक **जिनदत्त**-हितं तु देहिं ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. श्री महावीर स्वामी स्तुति ॥

यदंहिनमतादेव,
देहिनः संति सुस्थिताः ।
तस्मै नमोस्तु वीराय,
सर्वविघ्नविघातिने ॥ १ ॥

सुरपतिनतचरणयुगान्,
नाभेयजिनादिजिनपति-
नौमि यद्वचनपालनपरा
जलांजलिं ददतु दुःखेभ्यः ॥ २ ॥

वदंति वृन्दारुगणाग्रतो जिनाः,
सदर्थतो यद्रचयंति सूत्रतः ।
गणाधिपास्तीर्थसमर्थनक्षणे,
तदंगिनामस्तुमतंनुमुक्तये ॥ ३ ॥

शक्रः सुरासुरवरैस्सहदेवताभिः,
सर्वज्ञशासनसुखायसमुद्यताभिः ।
श्रीवर्द्धमान**जिनदत्त**मत्तप्रवृत्तान्,
भव्यान जनान्नयतु नित्यममङ्गलेभ्यः ॥ ४ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. श्रीचक्रेश्वरीस्तोत्रम्

श्रीचक्रेश्वरि चक्रचुम्बितकरे चञ्चच्चलत्कुण्डला-
लंकारे कृतमस्तकोरुमुकुटे प्रैवेयकालंकृते ॥
स्फारोदारभुजाग्रभूषणकरे सन्नूपुरैर्बन्धुरे-
मातर्मन्ति नयं स्वमिष्टविनयं त्रायस्य संत्रासतः ॥ १ ॥

श्रीचक्रेश्वरी चन्द्रमण्डलमिव ध्वस्तांधकारोत्करं
भव्यप्राणिचकोरचुम्बितकरं संतापसंपद्धरं ।
सम्यग्दृष्टिसुखप्रदं सुविशदं कान्त्यास्पदं संपदां
पात्रं जीवमनः प्रसादजनकं भाति त्वदीयं मुखम् ॥ २ ॥

श्रीचक्रेश्वरी युष्मदाननरविं पश्यन्ति नैवोदितं
ध्वस्तध्वान्ततति प्रदत्तसुगतिं संप्राप्तमार्गस्थितिं ।
ते ज्ञेया इह कौशिका इव जना हेयाः सतां सर्वथा
नादेया कुदृशो भवन्ति भगवत्युच्चैःशिवं वांछतां ॥ ३ ॥

श्रीचक्रेश्वरी युष्मदंघ्रिचरितं सर्वत्र तद्विश्रुतं ।
कस्याज्ञस्य मनोमुदे भवति नो निष्पुण्यचूडामणेः ।
कारुण्यान्वितमंगिसंगतमतिभ्रान्तिप्रशांतांप्रियं
श्रीसंकेतगृहं सदास्तविरहं पुण्यानुबन्धि स्फुटम् ॥ ४ ॥

श्रीचक्रेश्वरी ये स्तुवन्ति भवतीं भव्या भवद्भक्तयः ।
श्रीसर्वज्ञपदारविन्दयुगले विश्राममातन्वतीम् ।
भृङ्गीवत्सदृशां सुखं त्वसदृशं संप्रार्थयन्तो जना-
स्ते स्युर्ध्वस्तविपत्तयः सुमतयः स्पष्टं जितारातयः ॥ ५ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीचक्रेश्वरि नित्यमेव भवतीनामाऽपि ये सादरं ।
सन्तः सत्यशमाश्रिताः प्रतिपदं सम्यक् स्मरन्ति स्फुरत् ।
तेषां किं दुरितानि यान्ति निकटे नायाति किं श्रीर्गृहे ।
नोपैति द्विषतां गणोऽपि विलयं नाऽभीष्टसिद्धिर्भवेत् ॥ ६ ॥

श्रीचक्रेश्वरि ये भवन्ति भवतीपादारविन्दाश्रिता-
सो भृङ्गा इव कामितार्थमधुनः पात्रं सदैवाङ्गिनः ।
जायन्ते जगति प्रतीतिभवनं भव्याः स्फुरत्कीर्तय-
स्तेषां क्वापि कदापि सा भवति नो दारिद्र्यमुद्रा गृहे ॥ ७ ॥

श्रीचक्रेश्वरि यः स्तवं तव करोत्युच्चैः स किं मानवः
कस्मादन्यजनाच्च याचत इह क्लेशैर्विमुक्ताशयः ।
कासश्वासशिरोगलग्रहकटीवातातिसारज्वर-
स्रोतोनेत्रगतामयैरपि न स श्रेयानिह प्रार्थते ॥ ८ ॥

श्रीचक्रेश्वरि शासनं जिनपतेस्तद्रक्षसि त्वं मुदा
ये केचिज्जिनभाषितान्यवितथान्युच्चैः प्रजल्पन्ति च ।
भव्यानां पुरतो हितानि कुरुषे तेषां तु तुष्टिं सदा
क्षुद्रोपद्रवविद्रवं प्रतिपदं कृत्वा कृतान्तादपि ॥ ९ ॥

श्रीचक्रेश्वरि विश्वविस्मयकरी त्वं कल्पवृक्षोपमा
धत्सेऽभीष्टफलानि यस्तुनिकृतिं दत्से विना संशयं ।
तेन त्वं विनुता मयाऽपि भवति मत्वेति सन्निश्चयं
कुर्याः श्री**जिनदत्त**भक्तिषु मनो मे सर्वदा सर्वथा ॥ १० ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. अपूर्णस्तोत्रस्य श्लोकत्रयी

इतोऽप्य भवदेवाख्यसूरेः श्री श्रुतसम्पदम् ।
समवाप्य ततो मत्वा चैत्यवासोऽस्ति पायकृत् ॥ १ ॥

श्रीमत्कूर्चपुरीय श्रीसूरिजिनेश्वरस्य शिष्येण ।
जिनवल्लभेन गणिना चैत्यनिवासः परित्यक्तः ॥ २ ॥

कृताङ्गि गणभद्रेण देवभद्रेण सूरिणा ।
श्री चित्रकूट दुर्गेऽस्मिन् सोऽपि सूरिपदे कृतः ॥ ३ ॥

(गणधर सार्द्धशतक, गा०८४-बृहद् वृत्तौ)

***

१०. सप्रभाव स्तोत्र

मम हरउ जरं मम हरउ विझरं डमरं डामरं हरउ ।
चोरारि-मारि-वाही हरउ ममं पास-तित्थयरो ॥ १ ॥

एगंतरं निच्चजरं वेल जरं तह य सीय-उण्ह-जरं ।
तईअ-जरं चउत्थ-जरं हरउ ममं पास-तित्थयरो ॥ २ ॥

जिणदत्तणापालणपरस्स संघस्स विहि-समग्गस्स ।
आरोग्गं सोहग्गं अपवग्गं कुणउ पास-जिणो ॥ ३ ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भग्रंथ सूचि
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

ग्रंथ और लेखक का नाम	*प्रकाशक*	*वर्ष*
अपभ्रंश काव्यत्रयी लालचंद भगवानदास गांधी	ओरियंटल इंस्टिट्यूट बड़ौदा	१९२७
आवस्सयं मूल सुत्तं सपा. मुनिदीपरत्नसागर	आगमश्रुत प्रकाशन अहमदाबाद	१९९६
उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति श्रीमद् भावविजयगणि विरचित वृत्ति	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	१९१८
उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक श्री जिनदत्तसूरि	आगमोदयसमिति सूरत	१९२७
ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह अगरचंदजी, भँवरलालजी नाहटा	शंकरदान शुभेराज नाहटा कलकत्ता	१९३८
ओघ निर्युक्ति-द्रोणाचार्यवृत्ति	श्री आगमोदयसमिति निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९१९
कथाकोष-प्रकरण मुनि जिनविजयजी	भारतीय विद्याभवन, बम्बई	१९३५
कर्मग्रंथ श्रीमद देवेन्द्रसूरिजी	रत्नप्रभावकरज्ञान पुष्पमाला, फलोदी	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खरतरगच्छ पट्टावली
मुनि जिनविजयजी
बाबू पूरणचन्द नाहर
कलकत्ता
१९३२

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि
मुनि जिनविजयजी
भारतीय विद्याभवन,
बम्बई
१९५६

गणधरसार्द्धशतक
जिनदत्तसूरि टीका. चारित्रसिंहगणि
निर्णयसागर प्रेस,
बम्बई
१९१६

गणधरसार्द्धशतक
जिनदत्तसूरि टीका. पद्ममंदिरगणि
जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार,
१९४४

चैत्यवंदन कुलकम्
जिनदत्तसूरि टीका. जिनकुशलसूरि
उपा. लब्धिगणि
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
१९२०

जैन स्तोत्र संदोहे (प्राचीन स्तोत्र संग्रह) प्रथम-भाग
साराभाई मणिलाल नवाब
नागजी भूधरनी पोल अहमदाबाद
१९३२

दशाश्रुतस्कंध मूल-निर्युक्ति चूर्णि
पन्यास मणिविजयगणि ग्रंथमाला
भावनगर
१९५५

नवपद बृहद्वृत्ति
श्री देवगुप्तसूरिजी टीका. यशोदेव उपाध्याय बृहद् वृत्तिम्
जीवनचंद्र साकरचंद
झवेरी
१९२७

प्रवचनसारोद्धार-भाग-१,
गुज. अनु.(श्री नेमिचन्द्रसूरि)
प. हिरालाल हंसराज जामनगरवाले
मोहनलाल गोविन्दजी
पालीताना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावक आचार्य सिंधी जैन ज्ञानपीठ
मुनि जिन विजयजी कलकत्ता १९४०

भैरवापद्मावतीकल्प जैन साहित्योद्धार ग्रंथावली
साराभाई मणिलाल नवाब अहमदाबाद १९३७

महानिसीह मूल सुत्तं- आगमश्रुत प्रकाशन
संपा. मुनि दीपरत्नसागर अहमदाबाद १९९६

महानिसीहसूत्र गुर्जरछाया आगम श्रुत प्रकाशन
संपा.-मुनि दीपरत्नसागर अहमदाबाद १९९७

संदेह दोलावली प्रकरण निर्णयसागर प्रेस
जिनदत्तसूरि टीका. प्रबोधचन्द्रगणि बम्बई १९१८

समराइच्चकहा एस्याटिक सोसायटी ओफ
हरिभद्रसूरि टीका. हर्षराज उपाध्याय बंगाल (कलकत्ता) १९२९

संदेह दोलावली हीरालाल हंसराज
जिनदत्तसूरि टीका. जयसागर उपाध्याय जामनगरवाले

संघपट्टक जिनदत्तसूरिज्ञान भंडार,
जिनवल्लभसूरि टीका. हर्षराज उपाध्याय सूरत १९४३

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी

ग्रंथ और लेखक का नाम	प्रकाशन	वर्ष
ओसवाल वंश सोहनराज भंसाली	कुशलम् जैन ग्रंथालय जोधपुर	१९९४
ओसवाल जाति का इतिहास सुखसम्पतराय भण्डारी	ओसवाल हिस्ट्री पब्लिशिंग भानपुरा (इन्दौर)	१९३४
खरतरगच्छ का आदिकालिन इतिहास महो. चन्द्रप्रभसागर	अखिल भारतीय जैन श्वे.खरतरगच्छ महासंघ, दिल्ली	१९९०
खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ, अगरचंदजी, भँवरलालजी नाहटा	जिनदत्तसूरि सेवासंघ, कलकत्ता	१९७४
कबीरदास के बीजक ग्रंथ मोतिलालजी, चेतनदासजी		१९५६
गणधरसार्द्धशतक जिनकृपाचंद्रसूरि	जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार, इन्दौर	
गुजरात का जैन धर्म मुनि जिनविजयजी	भारतीय विद्याभवन बम्बई	१९४९
चर्चर्यादिसंग्रह अनु. जिनहरिसागरसूरि	जिनदत्तसूरिज्ञान भण्डार सूरत	१९४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यवंदनकुलक वृत्ति जिनदत्तसूरि सेवासंघ
हिन्दी अनु. प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी कलकत्ता १९८८
म.सा.

जैन धर्म नो प्राचीन अने संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली जीवनलाल छगनलाल संघवी, पंच भाईनी पोल अहमदाबाद १९३५

जैन संस्कृति और राजस्थान सम्यक् ज्ञान प्रसारक मण्डल
डा. नरेन्द्र भानावत बापूनगर, जयपुर १९७५-७६

जैन साहित्य और इतिहास यशोधन मोदी संशोधित
नाथूराम प्रेमी साहित्यमाला, बम्बई-२ १९५६

जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप श्रीतारक गुरु जैन ग्रंथालय,
देवेन्द्रमुनि शास्त्री शास्त्री सर्कल,
उदयपुर १९८२

जैन काव्य दोहन सत्यविजय टंगप्रेस
मनसुखलाल मेहता अहमदाबाद- १९१३

दादा जिनदत्तसूरि चरित्र एवं पूजाविधि श्री आत्मप्रकाश जैन, लुधीयाना
दादावाडी जिनदत्तसूरि सेवासंघ १९९३
दिग्दर्शन-धर्मपाल जैन बम्बई

प्रबन्ध चिन्तामणि सिंधी जैन ग्रंथमाला
अनु. हजारीप्रसाद द्विवेदी अहम. कलकत्ता- १९३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास प्रभुदास मित्तल १९७७

भारत के प्राचीन राजवंश भाग-२ हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय
प. विश्वेश्वरनाथ रेउ बम्बई १९२०

भारतीय संस्कृति का इतिहास बनारसीदास
स्कन्दकुमार

भारतीय संस्कृति का इतिहास रस्तोगी एण्ड कम्पनी,
आचार्य चतुरसेन मेरठ १९५८

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास सरस्वती सदन, मसूरी
सत्यकेतु (यू.पी.) १९६०

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान मध्यप्रदेश शासन साहित्य
डा. हीरालाल जैन परिषद, भोपाल १९६२

महाजनवंश मुक्तावली निर्णयसागर
रामलालजी गणि प्रेस, बम्बई १९१०

मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति गंथ, अगरचंदजी, भँवरलालजी नाहटा मणिधारी अष्टम् शताब्दी समारोह समिति, नई दिल्ली १९७१

युगप्रधानजिनदत्तसूरि जगमोहनमलिकलेन
अगरचंदजी, भँवरलालजी नाहटा कलकत्ता- १९४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थानी साहित्य नी गौरवपूर्ण परम्परा
अगरचंदजी नाहटा
ओमप्रकाशन राधाकृष्ण
२, अंसारी रोड, दरियागंज,
दिल्ली १९७७

राजपूत राजवंश
डा. अवधबिहारीलाल अवस्थी
कैलाश प्रकाशन,
लखनउ १९७०

रासो साहित्य और पृथ्वीराज रासो
श्री नरोत्तमस्वामी
१९६३

रास और रासान्वयी काव्य
डा. दशरथ ओझा
नागरी प्रचारिणी सभा,
वाराणसी, १९६०

रासलीला एक परिचय
श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग
९१६५

राजस्थान का जैन साहित्य
अगरचंदजी नाहटा
प्राकृत भारती , जयपुर १९७५

वल्लभभारती
महो. विनयसागरजी
खर. जिनरंगसूरि उपाश्रय
घीवालो का रास्ता
जयपुर १९७५

-वस्तुपाल-प्रबन्ध
मुनि जिनविजयजी

-हमारी नाट्यपरम्परा
श्री कृष्णदास
साहित्यकार संसद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयाग १९५६

हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास
डा. दशरथ ओझा १९६१

हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा
रामचन्द्र शुक्ल काशी १९६३

हेमचन्द्राचार्य आदर्श ग्रंथमाला,
ईश्वरलाल जैन मूलतान शहर १९४१

हिन्दी साहित्य का आदिकाल बिहारी राष्ट्रभाषा
आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी परिषद पटना-३ १९५१

गुजराती

गुजरातनो प्राचीन इतिहास गुजरात युनिवर्सिटी
डा. हरिप्रसाद शास्त्री अहमदाबाद १९१६

गुजरात नो मध्यकालिन राजपूत इतिहास भाग-१, दुर्गाशंकर, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद
केवलराम शास्त्री १९३७

गुजरात साहित्य नी रूपरेखा रवाणी प्रकाशन गृह
डा. विजराज वैद्य अहमदाबाद १९६५

गुजराती साहित्यनु रेखा दर्शन
के. के. शास्त्री १९५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म नी प्राचीन अर्वाचीन स्थिति
बुद्धिसागर सूरिश्वर
आत्माराम ज्ञानप्रसारक मंडल, पादरा १९२८

जैन इतिहास नी झलक
मुनि जिनविजयजी
महावीर जैन विद्यालय बम्बई १९७८

जैन काव्य दोहन
मनसुखलाल मेहता
सत्यविजय प्रिन्टिंग प्रेस अहमदाबाद १९१३

मध्ययुगीन भारत खण्ड-१
डा. छोटुभाई र. नायक
गुजरात युनि. अहमदाबाद १९६७

मनुस्मृति
गुज.अनु.शंकरदत्त, पार्वतीशंकर
सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, बम्बई १९४३

मध्यकालना साहित्य प्रकारो
डा. चन्द्रकान्त मेहता
एन. एम. त्रिपाठी प्रा.लि. प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई-२ १९५८

भजन पद संग्रह भाग-४
योगशास्त्र बुद्धिसागरजी
अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल डायमंड जुबली प्रिन्टिंग प्रेस १९०९

हेमचन्द्राचार्य
गुज. अनु. केशरसूरिश्वरजी म.सा.
मुक्तिचन्द्रश्रमण आराधना ट्रस्ट, पालीताना १९३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्राद्धदिनकृत्यसूत्र (गुज. अनु.) जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर १९३०

संबोध प्रकरण जैन ग्रंथ प्रसारक
गुज. अनु. हरिभद्रसूरि सभा, अहमदाबाद १९४९

पाक्षीक-मासीक पत्रिकाएँ

कुशलनिर्देश संपा. अगरचंदजी नाहटा
भँवरलालजी नाहटा , कलकत्ता

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनदत्तसूरि दादावाडी, धोलका (गुजरात)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org